UGEC-102(N)

मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी व्यापार

परामर्श–समिति

प्रोफेसर सीमा सिंह	कुलपति–अध्यक्ष
प्रो. सत्यपाल तिवारी	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा– कार्यक्रम संयोजक
श्री विनय कुमार	कुलसचिव–सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो. सत्यपाल तिवारी	अध्यक्ष	उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ अनिल कुमार यादव	संयोजक	उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो.किरन सिंह		इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो. एम.के. सिंह		एम.जे.पी. रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली
डॉ. विश्वनाथ कुमार		एस.बी. पी.जी. कालेज, बड़ागाँव, वाराणसी
डॉ. अनूप कुमार		इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. अनिल कुमार यादव — सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., प्रयागराज

सम्पादक

डॉ. शील प्रिय त्रिपाठी — पूर्व प्राचार्य एवं प्रो. (अर्थशास्त्र) हेमवती नंदन बहुगुणा पी.जी. कालेज नैनी, प्रयागराज

परिमापक

डॉ. अनिल कुमार यादव — सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., प्रयागराज

लेखक मण्डल

लेखक

डॉ. अनिल कुमार यादव

सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., प्रयागराज

डॉ. अजय कुमार पाण्डेय

सहायक आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग

हण्डिया पी.जी. कालेज, हण्डिया, प्रयागराज

मुद्रित– (माह), (वर्ष)

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – (वर्ष)

ISBN-

सर्वाधिक सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से श्री विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, (माह) (वर्ष), (मुद्रक का नाम व पता)

UGEC-102 (N)
मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी व्यापार

खण्ड 1 – मुदा की अवधारणा एवं मुद्रा का मूल्य

1. मुद्रा की परिभाषा एवं मुद्रा के कार्य
2. फिशर का विनिमय समीकरण एवं क्रैम्ब्रिज समीकरण, मुद्रा परिमाण का सिद्धान्त (QTM)
3. कीन्स का मौलिक समीकरण एवं आधुनिक सिद्धान्त
4. मुद्रा स्फीति एवं अवस्फीति, स्फीति के प्रकार, स्फीति रोकने के उपाय
5. मंदी, अवसाद, आर्थिक मंदी

खण्ड 2 – मुद्रा की पूर्ति , मौद्रिक नीति एवं बैंकिंग

1. मुद्रा की पूर्ति एवं मौद्रिक नीति की अवधारणाएँ, मुद्रा गुणक
2. राजकोषीय नीति एवं निर्देशांक
3. व्यापारिक बैंक–अर्थ तथा कार्य, साख सृजन : उद्देश्य एवं सीमाएं, राष्ट्रीयकरण के बाद व्यापारिक बैंक की प्रगति
4. केन्द्रीय बैंक : अर्थ तथा कार्य
5. साख नियन्त्रण के तरीके : परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख नियन्त्रण
6. भारतीय मौद्रिक नीति

खण्ड 3 विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

1. विदेशी विनिमय बाजार, विनिमय दर का निर्धारण एवं विनिमय नियन्त्रण : आशय तथा उद्देश्य
2. क्रय शक्ति समता सिद्धान्त एवं भुगतान संतुलन सिद्धान्त
3. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त : निरपेक्ष लाभ एवं तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त, हेक्शर–ओहलिन का सिद्धान्त ।
4. व्यापार संतुलन एवं भुगतान संतुलन।
5. भुगतान संतुलन घाटा एवं असाम्य तथा साम्य हेतु विधियाँ।
6. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आर्थिक विकास में भूमिका

खण्ड 4– अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें

1. अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली
2. आई.एम.एफ., आई.बी. आर.डी.
3. अंकटाड, डब्ल्यू.टी.ओ., G20, ASEAN, SAARC
4. व्यापार संबन्धी बौद्धिक परिसंपदा अधिकार तथा व्यापार एवं सेवा संबन्धी करार।

UGEC-102 (N)
मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी व्यापार
(Money, Banking and Foreign Trade)

खण्ड– 01
मुद्रा की अवधारणा एवं मुद्रा का मूल्य

इकाई– 1
मुद्रा की परिभाषा एवं मुद्रा के कार्य
(Defination of Money and Functions of Money)

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 मुद्रा की परिभाषा
1.3 मुद्रा के कार्य
1.4 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्य
1.5 सारांश
1.6 बोध प्रश्न
1.7 शब्दावली
1.8 सन्दर्भ सूची

1.0 उद्देश्य

मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी व्यापार के इस खण्ड में मुद्रा की परिभाषा एवं मुद्रा के कार्यों का वर्णन किया गया है। इस इकाई के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य मुद्रा के स्पष्ट परिभाषा की जानकारी प्राप्त करने के साथ–साथ मुद्रा के समस्त कार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करना है। वस्तु विनिमय प्रणाली के पतन के बाद मुद्रा के आविष्कार एवं विकास से समस्त आर्थिक एवं अन्य क्रियाए सरल हो गयीं। ऐसे में मुद्रा का ज्ञान प्राप्त करना इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है।

1.1 प्रस्तावना

अंग्रेजी भाषा का शब्द 'Money' लैटिन भाषा के शब्द Moneta से बना है। कहा जाता है कि रोम में देवी जूनो के मन्दिर में मुद्रा बनाई जाती थी और देवी जूनो (Juno) को ही मोनेटा के नाम से पुकारा जाता था। इसके अतिरिक्त लैटिन भाषा में मुद्रा के लिए पैक्यूनियां शब्द का प्रयोग किया जाता है जो पैकस (Pecus) से बना है जिसका अर्थ है पशुधन। पुरातन सभ्यताओं में पशुओं को मुद्रा के रूप में काम में लेने की प्रथा अत्यधिक प्रचलित रही है। इस दृष्टि से मुद्रा शब्द बहुत पुराने समय से ही प्रचलित है। प्राचीन भारत में 'मुद्रा' शब्द का प्रयोग उस संकेत–चिन्ह या परिचय चिन्ह के रूप में किया जाता था जो राजा की ओर से किसी व्यक्ति को प्राप्त होता था। वर्तमान में भी मुद्रा पर सरकारी चिन्ह आवश्यक माना जाता है।

'मुद्रा' से तात्पर्य ऐसी वस्तु से है जिसे एक विस्तृत क्षेत्र में विनिमय–माध्यम, मूल्य–मापन, मूल्य–संचय और मूल्य हस्तान्तरण के साधन के रूप में सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो और जो सभी प्रकार के दायित्वों को निपटाने में सहायता करती हो। ऐसी वस्तु का स्वरूप कुछ भी हो सकता है। वास्तविकता यह है कि विभिन्न स्थानों पर तथा विभिन्न कालों में अलग–अलग वस्तुओं का प्रयोग मुद्रा के रूप में किया गया। मुद्रा का प्रारम्भिक रूप वस्तु–मुद्रा था। अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुएं, जैसे– पालतू जानवर, खालें, चमड़ा, अनाज, नमक, सीप तथा कौड़ी आदि मुद्रा के रूप में प्रयोग की गई। बाद में कुछ धातुएं व धातुओं के सिक्के मुद्रा के रूप में प्रयोग किए जाने लगे। धातु मुद्रा के बाद पत्र मुद्रा का क्रमिक विकास हुआ। वर्तमान युग में साख मुद्रा का व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा है। इस तरह,

मुद्रा वह वस्तु है जिसका प्रयोग जन–साधारण द्वारा वर्तमान तथा भावी भुगतानों के लिए किया जाता है तथा जिसे वैधानिक मान्यता प्राप्त होती है। 'मुद्रा' की परिधि में धात्विक सिक्कों, करेन्सी नोटों और मांग पर देय बैंक जमाओं को सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि इनमें 'सामान्य स्वीकृति का गुण पाया जाता है। ऐसी तरल परिसम्पत्तियां जिन्हें मुद्रा की तरह सामान्य स्वीकृति तो प्राप्त नहीं होती, लेकिन जिन्हें शीघ्रता एवं सुविधापूर्वक वास्तविक मुद्रा में बदला जा सकता है, 'निकट मुद्रा' कहलाती है। जैसे बैंकों में सावधि जमाएं, सरकारी प्रतिभूतियाँ एवं बॉण्ड्स, कोषागार विपत्र, ऋणपत्र, विनिमय प्रतिष्ठित कम्पनियों के शेयर्स आदि।

1.2 मुद्रा की परिभाषा

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को अलग–अलग दृष्टिकोण से परिभाषित किया है। उनके दृष्टिकोण निम्नवत् हैं–

1. मुद्रा की प्रकृति पर आधारित परिभाषाएँ, और
2. आर्थिक विचार–धाराओं पर आधारित परिभाषाएँ

1. मुद्रा की प्रकृति पर आधारित परिभाषाएँ– मुद्रा की प्रकृति पर आधारित परिभाषाएँ तीन वर्गों में बाँटी जा सकती हैं।

(क) क्रियात्मक अथवा वर्णनात्मक परिभाषाएँ (Functional or Descriptive Definitions)

सामान्य रूप में ये परिभाषाएँ मुद्रा के कार्यों के वर्णन पर आधारित हैं। हार्टले वीदर्स, टॉमस, सिजविक आदि की परिभाषाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। **हार्टले विदर्स** के अनुसार "मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करे।" हार्टले वीदर्स ने मुद्रा के चार प्रमुख कार्यों को बतलाया है अर्थात् विनिमय का माध्यम, समस्त वस्तुओं के मूल्यों का सामान्य मापदण्ड, मूल्य संचय का साधन और उधार लेन–देन की सुविधा देना। जो कोई भी वस्तु इन चारों का सम्पादन कर सके वही मुद्रा है। ऐसी परिभाषाओं के अनुसार मुद्रा के अन्दर केवल धातु के सिक्के और कागज के नोट आदि ही नहीं सम्मिलित किये जाते बल्कि चेक आदि साख–पत्र भी मुद्रा की श्रेणी में आ जाते हैं।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से ऐसी परिभाषाएँ सरल एवं उपयुक्त ज्ञात होती हैं। किन्तु तार्किक दृष्टिकोण से परिभाषा के रूप में सच्चे अर्थ में ये मुद्रा की परिभाषाएं न होकर वर्णन मात्र ही है क्योंकि ये मुद्रा के उन विशेष गुणों को नहीं बतला पाती जो अन्य वस्तुओं से इसके अन्तर को स्पष्ट कर दें। ये मुद्रा के गुणों एवं कार्यों का वर्णन करती है किन्तु वर्णन और परिभाषा में महान अन्तर है।

(ख) वैधानिक परिभाषाएँ (Legal Definitions)

वैधानिक परिभाषाएं मुद्रा के राज्य सिद्धांन्त पर आधारित है। मुद्रा के राज्य सिद्धान्त के अनुसार जिस वस्तु को सरकार मुद्रा घोषित कर देती है उसी को समाज मुद्रा मानता है। मुद्रा के राज्य सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक सम्बन्धों में ऋण ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। इसलिए जिस वस्तु को राज्य ऋण के भुगतान का साधन घोषित कर देता है वही वस्तु मुद्रा हो जाती हे। जर्मन अर्थशास्त्री **नैप**, ब्रिटिश अर्थशास्त्री **हाट्रे** आदि इसी सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। नैप के अनुसार "जो कोई भी वस्तु राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाय वह मुद्रा हो जाती है।" हाट्रे ने नैप की परिभाषा में सुधार करने का प्रयास किया। उन्होंने मुद्रा को विधि–ग्राह्य के साथ ही साथ लेखा की इकाई भी बतलाया। उनके अनुसार "मुद्रा के दो पहलू हैं– एक तो यह लेखा की एक इकाई है और, दूसरे, यह एक विधि ग्राह्य मुद्रा है।"

मुद्रा की वैधानिक परिभाषाएँ बहुत कुछ अंश तक उचित हैं क्योंकि अनुभव बतलाता है कि जब सरकार एक कागज के टुकड़े को भी एक सौ अथवा एक हजार रुपये का नोट घोषित कर देती है तो जनता उस कागज को एक सौ अथवा एक हजार रुपया समझने लगती है। उसी प्रकार जब सरकार किसी मुद्रा को वैधानिक रूप देना बन्द कर देती है अर्थात् उसका विमुद्रीकरण कर देती है तो उसका जनता के बीच प्रचलन बिल्कुल बन्द हो जाता है।

यद्यपि ऐसी परिभाषाएँ उचित प्रतीत होती हैं तथापि वस्तुतः ये न तो सिद्धान्त में और न व्यवहार में ही उचित और सत्य हैं। सिद्धान्त में इसलिए उचित नहीं है क्योंकि विनिमय के सिद्धांत के अनुसार

विनिमय स्वतन्त्र और ऐच्छिक होता है। किन्तु यदि हम मुद्रा के राज्य सिद्धान्त और उस पर आधारित मुद्रा की परिभाषाओं को स्वीकार करें तो विनिमय न तो स्वतन्त्र होगा और न वह ऐच्छिक ही होगा। मुद्रा की ये परिभाषाएँ व्यवहार में भी सत्य नहीं हैं क्योंकि जैसा कि हमने प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् स्वयं नैप के देश जर्मनी में भी अनुभव किया, जनता ने सरकारी मान्यता–प्राप्त मुद्रा की लेन–देन करना बिल्कुल ही छोड़ दिया क्योंकि गम्भीर मुद्रा स्फीति के कारण सरकार द्वारा घोषित मुद्रा में जनता का विश्वास समाप्त हो गया था। मुद्रा तभी तक मुद्रा रह सकती है। जब तक उसे जनता की सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो और जनता सर्वमान्य रूप में किसी वस्तु को तभी तक मुद्रा स्वीकर कर सकती है जब तक उस वस्तु के मुद्रा होने में जनता का विश्वास हो। यदि जनता का मुद्रा में विश्वास समाप्त हो जाये तो सरकार के किसी भी प्रकार के दंड का भय मुद्रा को जनता की सर्वग्राह्यता नहीं प्रदान कर सकता है।

(ग) सामान्य स्वीकृति पर आधारित परिभाषाएँ
(Definitions Based on General Acceptability)

बहुत–से अर्थशास्त्रियों के मुद्रा की परिभाषा मुद्रा की सर्वग्राह्यता के गुण के आधार पर दी है। इस वर्ग की परिभाषाओं का निचोड़ यह है कि किसी वस्तु को मुद्रा कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि उस वस्तु को जनता की सर्वस्वीकृति प्राप्त हो। जैसा कि ज्योफ्रे क्राउथर ने लिखा है, "केवल सामान्य स्वीकृति ही मुद्रा की प्रमुख अनिवार्यता है। "क्राउथर, राबर्टसन, केन्स, कोल, एली, केन्ट सेलिगमान, किनले, वाकर, हाम, वाग, मार्शल आदि की परिभाषाएँ मुद्रा की सर्वस्वीकृति पर ही आधारित हैं। इन अर्थशास्त्रियों की परिभाषाएँ स्पष्टतः दो वर्गों में विभक्त हो जाती हैं– संकुचित अर्थ वाली परिभाषाएँ और विस्तृत अर्थ वाली परिभाषाएँ।

प्रो० सेलिगमान के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सर्वस्वीकृति प्राप्त हो।" प्रो० रॉबर्टसन के अनुसार, "मुद्रा वह वस्तु है जिसे वस्तु को मूल्य चुकाने अथवा अन्य प्रकार के व्यवसायिक दायित्वों को निपटाने के लिए विस्तृत रूप में स्वीकार किया जाता है।" इस प्रकार राबर्टसन के अनुसार जिस किसी वस्तु को विनिमय के माध्यम के रूप में समाज की सर्वमान्यता प्राप्त हो जाती है वही मुद्रा का रूप धारण कर लेती है। लॉर्ड केन्स के अनुसार "मुद्रा वह है जिसे देकर ऋण समझौतों तथा मूल्य समझौतों का भुगतान किया जाता है और जिसके रूप में सामान्य क्रय–शक्ति का संचय किया जाता है।"

कोल के मतानुसार "मुद्रा केवल क्रय–शक्ति है अर्थात् एक ऐसी वस्तु है जिससे अन्य वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। यह ऐसी वस्तु है जो साधारणतया और विस्तृत रूप में भुगतान के साधन के रूप में प्रयुक्त की जाती है और सामान्यतः ऋणों के भुगतान के रूप में स्वीकार की जाती है।"

हाम ने मुद्रा की परिभाषा इस प्रकार दी है, "मुद्रा शब्द का प्रयोग विनिमय माध्यम और मूल्य–मान दोनों ही के लिए किया जाता है।" **क्राउथर** की परिभाषा भी मुद्रा की सामान्य स्वीकृति पर आधारित है। उनके अनुसार "जो कोई वस्तु विनिमय के साधन रूप में सामान्य रूप से स्वीकार की जाय और जो साथ ही साथ मूल्य के मापक और मूल्य संचय का कार्य करे वह मुद्रा कहलाती है।"

मुद्रा की ऐसी परिभाषाओं के अनुसार चेक, विनिमय पत्र, ड्राफ्ट आदि जैसे साख पत्र मुद्रा की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते क्योंकि ये विनिमय के माध्यम के रूप में सामान्यतः स्वीकृत नहीं किए जाते हैं। ऐसे साख–पत्रों की स्वीकृति व्यक्तियों द्वारा तभी की जाती है जब व्यक्ति एक दूसरे से परिचित हो और उनमें पारस्परिक विश्वास हो। एसी परिभाषाओं के अनुसार उसी वस्तु को मुद्रा कहा जा सकता है जिसे लेन–देन के लिए सभी व्यक्तियों द्वारा सामान्य रूप से बिना हिचकिचाहट के ही स्वीकार किया जाता है।

निष्कर्ष

मुद्रा की इन सभी विभिन्न परिभाषाओं की ध्यानपूर्वक छानबीन करने पर स्पष्ट होगा कि इनमें से कुछ परिभाषाएँ बहुत ही व्यापक हैं तो कुछ बहुत ही संकीर्ण हैं। हार्टले वीदर्स आदि जैसे लोगों की परिभाषाएँ अत्यन्त ही व्यापक हैं क्योंकि यदि मान लिया जाय कि मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करे तो बहुत–सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो मुद्रा के कुछ कार्यों का संपादन करती हैं किन्तु तब भी उन्हें मुद्रा नहीं

कहा जा सकता। नैप, हाट्रे आदि की परिभाषाएँ सिद्धान्तः एवं व्यवहारतः दोषपूर्ण हैं। उसी प्रकार कोल, केन्स रॉबर्टसन, एली, सेलिगमैन आदि की परिभाषाएँ भी दोषपूर्ण हैं क्योंकि ये परिभाषाएँ भी मुद्रा के सभी गुणों और कार्यों को स्पष्ट नहीं करती। यद्यपि ये परिभाषाएँ मुद्रा की सामान्य स्वीकृति जैसे महत्वपूर्ण तथ्य पर जोर देती हैं तथापि ये इस तथ्य को स्पष्ट नहीं करती कि मुद्रा को सामान्य स्वीकृति क्यों प्राप्त होती है। मुद्रा की परिभाषा संतोषजनक और उचित तभी हो सकती है जब उसमें मुद्रा की सभी सामान्य विशेषताओं तथा गुणों का समावेश हो।

यद्यपि ऊपर वर्णित विभिन्न अर्थशास्त्रियों की मुद्रा सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाएँ पृथक्–पृथक् रूप में संतोषजनक नहीं कही जा सकती हैं फिर भी इनमें से लगभग सभी मुद्रा की सामान्य स्वीकृति और विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करने के गुणों पर जोर देती हैं। मुद्रा के लिए ये दोनों ही गुण अत्यन्त आवश्यक हैं। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मुद्रा की सामान्य स्वीकृति भी सीमित होती है– मुद्रा को सामान्य स्वीकृति किसी समाज विशेष में ही प्राप्त होती है, सर्वत्र सभी समाजों में नहीं। जैसा कि वाग का कहना है, "कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जो सभी स्थानों में सामान्य रूप से स्वीकार की जाती हो और इस अर्थ में मुद्रा सर्वथा स्थानीय होती है। कुछ स्थानों में यह मुद्रा हो सकती है और अन्य स्थानों में इसे नहीं भी स्वीकार किया जा सकता है।"

उदाहरण के लिए भारत में रूपया मुद्रा है और इसे यहाँ पर सभी लोग स्वीकार करते हैं किन्तु अमेरिका में नही। उसी प्रकार अमेरिका में डालर मुद्रा है किन्तु भारत में नहीं क्योंकि भारत में अमेरिकी डालर को सामान्य स्वीकृति नहीं प्राप्त हो सकती। मुद्रा की संतोषपूर्ण परिभाषा वह होगी जो मुद्रा के वर्ग एवं उसके अन्तरकारी गुण को स्पष्ट कर सके अर्थात् जो मुद्रा के सभी प्रमुख गुणों को स्पष्ट कर सके। इस प्रकार हम कह सकते है कि "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सामान्य रूप में मूल्यों के मापदण्ड तथा विनिमय के माध्यम तथा मूल्य संचय के साधन के रूप में स्वीकार किया जाय।"

2. आर्थिक विचारधारा के आधार पर परिभाषाओं का वर्गीकरण

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा मुद्रा की दी गई परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि जबकि कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के प्रति संकुचित दृष्टिकोण अपनाया है तो कुछ दूसरे अर्थशास्त्रियों के इसके प्रति बहुत ही व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है।

1. मुद्रा के प्रति संकुचित दृष्टिकोण– संकुचित दृष्टिकोण पर आधारित परिभाषाएँ मुद्रा के दो मूल रूपों को स्पष्ट करती हैं:

(क) मुद्रा का अमूर्त रूप तथा

(ख) मुद्रा का मूर्त रूप।

मुद्रा का अमूर्त रूप मुद्रा के मूल्य मापक तत्व को व्यक्त करता है और इसे लेखा की इकाई के रूप में देखता है। स्वीडेन के अर्थशास्त्री कैसल के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो अन्य वस्तुओं का मूल्य मापन करने के लिये एक सामान्य माप–दण्ड का कार्य करती है। मुद्रा का प्रमुख मौद्रिक कार्य एक ऐसी गणना के आधार का कार्य करना है जिसके द्वारा विनिमय की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य निश्चित किए जा सकें।" मुद्रा के मूर्त रूप के अंतर्गत उन सभी विभिन्न प्रकार के सिक्कों और पत्र–मुद्राओं का सम्मिलित किया जाता है जो विभिन्न भुगतानों के लिये प्रयोग की जाती है।

मुद्रा की अधिकांश परिभाषाओं में मुद्रा के केवल मूर्त रूप को ही महत्व दिया गया है। लेकिन मुद्रा की एक उचित परिभाषा में मुद्रा के मूर्त और अमूर्त दोनों ही रूपों को सम्मिलित किया जाना आवश्यक है। अतः मुद्रा के संकुचित दृष्टिकोण में दो मुख्य दोष स्पष्ट हैं–

(1) मुद्रा के मूर्त रूप के अंतर्गत केवल सिक्कों तथा कागजी नोटों को ही सम्मिलित किया जाता है। चेक, ड्राफ्ट, विनिमय बिल आदि साख पत्रों को मुद्रा नहीं माना जाता। लेकिन यह एक वैधानिक दृष्टिकोण है और मुद्रा के वास्तविक रूप को व्यक्त नही कर पाता।

(2) इस दृष्टिकोण में मुद्रा के केवल कुछ ही कार्यों का संकेत किया गया है, सभी का नही। अतः यह दृष्टिकोण अपूर्ण है।

(2) मुद्रा के प्रति व्यापक दृष्टिकोण–

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा में उन सभी वस्तुओं को सम्मिलित कर लिया है जो मुद्रा का कार्य करती है। वाकर तथा हार्टले वीदर्स के अनुसार "मुद्रा वही है जो मुद्रा का कार्य करे।" कार्ल हैलफरिक ने तो मुद्रा की इतनी व्यापक परिभाषा दी है कि उससे मौद्रिक प्रणाली का संबंध लगभग संपूर्ण अर्थ–व्यवस्था से स्थापित हो जाता है। उनके शब्दों में "मुद्रा का अर्थ वे सभी वस्तुएँ और संस्थाएँ हैं जो एक निश्चित क्षेत्र तथा एक निश्चित प्रणाली में आर्थिक व्यक्तियों के बीच आर्थिक सहयोग अर्थात् मूल्य के अन्तरण में सुविधा पहुँचाती हैं।"

स्पष्टतः मुद्रा के प्रति व्यापक दृष्टिकोण में उन सभी वस्तुओं को मुद्रा की संज्ञा दी जाती है जिसका प्रयोग जनता द्वारा वर्तमान और भविष्य के भुगतान के लिये किया जाता है चाहे उनमें किसी प्रकार का 'निहित मूल्य' हो अथवा नहीं। उनका वैधानिक रूप से सामान्यतः स्वीकार्य होना भी आवश्यक नहीं है। उस व्यापक अर्थ में मुद्रा की परिभाषा करते समय उसे वैधानिकता के साथ जोड़ना वास्तविकता नहीं है। इस दृष्टिकोण में धातु सिक्के तथा करेन्सी नोट ही मुद्रा नहीं है बल्कि चेक, बिल, बैंक नोट आदि वे सभी वस्तुएँ मुद्रा है जिनसे भुगतान सम्पन्न होता है।

इस प्रकार मुद्रा सम्बन्धी आधुनिक विचारधारा मुद्रा के व्यापक रूपा पर आधारित है। इस व्यापक अर्थ में मुद्रा के अंतर्गत निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है–

1. वास्तविक मुद्रा अथवा सामान्य मुद्रा अथवा सरकारी मुद्रा जिसमें सिक्के और केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये गये नोट शामिल हैं।
2. बैंक मुद्रा अथवा बैंक निक्षेप जिनको कोई भी जमा–कर्ता चेक लिख कर बैंक से निकाल सकता है। सावधि जमाओं को जमाकर्ता अपनी इच्छानुसार किसी भी समय बैंक से वापस नहीं ले सकते हैं। परिणामतः इन जमाओं में मुद्रा की प्रमुख विशेषता– तरलता–का अभाव रहता है। अतः सावधि जमाओं को मुद्रा के अंतर्गत सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

   रैडक्लिफ समिति के मत में "मुद्रा में बैंकों के बाहर परिचालित नोट तथा लन्दन, स्काटलैंड तथा उत्तरी आयरलैंड के बैंकों के कुल शुद्ध निक्षेप शामिल है।" मुद्रा की यह व्यापक परिभाषा यह मानती है कि वर्तमान युग में बैंकों के निक्षेप भुगतान के लिये उसी प्रकार प्रयुक्त होते हैं जिस प्रकार कागज के नोट अथवा धातु मुद्रा क्योंकि विकसित देशों में अधिकांश भुगतान चेकों द्वारा ही किए जाते हैं। प्रो० हॉम के अनुसार, "इन दावों को चाहे हम मुद्रा कहें अथवा बैंक मुद्रा कहें अथवा जमा मुद्रा अथवा बैंक चेक मुद्रा की संज्ञा दें, इसमें संदेह नहीं है कि इन सबको विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग किया जा सकता है और इसलिये मुद्रा के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है।"

आधुनिक अर्थ–व्यवस्थाओं में साख मुद्रा का महत्व क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। इसलिए ऐसी अवस्था में मुद्रा संबधी व्यापक दृष्टिकोण अधिक उचित प्रतीत होता है। प्रो० कोलबोर्न ने व्यापक दृष्टिकोण वाली परिभाषाओं को सामान्य स्वीकृति का व्यावसायिक दृष्टिकोण बतलाया है।

1.3 मुद्रा के कार्य
(Functions of Money)

साधारणतया मुद्रा के चार कार्यों– विनिमय–माध्यम, मूल्य–मापक, स्थगित भुगतानों का मान तथा मूल्य–संचय का ही उल्लेख किया जाता है। परन्तु यथार्थ में मुद्रा के कार्य काफी व्यापक हैं। किनले ने इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है।

(1) मुद्रा की अनिवार्य सेवाएँ जिन्हें मुख्य अथवा प्राथमिक कार्य कहा जा सकता है।
(2) मुद्रा के व्युत्पन्न कार्य जिन्हें सहायक कार्य कहा जा सकता है।
(3) आकस्मिक कार्य।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी कार्य हैं। जिन्हें हम अन्य कार्य कह सकते हैं।

(क) प्राथमिक कार्य
(Primary Functions)

प्राथमिक कार्य मुद्रा के ऐसे कार्य हैं जिन्हें आधारभूत कार्य, अनिवार्य कार्य तथा मौलिक कार्य भी कहा जाता है, क्योंकि इन कार्यों को मुद्रा ने प्रत्येक काल, प्रत्येक देश तथा स्थिति में किया है, चाहे इसका निजी स्वरूप कुछ भी रहा हो। इस प्रकार के कार्य दो हैं।

(1) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)- चूँकि मुद्रा में सामान्य स्वीकृति का गुण होता है, अतः यह विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है। वस्तु–विनिमय काल में दोहरे संयोग के अभाव एक बहुत बड़ी कठिनाई थी, जिसे मुद्रा के प्रयोग ने ही हल किया है। अब विनिमय–कार्य दो भागों में बँटा रहता है– प्रथम, वस्तु अथवा सेवा को मुद्रा में बदलना, जिसे 'विक्रय' कहते हैं, दूसरे, मुद्रा के बदले अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ अथवा सेवाएँ प्राप्त करना, जिसे 'क्रय' कहते हैं। वर्तमान युग में सम्पूर्ण विनिमय युग में सम्पूर्ण विनिमय मुद्रा के माध्यम से ही होता है।

(2) मूल्य–मापक (Measure of Value)- विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्यांकन मुद्रा के मापदण्ड द्वारा ही किया जाता है और इसी आधार पर विनिमय–अनुपात का निर्धारण होता है। क्राउथर ने लिखा है कि "मुद्रा लेखे की इकाई के रूप में कार्य करती है। यह मूल्य के मापदण्ड अथवा सर्वमान्य मापक का, जिससे अन्य सभी वस्तुओं की तुलना की जा सकती है, कार्य करती है।"

मूल्यमापक के रूप में मुद्रा ने आर्थिक हिसाब को बहुत सरल बना दिया है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जिस प्रकार मीटर कपड़े की लम्बाई का एक निश्चित मापक है उस प्रकार मुद्रा मूल्यों की निश्चित मापक नहीं है। मुद्रा सामूहिक मापक का कार्य करते हुए भी अपने मूल्य में स्थिर नहीं रहती। मुद्रा का मूल्य परिवर्तनशील होता है, सर्वदा एक सा नहीं रहता।

(ख) सहायक अथवा गौण कार्य
(Subsidiary Functions)

मुद्रा के कुछ कार्य एसे हैं जो प्राथमिक कार्यों में सहायक हैं और जिनका महत्व अर्थ–व्यवस्था के विकास के साथ–साथ बढ़ता रहा है। इस श्रेणी में तीन कार्यों का उल्लेख किया जाता है।

(1) स्थगित भुगतानों का आधार (Base of Deferred Payments)- ऐसे भुगतान जिन्हें तत्काल न कर भविष्य के लिए स्थतिगत किया जाय, उनके लिए मुद्रा ही आधार है। देशी अथवा विदेशी ऋण तथा उनकी ब्याज मुद्रा में ही तय होते हैं। इस कार्य के लिए मुद्रा अधिक उपयुक्त आधार है, क्योंकि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा का मूल्य अधिक स्थिर होता है, इसमें टिकाऊपन भी अधिक है, तथा इसमें सामान्य स्वीकृति का गुण होता है।

इस सम्बन्ध में जो एक समस्या सामने आती है वह यह है कि पत्र–मुद्रा के विकास के साथ–साथ मुद्रा की मूल्य–स्थिरता कम होती गयी है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने से कभी तो ऋणियों को और कभी ऋणदाताओं को हानि उठानी पड़ती हैं यह दोष होते हुए भी भावी भुगतानों के लिए मुद्रा से अधिक अच्छा कोई अन्य आधार नहीं है।

(2) मूल्य–संचय (Store of Value) का आधार– वस्तु–विनिमय प्रणाली में भविष्य के लिए बचत करना कठिन अथवा असम्भव था। परन्तु मुद्रा के प्रयोग द्वारा मूल्य–संचय का कार्य अत्यन्त सरल हो गया है। मुद्रा में टिकाऊपन अथवा अक्षयशीलता का गुण है। थोड़े से स्थान में सुविधा से सुरक्षापूर्वक इसे जमा किया जा सकता है। इस पर ब्याज भी कमायी जा सकती है।

आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि अधिक मात्रा में पूँजी–संचय हो। मुद्रा का मूल्य स्थिर बनाये रखना आवश्यक है ताकि लोग अपनी बचतें स्वर्ण, भुमि अथवा किसी अन्य रूप में न रखने लगे।

(3) मूल्य हस्तांतरण (Transfer of Value) का साधन– आधुनिक काल में विनिमय का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। वहनीयता के गुण के कारण मुद्रा के रूप में क्रय–शक्ति अथवा मूल्य का

हस्तांतरण सुविधापूर्वक किया जा सकता है। इसी कार्य के परिणामस्वरूप आर्थिक जीवन में गतिशीलता बढ़ी है और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिला है।

(ग) आकस्मिक कार्य
(Contingent Functions)

किनले के अनुसार प्रत्येक उन्नत अर्थ–व्यवस्था में मुद्रा मुख्य तथा सहायक कार्यों के अतिरिक्त चार आकस्मिक कार्य भी करती है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) सामाजिक आय का वितरण (Distribution of Social Income)- आज के युग में उत्पादन का रूप अत्यन्त जटिल एवं विशाल हो गया है, जिसके लिए उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का सहयोग लिया जाता है। कुल उत्पादन तथा उससे प्राप्त होने वाली आय इन सभी साधनों के सामूहिक प्रयास का परिणाम होती है, और उसका वितरण इस सब में, इनके सहयोग की मात्रा के अनुसार करना होता है। यह कार्य मुद्रा द्वारा सहज ही कर लिया जाता है। मुद्रा के इस कार्य के परिणामस्वरूपा ही बड़े–बड़े कारखानों द्वारा उत्पादन करना सम्भव हुआ है।

(2) विभिन्न मदों पर व्यय से सम–सीमान्त उपयोगिता की प्राप्ति (Equalization of Marginal Utility in Expenditures)- मुद्रा के प्रयोग से ही यह सम्भव हुआ है कि मनुष्य अपनी आवश्यकता की विभिन्न वस्तुओं पर व्यय इस प्रकार करे कि सभी वस्तुओं से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। इस प्रकार मौद्रिक आय की सहायता से अधिकांश व्यक्तियों को ऐसे लाभ प्राप्त होते हैं जिनसे किसी अन्य को कोई हानि नहीं होती है।

(3) साख–व्यवस्था का आधार (Basis of Credit System)- आज का व्यापार साख पर आधारित है, और साख का आधार मुद्रा ही है। साख–पत्रों, जैसे चैक, ड्राफ्ट, विनिमय बिल आदि का प्रयोग विस्तृत रूप में किया जाने लगा है और बैंक साख का निर्माण करते हैं। यह सब तभी सम्भव हो पाता है जब बैंकों के पास कोष में मुद्रा जमा हो। मुद्रा साख के निर्माण का आधार है।

(4) पूँजी को एक सामान्य रूप देना (Imparting of a General from to Capital)- मुद्रा धन अथवा पूँजी के अनेक रूपों, जैसे मकान, जमीन, पशु आदि को एक सामान्य रूप प्रदान करती है, क्योंकि इन सभी को मुद्रा में बदला जा सकता है। इससे पूँजी की तरलता तथा गतिशीलता में वृद्धि होती है। और पूँजी की उत्पादकता बढ़ती है। मुद्रा उत्पत्ति का एक साधन न होते हुए भी उत्पादकता का विस्तार करने और उसे अधिकततम स्तर तक पहुँचाने में सहायक होती है। मुद्रा रखने वाले व्यक्ति को इससे जो सामाजिक व आर्थिक शक्ति प्राप्त होती है, धन के अन्य किसी रूप से प्राप्त नहीं की जा सकती है। बिक्री की जाने वाली सभी वस्तुओं व सेवाओं पर सामान्य अधिकार स्थापित करने वाली शक्ति मुद्रा ही है।

(घ) अन्य कार्य
(Other Functions)

मुद्रा के उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त तीन और कार्य भी बताये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं–

(1) तरलता–दायक– केन्स के विचार में मुद्रा का एक महत्वपूर्ण कार्य पूँजी तथा धन को तरलतमत रूप प्रदान करना है। धन को मुद्रा के रूप में रखने के तीन उद्देश्य हो सकते हैं– कार्य–सम्पादन उद्देश्य, सुरक्षा–उद्देश्य, तथा सट्टा उद्देश्य। मुद्रा के रूप में पूँजी को किसी भी उद्देश्य के लिए लगाया जा सकता है।

(2) निर्णय–वाहक– ग्राहम के मतानुसार मुद्रा के रूप में की गयी बचत भविष्य में किसी भी उद्देश्य के लिए काम में लायी जा सकती है। चूँकि मनुष्य के उद्देश्य बदलते रहते हैं, इसलिए मुद्रा के

अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में यह गुण नहीं है कि वह किसी निर्णय के अधीन किसी भी उद्देश्य के लिए काम में लायी जा सके।

(3) शोधन–क्षमता सूचक– आर. पी. केण्ट के अनुसार, किसी व्यक्ति अथवा संस्था के पास तरल मुद्रा उसकी भुगतान शोधन–क्षमता की गारण्टी होती है। दायित्वों का भुगतान न कर पाने पर उन्हें दिवालिया मान लिया जाता है। मुद्रा इस बात की सूचक है कि शोधन–क्षमता को कहाँ तक बनाये रखा जा सकता है।

1.4 मुद्रा के स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्य

पाल इन्जिग के अनुसार मुद्रा के कार्य दो प्रकार के हैं– स्थैतिक कार्य वे हैं जिनसे अर्थ–व्यवस्था का संचालन होता है, परन्तु इनसे गति अथवा वेग उत्पन्न नहीं होता है। इस आधार पर विनिमय–माध्यम, मूल्यमापक, क्रय–शक्ति के संचय, हस्तान्तरण अथवा स्थगित भुगतान के रूप में मुद्रा के मुख्य एवं सहायक कार्य स्थैतिक कार्य हैं, क्योंकि इनसे प्रत्यक्ष रूप से वेग उत्पन्न नहीं होता। मुद्रा के स्थैतिक कार्यों को निष्क्रिय कार्य, परम्परागत कार्य, स्थिर कार्य तथा तकनीकी कार्य भी कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक स्थान व प्रत्येक स्थिति में मुद्रा इन कार्यों को यन्त्रवत् करती रहती है। दूसरी ओर प्रावैगिक कार्य वे हैं जिनसे आर्थिक गति प्राप्त होती है, अर्थात् वे मूल्य–स्तर, रोजगार–स्तर तथा उत्पादन आदि में परिवर्तन लाते हैं। पूँजी को तरलता एवं उत्पादकता के गुण प्रदान करना एवं साख के आधार–रूप में कार्य करना प्रावैगिक कार्य हैं, क्योंकि इनसे गति उत्पन्न होती है। वर्तमान युग में मुद्रा के प्रावैगिक कार्यों का महत्व बहुत बढ़ गया है। मुद्रा के प्रावैगिक कार्यों तथा उनके सम्भावित प्रभावों को ध्यान में रखकर ही सरकारों तथा केन्द्रीय तथा केन्द्रीय बैंकों द्वारा मौद्रिक नीतियों का निर्धारण तथा संचालन किया जाता है।

मुद्रा द्वारा स्थैतिक कार्य ठीक प्रकार से तभी सम्पन्न किये जा सकते हैं जब मुद्रा के मूल्य में लगभग स्थिरता की स्थिति रहती है। इसके विपरीत, प्रावैगिक कार्यों कार्यों के लिए तो कुछ परिस्थितियों में स्थिरता का त्याग करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा ठीक प्रकार से कार्य तभी कर पाती है जब इसका उपयोग एक उपयुक्त मौद्रिक नीति के अन्तर्गत किया जाय।

1.5 सारांश

वास्तव में आर्थिक विकास के साथ–साथ मुद्रा के कार्यों का भी विकास होता रहा है, और आज भी मुद्रा के कार्यों का विकास रुका नहीं है। "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करे"। इस कथन में मुद्रा के कार्यों में परिवर्तनशीलता का आभास मिलता है। डच अर्थशास्त्री पियर्सन के अनुसार, मुद्रा रेलवे–स्टेशन पर शंटिंग करने वाले इन्जन की तरह है जो एक समय डिब्बों की एक पंक्ति को खींचता है, और दूसरे समय दूसरी को ढकेलता है। इस प्रकार इसका कार्य सभी डिब्बों को सही पटरियों पर लाना होता है जिससे वे निश्चित स्थान पर पहुंचने में समर्थ हो सकें; किन्तु इन्जन स्टेशन से कभी नहीं जाता है।

मुद्रा की सभी परिभाषाओं पर विचार करने के पश्चात् यदि मुद्रा के सही स्वरूप की जानकारी उसकी परिभाषा से करनी हो तो उसकी निम्न परिभाषा श्रेष्ठ कही जा सकती है : "मुद्रा ऐसी वस्तु है जिसे विस्तृत रूप में विनिमय के माध्यम, मूल्य के मापक, ऋणों के अन्तिम भुगतान तथा मूल्य के संचय के साधन के रूप में स्वतन्त्र एवं सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है।"

1.6 बोध प्रश्न

प्रश्न– 1 मुद्रा की परिभाषा दीजिए। आधुनिक आर्थिक जीवन में इसके विभिन्न कार्यों की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न– 2 मुद्रा के विभिन्न कार्यों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न– 3 "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करता है।" इस कथन स्पष्ट करिए।

प्रश्न– 4 मुद्रा को परिभाषित करते हुए उसके स्थैतिक एवं प्रावैगिक कार्यों को स्पष्ट कीजिए।

1.7 शब्दावली

वस्तु विनिमय	:	Barter System
मुद्रा	:	Money
विधि ग्राह्य मुद्रा	:	Legal Money
लेखे की इकाई	:	Unit of Account
सर्व स्वीकृति	:	Acceptability
मूर्त मुद्रा	:	Visual Money
मूल्य मापन	:	Measure of Value
मूल्य का अन्तरण	:	Transfer of Value

1.8 संदर्भ सूची

G. Crowther	:	An Outline of Money, Chapter 1.
D. H. Robertson	:	Money, Chapter 1.
J. M. Keynes	:	A Treatise on Money, Vol. 1, Chapter 1.
L. V. Chandler	:	The Economics of Money and Banking Chapter 1.
G. N. Halm	:	Economics of Money and Banking.

इकाई– 02
फिशर का विनिमय समीकरण एवं कैम्ब्रिज समीकरण, मुद्रा परिमाण का सिद्धान्त (QTM)

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
2.3 फिशर का विनिमय समीकरण
2.4 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाएं
2.5 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का महत्व
2.6 क्रैम्ब्रिज समीकरण
2.7 फिशर एवं कैम्ब्रिज समीकरण में अन्तर
2.8 कैम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण पर सुधार
2.9 कैम्ब्रिज समीकरण की आलोचनाएं
2.10 सारांश
2.11 बोध प्रश्न
2.12 शब्दावली
2.13 संदर्भ सूची

2.0 उद्देश्य

मुद्रा की अवधारणा एवं मुद्रा का मूल्य खण्ड के अंतर्गत इस इकाई 02– फिशर का विनिमय समीकरण एवं कैम्ब्रिज समीकरण के अध्ययन से आप निम्नलिखित बातों को समझ सकते हैं।

1. मुद्रा के मूल्य के अभिप्राय को समझना।
2. मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य कीमत स्तर के बीच संबंध का पता लगाना।
3. वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण मुद्रा की मात्रा के द्वारा प्रभावित होता है।
4. व्यक्ति अपने पास आय का एक निश्चित भाग नगदी रूप में रखता है जो कीमत स्तर को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती है।

2.1 प्रस्तावना

'मुद्रा के मूल्य' से अभिप्राय इसके विनिमय–मूल्य से है। वास्तव में, मुद्रा का अपना कोई मूल्य नहीं होता परन्तु विनिमय माध्यम होने के कारण इसमें अन्य वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त करने की शक्ति होती है। इस प्रकार, मुद्रा के मूल्य का सही अर्थ मुद्रा की क्रय–शक्ति (Purchasing power) है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा–मूल्य से अभिप्राय वस्तुओं तथा सेवाओं की उस मात्रा से है जो किसी निश्चित समय पर मुद्रा की एक इकाई के बदले में प्राप्त की जा सकती है। अब प्रश्न यह उठता है कि मुद्रा विनिमय–माध्यम होने के नाते अपने बदले में अनेक प्रकार की वस्तुएँ सेवाएँ प्राप्त कर सकती है, तो क्या हमें मुद्रा का मूल्य इन अलग–अलग वस्तुओं के रूप में व्यक्त करना होगा अथवा इन सब में से किसी एक वस्तु के रूप में? इन दोनों में से कोई–सा भी तरीका अपनाना न तो व्यावहारिक है और न ही उचित है। मुद्रा सामूहिक मूल्य मापक का कार्य करती हैं, इसलिए मुद्रा का मूल्य मापने का आधार वस्तुओं तथा सेवाओं की सामूहिक मात्रा होती है।

यह तो स्पष्ट ही है कि मुद्रा का मूल्य सामान्य कीमत–स्तर (general price level) से सम्बन्धित होता है, परन्तु यह समझना आवश्यक है कि इन दोनों में विपरीत सम्बन्ध होता है। सुप्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री इर्विंग फिशर के शब्दों में, "मुद्रा की क्रय–शक्ति कीमत–स्तर के विपरीत होती है, इसलिए मुद्रा की क्रय–शक्ति का अध्ययन कीमत–स्तर का अध्ययन है। वस्तुओं की कीमतें बढ़ने का अर्थ यह

होता है कि मुद्रा की एक इकाई (जैसे, एक रुपया) के बदले में अब कम मात्रा में वस्तुएँ मिलती हैं। यह इस बात का सूचक है कि मुद्रा का मूल्य घट गया है, इसी प्रकार कीमत–स्तर घटने पर मुद्रा का मूल्य बढ़ता है।

2.2 मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के मूल्य का निर्धारण मुद्रा के परिमाण अथवा मात्रा में होने वाले परिवर्तनों के आधार पर होता है। इस विचार का सर्वप्रथम उल्लेख 16वी शताब्दी के कुछ लेखों में मिलता है। कुछ अर्थशास्त्री इटैलियन विचारक दावन जेत्ती (Dauan Zatti) को इसका जन्मदाता होने का श्रेय देते हैं। एक सिद्धान्त के रूप में इसकी क्रमबद्ध व्याख्या सन् 1691 में जान लॉक ने की थी। 1752 में डेविड ह्यूम (David Hume) ने इसमें सुधार करके सविस्तार इसकी व्याख्या की। इन प्राचीन वर्णनों में मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य में पारस्परिक सम्बन्ध की व्याखया की थी, परन्तु यह नहीं बताया गया थी कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन के परिणामस्वरूप किस अनुपात में मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होगा। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को स्पष्ट रूप प्रदान किया। उन्होंने यह बताया कि मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य के बीच विपरीत समानुपातिक सम्बन्ध है।

जॉन स्टुअर्ट मिल (J. S. Mill) के अनुसार, "यदि अन्य बातें यथास्थिर रहें तो मुद्रा के मूल्य में इसके परिमाण के विपरीत दशा में परिवर्तन होते हैं। परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य को उसी अनुपात में घटाती है और परिमाण की प्रत्येक कमी उसी अनुपात में बढ़ाती है।"

विकसैल (Wicksell) के अनुसार, "मुद्रा के मूल्य अथवा मुद्रा की क्रय–शक्ति में इसकी मात्रा के विपरीत अनुपात में परिवर्तन होते रहते हैं, जिससे मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि या कमी, यदि अन्य बातें समान रहें, वस्तुओं और सेवाओं में उनकी क्रय–शक्ति में आनुपातिक कमी या वृद्धि उत्पन्न करेगी और इस प्रकार वस्तुओं की कीमतों में वैसी ही वृद्धि अथवा कमी होगी।"

टॉसिंग (Taussing) के अनुसार, "यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर दी जाये, तो अन्य बातों के समान रहते हुए, कीमतें भी पहले की तुलना में दुगुनी हो जायेंगी और मुद्रा का मूल्य पहले की तुलना में आधा हो जायेगा। इसके विपरीत, यदि मुद्रा की मात्रा आधी कर दी जाय, तो अन्य बातें समान रहते हुए, कीमतें भी पहले की तुलना में आधी हो जायेंगी और मुद्रा का मूल्य पहले की तुलना में दुगुना हो जायेगा।"

उक्त परिभाषाओं में यह स्प्ष्ट रूप से बताया गया है कि मुद्रा के परिमाण तथा मुद्रा के मूल्य में विपरीत आनुपातिक सम्बन्ध (Inverse proportional relationship) होता है तथा मुद्रा के परिमाण और कीमत–स्तर में सीधा आनुपातिक सम्बन्ध (direct proportional relationship) होता है।

2.3 फिशर का विनिमय समीकरण

अमेरिकी अर्थशास्त्री इर्विंग फिशर (Irving Fisher) द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के अन्तर्गत मुद्रा–मूल्य के निर्धारण के लिए चलन में मुद्रा की मात्रा को आधार माना गया है। इस प्रकार, मूद्रा के मूल्य अथवा कीमत–स्तर के निर्धारण के लिए वही मुद्रा महत्वपूर्ण है जिसे विनिमय–माध्यम के रूप में लोगों द्वारा प्रयोग किया जाता है। चलन में मुद्रा की पूर्ति में होने वाले परिवर्तनों का सामान्य कीमत–स्तर से कुछ मान्यताओं के अन्तर्गत प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन के परिणामस्वरूप कीमत–स्तर में होने वाले परिवर्तन को समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। फिशर के पूर्व समीकरण को निम्नांकित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है।

सर्वप्रथम दिया गया समीकरण $\mathbf{P = \frac{M}{T}}$ था, जिसमें P से अभिप्राय सामान्य कीमत–स्तर (general price level), M से देश में प्रचलित मुद्रा की मात्रा, तथा T से देश में व्यापार की वस्तुओं तथा सेवाओं से था। परन्तु बाद में इस समीकरण को अधूरा समझा गया, क्योंकि इसमें चलन–गति को सम्मिलित नहीं किया गया था, जबकि मुद्रा की पूर्ति केवल प्रचलित मुद्रा की मात्रा पर ही नहीं, अपितु उसकी चलन–गति पर आश्रित होती है।

बाद में चलन–गति को सम्मिलित कर लेने पर समीकरण का रूप PT = MV अथवा $\mathbf{P = \frac{MV}{T}}$ हो गया। यहाँ V से अभिप्राय मुद्रा की चलन–गति (Velocity of circulation) से है। PT, अर्थात् प्रचलित

मुद्रा की कुल मात्रा तथा उसकी चलन–गति ही मुद्रा की पूर्ति को सूचित करती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, T और V को स्थिर माना जाता है। इस प्रकार, M की मात्रा बढ़ जाने पर P भी समानुपातिक रूप में बढ़ जाता है, तथा M घट जाने पर P में समानुपातिक कमी होती है।

फिशर संशोधित समीकरण–उपर्युक्त समीकरण की एक मुख्य उपयुक्तता यह भी थी कि इसमें साख–मुद्रा को सम्मिलित नहीं किया गया था, जबकि वर्तमान युग में साख–मुद्रा का विनिमय–माध्यम के रूप में महत्वपूर्ण स्थान है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए इर्विंग फिशर ने परिमाण समीकरण को निम्न रूप में प्रस्तुत किया–

$$PT = MV + M'V'$$

अर्थात्

$$\mathbf{P = \frac{MV + M'V'}{T}}$$

इस समीकरण में M प्रचलन में साख–मुद्रा की मात्रा तथा V साखमुद्रा की चलन–गति है। इस प्रकार, कीमत–स्तर = कुछ प्रचलन मुद्रा × औसत चलन गति + कुल प्रचलन साखमुद्रा × साखमुद्रा की औसत चलन–गति ÷ कुल व्यापारिक वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा।

उपर्युक्त समीकरण में MV + M'V' मुद्रा की पूर्ति तथा PT मुद्रा की माँग के सूचक हैं। P अर्थात् कीमत–स्तर एक निष्क्रिय घटक (Passive factor) है जो अन्य घटकों के द्वारा निर्धारित होता है, स्वयं उनको निर्धारित नहीं करता। चूंकि P मुद्रा की कुल पूर्ति (MV + M'V') के बराबर है, इसलिए इनका पारस्परिक सीधा आनुपातिक सम्बन्ध है।

फिशर ने यह समीकरण प्रतिपादित करते समय यह मान लिया है कि V, V' तथा T स्थिर रहते हैं और M तथा M' के बीच एक निश्चित अपरिवर्तनशील अनुपात रहता है। स्वयं फिशर के ही शब्दों में, "अल्पकाल में व्यवसाय अथवा मुद्रा द्वारा किया गया कार्य यथास्थिर रहता है, क्योंकि इस काल में जनसंख्या में परिवर्तन नहीं होते हैं। प्रति व्यक्ति उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं होता। उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपयोग किया जाता है, वह भी यथास्थिर रहता है। वस्तु–विनिमय तथा मुद्रा–विनिमय के अनुपात में कोई परिवर्तन नहीं होता और वस्तुओं की चलन–गति भी नहीं बदलती। इस काल में उत्पादन सम्बन्धी रीतियाँ तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतें भी लगभग निश्चित रहती हैं। अपितु, मुद्रा की माँग स्थिर होती है।"

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की मान्यताएँ

1. व्यापार की मात्रा अथवा मुद्रा की माँग में कोई परिवर्तन न हो।
2. वस्तु–विनिमय के द्वारा सम्पन्न होने वाले सौदों में कोई परिवर्तन न हो।
3. साख–मुद्रा तथा विधिग्राह्य मुद्रा के अनुपात में कोई परिवर्तन न हो।
4. मुद्रा की चलन–गति में कोई परिवर्तन न हो।
5. यह सिद्धान्त एक दीर्घकालीन सिद्धांत है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि V, V' और T स्थिर रहेंगे तथा M और M' में एक निश्चित अपरिवर्तनशील अनुपात रहेगा, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि P (सामान्य कीमत–स्तर) में होने वाले सभी परिवर्तन केवल M के परिवर्तनों के कारण ही होते हैं जो रेखांचित्र 2.1 द्वारा समझा जा सकता है।

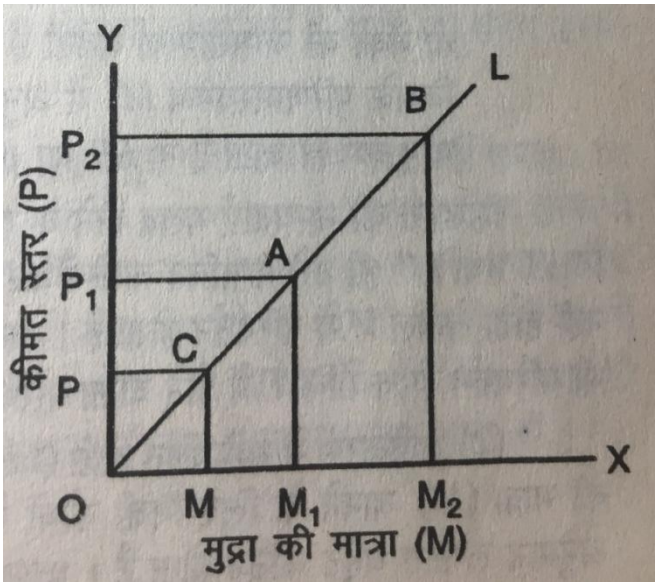

रेखाचित्र 2.1

प्रचलित मुद्रा की मात्रा (M) OX रेखा पर तथा कीमत–स्तर (P) OY रेखा पर दिखाये गये हैं। मुद्रा की मात्रा OM_1 होने पर कीमत–स्तर OP_1 है। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होकर OM_2 के बराबर हो जाती है तो कीमत–स्तर भी उतना ही बढ़कर OP_2 के बराबर हो जाता है। मुद्रा की मात्रा कम होने पर कीमत–स्तर भी कम होता है, क्योंकि OM मुद्रा की मात्रा होने पर कीमत–स्तर OP है। A, B तथा C बिन्दुओं को मिला देने प्र हमें OL वक्र–रेखा प्राप्त होती है जो मुद्रा की मात्रा तथा कीमत–स्तर में परिवर्तनों के पारस्परिक सम्बन्ध को दिखाती है।

2.4 मुद्रा के परिमाण सिद्धांत की आलोचनाएं
(Criticism of the Quantity Theory of Money)

1. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा (M) के अलावा अन्य सभी तत्व (M', V, V' और T) को निश्चित समान और अपरिवर्तनशील मान लिया गया है, जबकि व्यावहारिक जीवन में ये सभी तत्व परिवर्तित होकर मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करते रहते हैं। मंदी काल में मुद्रा के परिमाण में वृद्धि कर देने पर (मुद्रा के चलन वेग में आ जाने के कारण) भी सामान्य मूल्य स्तर में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं होती।

2. मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल दीर्घकाल में लागू होता है, अल्पकाल में नहीं। क्राउथर के मतानुसार, "मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के पक्ष में अधिक से अधिक हम इतना कह सकते हैं कि दीर्घकाल में मुद्रा की उपलब्ध मात्रा का सामान्य मूल्य–स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ता है, परन्तु व्यापार चक्र की अल्पकालीन अवधि में मुद्रा की मात्रा की मूल्य–परिवर्तनों पर नियन्त्रण करने की शक्ति इस बात पर आधारित है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन मुद्रा की भ्रमण गति में होने वाले परिवर्तनों के द्वारा नष्ट होते हैं या नहीं।"

3. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में केवल मुद्रा के विनिमय माध्यम के कार्य पर ही बल दिया गया है तथा मुद्रा के अन्य कार्यों को भुला दिया गया है।

4. मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मूल्य का निर्धारण कुल मुद्रा का कुल वस्तुओं से विनिमय करके होता है। जबकि मूल्य–निर्धारण एक क्रमागत विधि है तथा वस्तुओं के मूल्य पर केवल वर्तमान माँग का ही नहीं अपितु भविष्य की मांग का भी प्रभाव पड़ता है।

5. व्यवहार में मुद्रा भी अनेक आर्थिक वस्तुओं में से एक है तथा इसका मूल्य अन्य वस्तुओं की ही माँग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों के साम्य द्वारा होता है। परन्तु मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में भी इस सत्य को भुला दिया गया है।

6. मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मूल्य–परिवर्तन के मौद्रिक कारणों पर प्रकाश डालता है, अमौद्रिक कारणों पर नहीं। परन्तु व्यवहार में मूल्य मौद्रिक कारणों के साथ–साथ अमौद्रिक कारणों से भी परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त अधूरा है।

7. प्रो० फिशर के अनुसार मुद्रा की मात्रा में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन मूल्य–स्तर में समानुपतिक परिवर्तन को जन्म देता है, परन्तु वास्तविक जीवन में बहुत ही कम परिस्थितियों में ऐसा

सम्भव होता है। प्रायः यह देखने में नहीं आता है कि द्रव्य का परिमाण दुगुना होने पर मूल्य स्तर भी दुगुना हो।

8. परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की पूर्ति पर अधिक बल देता है। कुछ लोगों का कहना है कि यह सिद्धान्त मूल्य सिद्धान्त का ही रूप है, परन्तु इसमें अनुचित रूप से मुद्रा की पूर्ति को महत्व दिया गया है।

9. कीन्स का कथन है कि मुद्रा की सारी मात्रा मूल्य–स्तर पर प्रभाव नहीं डालती। चलन और साख मुद्रा का कुछ भाग संचित कोषों में चला जाता है जिसका मूल्य–स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस बची हुई मुद्रा राशि पर यह सिद्धान्त विचार नहीं करता।

10. फिशर के समीकरण में विधिग्राह्य मुद्रा तथा साख मुद्रा के संचलन वेग का सही–सही मापन करना कठिन ही नहीं बल्कि बिल्कुल असम्भव है। प्रो० फिशर ने विधि ग्राह्य मुद्रा तथा मुद्रा साख मुद्रा के संचलन वेग को अल्पकाल में स्थिर मान लिया था, परन्तु दीर्घकाल में तो इनके संचलन को स्थिर नहीं माना जा सकता। दीर्घकाल में तो दोनों में अवश्य ही परिवर्तन होते हैं, परन्तु अर्थशास्त्रियों के पास ऐसी कोई विधि नहीं है जिससे विधि–ग्राह्य मुद्रा तथा साख मुद्रा के संचलन वेग को सही माप जा सके।

11. प्रो० क्राउथर के अनुसार, मूल्य का मूल्य मुद्रा की मात्रा से नहीं, बल्कि देश की कुल आय से निश्चित होता है। प्रो० क्राउथर के शब्दों में, "मुद्रा का मूल्य, वास्तव में, आय के जोड़ का परिमाण होता है, न कि मुद्रा की पूर्ति का। इस प्रकार हमें कुल आय में होने वाले उतार–चढ़ाव के कारण ही खोज करनी चाहिये।"

2.5 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का महत्व
(Importance of Quantity Theory of Money)

अनेक ऐसी प्रक्रिया होने के उपरान्त भी फिशर का सिद्धान्त ऐतिहासिक महत्व की ओर ध्यान दिलाता है। इस सम्बन्ध में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं–

1. 16वीं शताब्दी में दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि राष्ट्रों में स्वर्ण व चांदी की नवीन खानों की खोज की गई और प्राप्त धातु को अन्य राष्ट्रों को निर्यात किया गया, जिससे मुद्रा–स्फीति हुई एवं वस्तु के मूल्यों में भी वृद्धि हुई जो इस सिद्धान्त की सत्यता को प्रदर्शित करता है।

2. प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध काल में प्रायः सभी राष्ट्रों में कागजी मुद्रा की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हुई, जिसके फलस्वरूप मूल्यों में वृद्धि हो गई। भारत में योजना काल में मुद्रा प्रसार के कारण मूल्यों में वृद्धि हुई।

3. 1929 एवं उसके बाद के वर्षों में मुद्रा संकुचन के कारण समस्त राष्ट्रों में मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो गई। फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में भारी गिरावट इस सिद्धान्त की सत्यता को प्रदर्शित करती है।

4. वर्तमान समय में भी मुद्रा का परिणाम सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है। वर्तमान में मुद्रा एवं साख की मात्रा में वृद्धि के कारण मूल्य स्तर में वृद्धि होती जा रही है जिस पर सरकार द्वारा उचित नियन्त्रण लगाने के प्रयास किये जाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि फिशर का सिद्धान्त कुछ मौलिक तथ्यों की अवहेलना करने के उपरान्त भी सत्यता की ओर ध्यान दिलाता है और इस कारण प्रत्येक राष्ट्र मुद्रा की मात्रा को सीमित करके आर्थिक प्रगति के प्रयास में लगा हुआ है।

2.6 कैम्ब्रिज समीकरण
(Cambridge Equation)

फिशर की व्याख्या में सुधार के रूप में केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों–मार्शल, पीगू, राबर्टसन, केन्स–ने एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत की है जिसे 'कैम्ब्रिज व्याख्या' (Cambridge Approach) कहा जाता है। वैसे तो इसकी ओर कुछ संकेत प्राचीन अर्थशास्त्रियों–पैटी, लॉक, केण्टिलन तथा एडम स्मिथ–के लेखों में भी मिलते हैं, परन्तु इसका वास्तविक विकास कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों द्वारा ही हुआ है। फिशर की व्याख्या को नकद–भुगतान दृष्टिकोण (Cash Transaction Approach) तथा कैम्ब्रिज व्याख्या को नकद–शेष

दृष्टिकोण भी कहा जाता है। कैम्ब्रिज व्याख्या उस मुद्रा से सम्बन्धित है जिसे लोग किसी समय–बिन्दु (point of time) पर नकद शेष के रूप में अपने पास रखना चाहते हैं। मार्शल के अनुसार, इस प्रकार समाज द्वारा रखी गयी कुल नकद राशि निश्चित ही सम्पूर्ण वार्षिक लाभ तथा सम्पत्ति का अंग होती है। कैम्ब्रिज दृष्टिकोण के अनुसार समाज में मुद्रा की माँग व्यापारिक सौदों की मात्रा पर निर्भर नहीं करती, वरन् समाज द्वारा मुद्रा की नकद राशि अपने पास रखने की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। चूंकि कैम्ब्रिज दृष्टिकोण में मुद्रा की माँग सम्बन्धी धारणा को एक मौलिक तथा महत्वपूर्ण रूप दिया गया है, इसलिए इसे कुछ लोग 'मुद्रा का मांग सिद्धान्त' (Demand Theory of Money) भी कहते हैं।

कैम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा की मांग का अर्थ नकद शेष की मांग से लगाया जाता है। नकद शेष की यह मांग कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय (real national Income) अर्थात् अन्तिम उपभोग के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं के वार्षिक उत्पादन (annual production of goods and services for final consumption) से सम्बन्धित होती है। चूंकि सम्पूर्ण वास्तविक आय का उपभोग एक साथ नहीं कर लिया जाता, इसलिए नकद शेष की मांग सम्पूर्ण वास्तविक आय के एक अंश के बराबर होती है। इस प्रकार, मुद्रा की माँग से अभिप्राय वास्तविक आय के उस अनुपात से है जिसे मुद्रा के रूप में रखा जाता है। कैम्ब्रिज समीकरण में इसे K द्वारा व्यक्त किया जाता है।

मुद्रा की मांग अनेक बातों से प्रभावित होती है, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

(1) मुद्रा की मांग का आधार कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय है।

(2) मुद्रा की मांग के निर्धारण में समय–अवधि का महत्वपूर्ण स्थान हैं।

(3) मुद्रा की चलन–गति (V) तथा मुद्रा की मांग (K) में सर्वथा विपरीत सम्बन्ध है।

(4) मुद्रा की मांग लोगों की तरलता–प्राथमिकता ((liquidity preference) पर निर्भर करती है।

(5) मुद्रा की मांग पर अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे आय प्राप्त होने की अवधि, वस्तुओं का कीमत–स्तर, देश की जनसंख्या, धन का वितरण, व्यवसाय की दशा, लेन–देन की आदत, मुद्रा की चलन–गति इत्यादि। वास्तव में, उन सब बातों का जिससे मुद्रा की चलन–गति बढ़ती है, मुद्रा की माँग पर इसके विपरीत प्रभाव पड़ता है।

कैम्ब्रिज समीकरण

कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने नकद कोष की विचारधारा के समर्थन में अलग–अलग समीकरण दिये हैं।

मार्शल का समीकरण

मार्शल ने मुद्रा की मांग का आय तथा सम्पत्ति से सम्बन्ध निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया है।

$$M = ky + k'A$$

M मुद्रा की मात्रा (कुल चलन की मात्रा तथा बैंकों में चालू जमा) का सूचक है, y मौद्रिक आय को सूचित करता है, k का वह भाग है जिसे लोग मुद्रा के रूप में रखते हैं, A कुल सम्पत्ति के मूल्य का सूचक है तथा k' सम्पत्ति का वह भाग है जो मुद्रा के रूप में रखा जाता है।

स्पष्ट है कि मार्शल द्वारा दिये गये उपर्युक्त समीकरण के दो भाग हैं–आय–भाग तथा सम्पत्ति–भाग। किन्तु व्यवहार में लोग अपनी आय को ही उपभोग के लिए काम में लाते हैं, इसलिए बाद में मार्शल के समर्थकों द्वारा सम्पत्ति–भाग (k'A) को अनावश्यक समझकर हटा दिया गया तथा समीकरण को निम्नलिखित रूप में स्वीकार किया गया :

$$M = ky$$

किसी भी वर्ष की कुल मौद्रिक आय उस वर्ष में कुल वास्तविक उत्पादन (O) तथा कीमत–स्तर (P) का गुणनफल होती है, इसलिए $Y = PO$।

चूंकि $M = kPO$ तथा $M = ky$ का एक ही अर्थ है, इसलिए यदि मार्शल के समीकरण को कीमत–स्तर के उद्धरण में प्रयुक्त किया जाय तो यह इस प्रकार होगा :

$$\mathbf{P = \frac{M}{kO}}$$

यदि (P) के द्वारा वस्तु की एक इकाई की कीमत व्यक्त करने के बजाय मुद्रा की एक इकाई का मूल्य (क्रय–शक्ति) व्यक्त किया जाय तो समीकरण का रूप इस प्रकार होगा :

$$\mathbf{P = \frac{kO}{M}}$$

प्रो. पीगू का समीकरण

प्रो. पीगू ने मार्शल द्वारा दिये गये समीकरण को अधिक स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित समीकरण दिया है :

$$\mathbf{P = \frac{KR}{M}}$$

इस समीकरण में R से अभिप्राय समाज की वास्तविक आय से है जिसका किसी दिये हुए समय (उदाहरणार्थ, एक वर्ष) में उपभोग किया जाता है। K वास्तविक आय का वह अनुपात है जो मुद्रा के रूप में रखा गया है। M कुल मुद्रा की मात्रा को तथा P मुद्रा के मूल्य का सूचक है।

समाज में लोग अपनी आय नकदी के रूप में रखने के अतिरिक्त बैंक–जमाओं (bank deposits) के रूप में भी रखते हैं। प्रो. पीगू ने बैंक–जमाओं का पृथक स्थान दिया है जबकि कैम्ब्रिज समीकरण के मौलिक रूप P, K, R तथा M का वही अर्थ है जो पहले समीकरण में था। C का अभिप्राय उस (विधिग्राह्य) नकद राशि से है जिसे जनता अपने पास रखती है। h बैंक–जमाओं का वह अनुपात है जिसे बैंक अपने पास नकदी के रूप में रखते हैं। 1-C विधिग्राह्य नकद कोषों का वह भाग है जिसे लोग बैंकों में जमाओं के रूप में रखते हैं।

रॉबर्टसन का समीकरण

रॉबर्टसन ने एक अलग समीकरण दिया है। उन्होंने नकद कोष समीकरण को निम्न प्रकार प्रकट किया है :

$$M = PKT \text{ अथवा } \mathbf{P = \frac{M}{KT}}$$

राबर्टसन ने P, M, T आदि की परिभाषाएँ फिशर के समीकरण के अनुसार मान ली हैं और K मार्शल के समीकरण से ले लिया है। इस समीकरण में भी यदि P का अर्थ मुद्रा की एक इकाई का मूल्य मान लिया जाय तो समीकरण का रूप यह होगा :

$$\mathbf{P = \frac{KT}{M}}$$

कैम्ब्रिज समीकरण में केन्स का समीकरण

लार्ड केन्स भी कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के सदस्य थे, परन्तु पीगू द्वारा दिये गये समीकरण से सन्तुष्ट न होने के कारण उन्होंने अपनी पुस्तक *'A Tract on Monetary Reform'* में परिमाण सिद्धान्त का एक अलग से समीकरण दिया। केन्स की मान्यता यह थी कि उपभोग इकाइयों (consumption units) से सम्बन्धित वास्तविक लेन–देन (real transactions) की एक निश्चित मात्रा के बराबर लोग अपने पास वास्तविक शेष (real balance) रखते हैं। वास्तविक शेष तथा वास्तविक लेन–देन की मात्राओं के आपसी सम्बन्ध अपरिवर्तित रहने पर नकद शेष की मात्रा वास्तविक शेष में सम्मिलित उपभोग–इकाइयों की कीमतों द्वारा निर्धारित होती है। केन्स द्वारा दिया गया समीकरण जिसे 'वास्तविक शेष समीकरण (Real Balance Equation) कहते हैं, इस प्रकार है :

$$n = P (k + rk')$$

जिसमें n = चलन में नकद मुद्रा की कुल मात्रा, p = एक उपभोग–इकाई की कीमत, k = उपभोग–इकाइयों की संख्या जिन्हें समाज नकदी के रूप में रखना चाहता है, r = बैंकों के नकद कोष का इनकी जमाओं (deposIts) से अनुपात, k' = उपभोग–इकाइयों की संख्या जिन्हें समाज–बैंकों के रूप में रखना चाहता है। केन्स के समीकरण को परिवर्तित रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

$$p = \frac{n}{k+rk'}$$

इस प्रकार, k, k' तथा r स्थिर रहने पर (क्योंकि जनता की मुद्रा रखने की आदत में अल्प काल में परिवर्तन नहीं होता) p तथा n के परिवर्तनों के अनुपात में घटा–बढ़ी होती है। यह समीकरण बताता है कि मुद्रा की मांग वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पर निर्भर नहीं करती, अपितु जनता की नकदी के रूप में रखी मुद्रा पर आश्रित रहती है। कीमत–स्तर लोगों की उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं पर निर्भर करता है, क्योंकि इसी आधार पर लोग अपनी आय का एक भाग अपने पास नकदी के रूप में रखते हैं।

2.7 फिशर एवं केम्ब्रिज समीकरण में अंतर
(Difference between Fisher and Cambridge Equation)

फिशर और कैम्ब्रिज समीकरणों की तुलना करने पर यह पाया जाता है कि दोनों में निम्नलिखित समानतायें हैं–

1. दोनों समीकरणों में मूल्य स्तर को P द्वारा प्रकट किया गया है।
2. दोनों समीकरणों में समान चिन्हों का प्रयोग किया गया है।
3. फिशर ने अपने समीकरणों में T का प्रयोग व्यापरिक लेन–देन के व्यवहारों के लिए किया है। इसी प्रकार पीगू एवं कीन्स का नकद कोष (T) का ही मौद्रिक स्वरूप प्रकट करता है।
4. दोनों समीकरणों में मुद्रा की मात्रा को मूल्य निर्धारण के लिये उपभोग किया गया है।
5. फिशर ने मुद्रा की पूर्ति के लिये MV + M'V', पीगू ने M तथा कीन्स ने n को मुद्रा की पूर्ति के लिये प्रयोग किया है।

असमानताएं

दोनों समीकरणों में अंतर है–

1. फिशर तथा कैम्ब्रिज विचारधारा में मुख्य अन्तर 'मुद्रा की मांग' की अवधारणा की व्याख्या में है।

फिशर के अनुसार मुद्रा की मांग व्यापार की मात्रा (T) पर निर्भर करती है, अर्थात् मुद्रा की माँग तुरन्त व्यय करने के लिए की जाती है, जबकि कैम्ब्रिज विचारधारा के अनुसार मुद्रा की माँग मुद्रा–संचय करने के लिए की जाती है।

2. कीमत–स्तर (P) के निर्धारण में फिशन ने मुद्रा के परिमाण (अर्थात् पूर्ति) को महत्वपूर्ण माना है, जबकि कैम्ब्रिज विचारधारा के अन्तर्गत मुद्रा की मांग को अधिक महत्व दिया गया है।

3. फिशर के समीकरण में P का सम्बन्ध सामान्य कीमत–स्तर से है, परन्तु कैम्ब्रिज समीकरण में P का सम्बन्ध केवल उपभोग की वस्तुओं से है।

4. फिशर का समीकरण P का वह चित्र प्रस्तुत करता है जो क्रय–विक्रय के समाप्त होने के बाद (transaction ex-post) उत्पन्न होता है, जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में P क्रय–विक्रय पूर्व (transaction ex-ante) का चित्र है।

5. फिशर समय की एक अवधि (period of time) की ओर संकेत करता है जिसमें मुद्रा विनिमय–भुगतानी (Transactions) के लिए आवश्यक समझी जाती है। इसके विपरीत, कैम्ब्रिज समीकरण एक नियत समय (point of time) की ओर संकेत करता है जिसमें समाज भविष्य के लेन–देन के लिए नकद कोष रखना चाहता है।

6. फिशर के समीकरण में मुद्रा की चलन–गति (V) पर जोर दिया गया है, जबकि कैंम्ब्रिज समीकरण में नकद शेषों (cash balances) अथवा K पर जोर दिया गया है। रॉबर्टसन के अनुसार फिशर के समीकरण का सम्बन्ध उड़ती हुई मुद्रा (money on the wings) से है, और कैम्ब्रिज समीकरण का सम्बन्ध बैठी हुई मुद्रा (money sitting) से है। दूसरे शब्दों में, फिशर की साख में मुद्रा के विनिमय–माध्यम सम्बन्धी कार्य पर बल दिया गया है, जबकि कैम्ब्रिज व्याख्या इसके मूल्य–संचय कार्य पर बल देती है।

7. फिशर द्वारा दी गयी व्याख्या दीर्घकालीन है, जबकि कैम्ब्रिज व्याख्या अल्प काल को अधिक महत्व देती है।

8. फिशर के समीकरण में T के अन्तर्गत सभी प्रकार के लेन–देन सम्मिलित किये जाते हैं, जबकि कैम्ब्रिज समीकरण में R का सम्बन्ध वास्तविक आय अर्थात् अन्तिम उपभोग के लिए वार्षिक

उत्पादन की मात्रा से है। इस प्रकार, फिशर की व्याख्या में P से अभिप्राय सामान्य कीमत–स्तर से है, जबकि कैम्ब्रिज व्याख्या में इसका सम्बन्ध अन्तिम उपभोग की वस्तुओं तक सीमित है।

9. V को 1/K के बराबर मान लेना ठीक नहीं है। वार्षिक भुगतानों का मूल्य कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय के मूल्य से अधिक होने के कारण V का आकार 1/K से बड़ा होता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा की आय–गति (Income velocity of money) मुद्रा की चलन–गति (velocity of circulation) से भिन्न है।

स्पष्ट है कि कैम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण से काफी भिन्न है और वह नये स्वरूप में प्रस्तुत किया गया एक नया विचार है।

2.8 कैम्ब्रिज विचारधारा की श्रेष्ठता

कैम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण का एक सुधार माना जाता है। फिशर की व्याख्या की तुलना में कैम्ब्रिज व्याख्या की श्रेष्ठता निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो जाती है :

1. कैम्ब्रिज समीकरण मुद्रा की मांग तथा पूर्ति दोनों के व्यावहारिक विश्लेषण पर आधारित है, अतः यह मुद्रा के मूल्य–निर्धारण सिद्धान्त को मांग तथा पूर्ति के सामान्य मूल्य–निर्धारण सिद्धान्त से समन्वित कर देता है।

2. फिशर की व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं होता कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने से कीमत–स्तर में कैसे परिवर्तन होता है, परन्तु कैम्ब्रिज व्याख्या कारण–परिमाण सम्बन्ध को स्पष्ट कर देती है। मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने पर भी मुद्रा रखने की इच्छा में परिवर्तन कीमतों में परिवर्तन का कारण बन सकता है।

3. फिशर की व्याख्या केवल दीर्घकालीन परिवर्तनों को ही महत्व देती है, परन्तु कैम्ब्रिज व्याख्या अल्पकालीन परिवर्तनों का भी समाधान प्रस्तुत करती है।

4. हिक्स के अनुसार, कैम्ब्रिज व्याख्या में वस्तुओं की मांग के वास्तविक कारण पर प्रकाश डाला गया है और उसके प्रभाव को भी स्पष्ट किया गया है। फिशर की व्याख्या इस दशा में निष्क्रिय है।

5. कैम्ब्रिज व्याख्या के आधार पर तरलता–प्राथमिकता सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory) का निर्माण हुआ है जो आय व रोजगार के निर्धारण में तथा आर्थिक संकट का नियन्त्रण करने की दृष्टि से मौद्रिक अधिकारियों की सीमाओं को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

2.9 कैम्ब्रिज समीकरण की आलोचनाएँ

फिशर द्वारा दी गयी व्याख्या से कैम्ब्रिज व्याख्या श्रेष्ठ होते हुए भी आलोचना से रहित नहीं है। इसकी प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

1. यह समीकरण केवल उपभोग वस्तुओं से सम्बन्धित मुद्रा की मांग पर ध्यान देता है, जबकि वास्तविक जीवन में मुद्रा की मांग अनेक कारणों से की जाती है।

2. बैंकों के चालू खातों में जमाराशि को मुद्रा की मांग माना गया है हो कि आय का एक भाग होती है। किन्तु व्यावहारिक जीवन में व्यापारी लोग बैंकों से ऋण लेते हैं जिनकी रकमें उनके खातों में जमा हो जाती हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसी जमाओं को, जिसका आय से सीधा सम्बन्ध नहीं है, नकद शेषों में सम्मिलित किया जाय अथवा नहीं।

3. बैंकों की जमाराशियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं, जैसे चालू बचत तथा स्थायी जमा आदि। कैम्ब्रिज व्याख्या में उन कठिनाइयों की ओर ध्यान नहीं दिया गया जो विभिन्न प्रकार की जमाराशियों के अनुपात में परिवर्तन होने से उत्पन्न होती हैं।

4. इस समीकरण में यह माना गया है कि नकद कोष की मात्रा K से प्रभावित होती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि मुद्रा की मात्रा (M अथवा n) में परिवर्तन न होने पर R तथा K दोनों ही प्रभावित होते हैं। इन दोनों में से कोई भी तत्व स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु इस ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

5. यह सिद्धान्त अर्थ–व्यवस्था में प्रावैगिक प्रवृत्ति की जटिल समस्याओं की व्याख्या करने में असमर्थ है। इसके आधार पर यह भी निश्चित नहीं किया जा सकता कि कीमतों में वृद्धि होने पर उत्पादन अथवा आय में कितनी वृद्धि होगी।

2.10 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धांत यह बताता है कि मुद्रा का परिमाण ही कीमत स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य का प्रमुख निर्धारक है। यदि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होगा तो वह ठीक उसी अनुपात में कीमत स्तर में परिवर्तन ला देगा। सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि मुद्रा की मात्रा तथा सामान्य कीमत स्तर में सीधा समानुपातिक सम्बन्ध होता है। जबकि मुद्रा की मात्रा का मुद्रा के मूल्य के साथ विपरीत सम्बन्ध होता है। फिशर का समीकरण मुद्रा के पूर्ति पक्ष पर अत्यधिक बल देता है। उसके विपरीत कैम्ब्रिज समीकरण मुद्रा के मांग और पूर्ति दोनों पक्षों पर बल देता है। रॉबर्टसन ने दोनों समीकरणों के अध्ययन के बाद यह कहा कि फिशर का समीकरण 'गतिशील मुद्रा' (money on wings) है जबकि कैम्ब्रिज समीकरण को 'अगतिशील मुद्रा' (Money on Sitting) कहा। कैम्ब्रिज समीकरण में अगतिशील मुद्रा की मांग को प्रकट करती है।

2.11 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा के परिमाण सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2- मुद्रा के मूल्य से क्या अभिप्रय है? क्या फिशर का समीकरण मुद्रा के मूल्य निर्धारण की एक सन्तोषजनक व्याख्या है?

प्रश्न 3- मुद्रा परिमाण सिद्धांत का कैम्ब्रिज समीकरण दीजिए। क्या आप इसे फिशर के समीकरण में एक सुधार मानते हैं?

प्रश्न 4- फिशर के समीकरण और कैम्ब्रिज समीकरण में क्या अंतर है? दोनों में कौन समीकरण अधिक श्रेष्ठ है?

2.12 शब्दावली

मुद्रा का मूल्य	:	Value of Money
मुद्रा का परिमाण	:	Quantity of Money
मुद्रा की चलन गति	:	Velocity of Circulation of Money
सापेक्षिक कीमतें	:	Relative Prices
नगद शेष	:	Cash Balance
मुद्रा का मांग	:	Demand of Money
तरलता पसंदगी	:	Liquidity Preference
वास्तविक शेष	:	Real Balance

2.13 संदर्भ सूची

Crowther	:	An Outline of Money, Chap. 8.
Fisher	:	The Purchasing Power of Money
Chandler	:	Introduction to Monetary Theory, Chap. 1-4
M.L. Jhingan	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र
G.N. Halm	:	Monetary Theory, Chap. 11-15.
Keynes	:	A Treatise on Money, Vol. I Chap. 10, 14, 15.

इकाई– 03
कीन्स का मौलिक समीकरण एवं आधुनिक सिद्धान्त

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना (कीन्स का मौलिक समीकरण)
3.2 कीन्स के मौलिक समीकरण की आलोचनाएं
3.3 मुद्रा मूल्य का आय सिद्धान्त अथवा बचत एवं निवेश सिद्धान्त
3.4 आय व्यय के मूल तत्व
3.5 सारांश
3.6 बोध प्रश्न
3.7 शब्दावली
3.8 संदर्भ सूची

3.0 उद्देश्य

मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी व्यापार के खंड 01–मुद्रा की अवधारणा एवं मुद्रा का मूल्य के अन्तर्गत इस इकाई के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. कीमत स्तर को निर्धारित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण तत्व मुद्रा की पूर्ति नहीं है।
2. कीन्स के मौलिक समीकरण के अंतर्गत एक उपभोग वस्तु की कीमत जबकि दूसरा सम्पूर्ण उत्पादन के कीमत स्तर से संबंधित है।
3. कीमत स्तर के निर्धारण में आधुनिक सिद्धांत के रूप में आय सिद्धांत की भूमिका क्या है?
4. कीमतों का निर्धारण वास्तविक आय और मौद्रिक आय के आधार पर होता है।
5. कीमत निर्धारण में आय–व्यय अथवा बचत विनियोग किस प्रकार क्रियाशील होता है?

कीन्स का मौलिक समीकरण
(Keynes Fundamental Equations)

3.1 प्रस्तावना

कीन्स ने अपनी पुस्तक A Treatise on Money में अपने वास्तविक शेष समीकरण (Real Balance Equation) के दोषों को अनुभव करते हुए उसमें सुधार के रूप में मौलिक समीकरणों का प्रतिपादन किया। कीन्स ने अपने मौलिक समीकरणों में केवल मुद्रा की मात्रा एवं कीमत स्तर के सम्बन्धों का ही अध्ययन नहीं किया अपितु इन समीकरणों की सहायता से उसने मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों का उत्पादन, आय के वितरण, पूँजी संचय आदि पर पड़ने वाले प्रभावों का भी अध्ययन करने का प्रयास किया है। कीन्स ने ब्याज की दर एवं नकद शेषों के स्टॉक को कीमत स्तर से सम्बन्धित किया तथा यह स्प्ष्ट करने का प्रयास किया कि किस तरह बचत एवं विनियोग के असन्तुलन से कीमत स्तर तथा मुद्रा मूल्य प्रभावित होते हैं।

कीन्स ने मुद्रा मूल्य के निर्धारण हेतु दो मौलिक समीकरण प्रस्तुत किये–एक उपभोग वस्तुओं की कीमत–स्तर से सम्बन्धित है, जबकि दूसरा सम्पूर्ण उत्पादन के कीमत स्तर से सम्बन्धित है।

$$\text{प्रथम समीकरण : } \mathbf{P} = \frac{\mathbf{E}}{\mathbf{O}} + \frac{\mathbf{I' - S}}{\mathbf{R}}$$

$$\text{द्वितीय समीकरण : } \boldsymbol{\pi} = \frac{\mathbf{E}}{\mathbf{O}} + \frac{\mathbf{I - S}}{\mathbf{O}}$$

कीन्स के मौलिक समीकरणों में प्रयुक्त किए गए संकेतों अथवा अक्षरों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

P = उपभोग वस्तुओं का प्रति इकाई मूल्य।

E = किसी अवधि में समाज में उत्पत्ति के साधनों की कुल आय अथवा कुल उत्पादन लागत।
O = वस्तुओं की वह कुल मात्रा जिसका किसी दी हुई समयावधि में उत्पादन किया जाता है।
I' = नई निवेश वस्तुओं की उत्पादन लागत।
I = नई निवेश वस्तुओं का बाजार मूल्य।
S = समाज की कुल बचत।
R = बाजार में बिक्री के लिए प्रस्तुत उपभोग वस्तुओं की इकाइयां
C = निवेश इकाइयों की उस मात्रा को सूचित करता है जिसका इस अवधि में उत्पादन होता है।

इस तरह कुल उत्पादन की मात्रा (O), कुल उपभोग वस्तुओं की मात्रा (R) एवं कुल निवेश वस्तुओं की मात्रा (C) के बराबर है, अर्थात् O = R + C

$\boldsymbol{\pi}$ = कुल उत्पादन की एक इकाई का मूल्य।

कीन्स का प्रथम मौलिक समीकरण : $\mathbf{P} = \frac{\mathbf{E}}{\mathbf{O}} + \frac{\mathbf{I' - S}}{\mathbf{R}}$

निम्नलिखित तथ्यों का संकेत करता है :

1. समीकरण में प्रयुक्त $\frac{\mathbf{E}}{\mathbf{O}}$ कुल उत्पादन की प्रति इकाई लागत को व्यक्त करता है।

2. उपभोग वस्तुओं की उत्पादन लागत = E – I'

उपभोग वस्तुओं का विक्रय मूल्य = E – S

अतः उपभोक्ता वस्तुओं का बिक्री से लाभ = (E – S) – (E – I')

= I' – S

चूंकि उपभोक्ता वस्तुओं की कुल इकाईयां जो बिक्री के लिए उपलब्ध हैं = R

अतः उपभोग वस्तुओं पर प्रति इकाई लाभ = $\frac{\mathbf{I' - S}}{\mathbf{R}}$ होगा।

इस तरह किन्स का प्रथम मौलिक समीकरण उपभोग वस्तुओं के प्रति इकाई मूल्य (P) एवं

उपभोग वस्तु की प्रति इकाई उत्पादन लागत $\left(\frac{\boldsymbol{E}}{\boldsymbol{O}}\right)$ तथा उपभोग वस्तु पर प्रति इकाई लाभ $\frac{\mathbf{I' - S}}{\mathbf{R}}$ के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करता है।

कीन्स का उपरोक्त प्रथम मौलिक समीकरण इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि उपभोग वस्तुओं के मूल्य स्तर (P) में निम्नलिखित किन्हीं भी तीन तत्वों में से किसी भी तत्व में परिवर्तन होने के फलस्वरूप परिवर्तन हो सकते हैं :

(I) वस्तुओं की प्रति इकाई उत्पादन लागत (E/O);
(II) नई निवेश वस्तुओं की उत्पादन लागत (I');
(III) कुल बचत (S)।

कीन्स ने यह भी स्पष्ट किया कि उपभोग वस्तुओं की कीमत, उत्पादन लागत $\left(\frac{\boldsymbol{E}}{\boldsymbol{O}}\right)$ से दीर्घकाल में एवं नए निवेश (I') तथा बचत (S) की स्थिति के अनुसार, अल्पकाल में परिवर्तित रहती है।

कीन्स का दूसरा मौलिक समीकरण : $\boldsymbol{\pi} = \frac{\mathbf{E}}{\mathbf{O}} + \frac{\mathbf{I - S}}{\mathbf{O}}$

निम्नलिखित तथ्यों की ओर संकेत करता है :

कुल उत्पादन की प्रति इकाई मूल्य $\boldsymbol{\pi}$ तभी स्थिर रह सकता है जब कि प्रति इकाई उत्पदन लागत $\left(\frac{\mathbf{E}}{\mathbf{O}}\right)$ स्थिर रहे तथा नई निवेश वस्तुओं का कुल बाजार मूल्य (I) कुल बचतों (S) के बराबर रहे। यदि नई निवेश वस्तुओं का कुल बाजार मूल्य (I) कुल बचत (S) से अधिक अथवा कम हो जाता है तो $\boldsymbol{\pi}$ भी कम अथवा अधिक हो जाएगा। अन्य शब्दों में, प्रथम समीकरण की ही भांति द्वितीय समीकरण में भी निम्नलिखित किन्हीं भी तीन तत्वों से परिवर्तन हो सकते हैं :

(I) वस्तुओं की प्रति इकाई उत्पादन लागत $\left(\frac{\mathbf{E}}{\mathbf{O}}\right)$।
(II) नई निवेश वस्तुओं का बाजार मूल्य (I)।
(III) कुल बचत (S)।

कीन्स के अनुसार दीर्घकाल में कुल उत्पादन का मूल्य स्तर वस्तु की प्रति इकाई उत्पादन लागत (E, O) पर निर्भर करता है, किन्तु अल्पकाल में यह नए निवेश एवं बचत के सम्बन्ध के अनुसार बदलता रहता है।

कीन्स की मौलिक समीकरणों के विवेचन से स्प्ष्ट होता है कि :

(I) मुद्रा के मूल्य निर्धारण (अथवा वस्तुओं के कीमत निर्धारण) में मुद्रा के स्थान पर आय, उत्पादन, उपभोग, नए निवेश तथा बचत आदि तत्वों को अधिक महत्व प्रदान किया गया है।

(II) उपभोग पदार्थों की कीमतें उत्पादन की प्रति इकाई लागत तथा प्रति इकाई लाभ दर के जोड़ के बराबर होती है।

(III) सन्तुलन की दशा में मुद्रा की मात्रा तथा P तथा **π** के बीच फलनात्मक सम्बन्ध होता है। इसको स्पष्ट करते हुए कीन्स ने लिखा है कि, "वास्तव में इसका अर्थ यह है कि सन्तुलन की दशा में, अर्थात् जब उत्पदन के साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त होता है, जब जनता ऋणपत्रों के प्रति न तो अधिक निराशावादी ((bearish) होती है और न ही अधिक आशावादी (bullish) होती है तथा जमाओं (deposIts) एवं बचतों (savings) के रूप में अपने कुल धन का केवल सामान्य अनुपात संचित रखती है और जब कुल बचत (S) नई निवेश वस्तुओं की उत्पादन लागत (I') तथा बाजार मूल्य (I) के बराबर होती है तब ऐसी स्थिति में मुद्रा की मात्रा और उपभोग वस्तुओं के कीमत स्तर (P) तथा कुल उत्पादन के कीमत स्तर (**π**) के मध्य एक इस तरह का आदर्श सम्बन्ध होता है कि यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर दी जाय तो वे दोनों कीमत स्तर, अर्थात् P और (**π**) भी दुगुने हो जाएंगे।"

3.2 मौलिक समीकरणों की आलोचनायें

1. कीन्स के मौलिक समीकरण मूल्यों वे होने वाले परिवर्तनों की क्रम विधि को स्पष्ट करने में असमर्थ है।

2. कीन्स के अनुसार मन्दीकाल में निम्न उत्पदन स्तर पर बचत एवं विनियोग में सन्तुलन नहीं रहता है जिसके परिणाम स्वरूप अर्थ–व्यवस्था अस्त–व्यस्त हो जाती है, जबकि वास्तविकता यह है कि बचत एवं विनियोग की समानता को अस्त व्यस्त अर्थ–व्यवस्था में भी प्राप्त किया जा सकता है।

3. कीन्स का मौलिक समीकरण स्थिर परिस्थितियों में लागू होते हैं, जबकि विश्व परिवर्तनशील है, ऐसे में कीन्स का मौलिक समीकरण संदेहास्पद है।

4. कीन्स समयावधि के विचार को स्पष्ट नहीं कर पाये हैं।

5. ब्याज दर को व्यापार की स्थिति एवं मूल्यों पर नियन्त्रण रखने का एक मात्र साधन मानना उचित नहीं है।

6. कीन्स के मौलिक समीकरणों का व्यावहारिक जीवन में कुछ भी महत्व नहीं है, क्योंकि वर्तमान सांख्यिकीशास्त्र की अवस्था में इनको सरलता से निर्धारित नहीं किया जा सकता।

7. कीन्स के मौलिक समीकरणों में नवीनता का अभाव पाया जाता है, इस बात को कीन्स ने स्वयं स्वीकार किया है।

8. कीन्स के मौलिक समीकरण उत्पादन की अवास्तविक मान्यता पर आधारित हैं।

9. कीन्स के मौलिक समीकरण मूल्य स्तर में परिवर्तन को प्रेरित करने वाली शक्तियों की व्याख्या करने में असमर्थ रहते हैं।

10. मौलिक समीकरण में कुल बचत, उत्पादन लागत व मूल्य में अन्तर सम्बन्धी विचार एवं परिभाषायें दोष–पूर्ण हैं।

11. मौलिक समीकरण स्थिर अर्थव्यवस्था में लागू होते हैं, जबकि वर्तमान अर्थव्यवस्था गतिशील है।

कीन्स ने अपनी मौलिक समीकरणों में मुद्रा मूल्य की धारणा को परम्परागत व्यवस्था की कैद से निकालकर आधुनिकता की ओर ले जाने के प्रयास किये हैं। कीन्स का विश्लेषण परम्परावादी एवं रूढ़िगत न होकर विकासवादी व आधुनिक है। इन समीकरणों में उत्पादन, उपभोग, विनियोग, बचत, आय व व्यय आदि के महत्व को स्वीकार किया गया है। कीन्स का दृष्टिकोण क्रान्तिकारी रहा है जिसने सबल सिद्धान्तों का सहारा लिया है। इस प्रकार इसका अर्थ वास्तव में यह है कि साम्य की अवस्था में–जबकि उत्पत्ति के साधन पूर्णरूप से लगे हुये हों तथा जनता प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में न तो तेजी और न ही मन्दी की अवस्था में में हो तथा समस्त सम्पत्ति की तुलना में सामान्य

ढंग से न अधिक और न कम बचत कोष बनाये रखे हो और जब बचत की मात्रा लागत एवं नवीन विनियोग की लागत के बराबर हो और जब बचत की मात्रा लागत एवं नवीन विनियोग की लागत के बराबर हो–मुद्रा की मात्रा एवं उपभोग वस्तुओं के मूल्य स्तर एवं सम्पूर्ण उत्पादन में सामान्य सम्बन्ध इस प्रकृति का हो कि यदि मुद्रा की मात्रा को दुगुना कर दिया जाये तो मूल्य स्तर भी दुगुने हो जायेंगे। अतः मौलिक समीकरणों के द्वारा कीन्स ने उन्हीं समस्त कारणों का उल्लेख किया जो वस्तुओं के मूल्यों को निर्धारित करते हैं।

3.3 मुद्रा–मूल्य का आय सिद्धान्त अथवा बचत एवं निवेश सिद्धान्त (Income Theory of Money or saving and Investment Theory)

मुद्रा का आय सिद्धान्त (Income Theory of Money) मुद्रा के मूल्य–निर्धारण में बचत तथा निवेश को महत्व देता है, इसलिए इसे बचत तथा निवेश सिद्धान्त (Saving and Investment Theory) भी कहा जाता है।

यह सिद्धान्त केन्स की ही देन समझा जाता है, यद्यपि इसे केन्स के पूर्व भी प्रस्तुत किया जा चुका था। इसका उल्लेख टूक, विकसेल, आफ्तालियों, शुम्पिटर, हॉट्रे, तथा रॉबर्टसन के लेखों में मिलता है। सर्वप्रथम, 1844 में टॉमस टूक ने लिखा था कि कीमतों का निर्धारण मुद्रा की मात्रा से नहीं वरन् मौद्रिक आय से होता है, मुद्रा की मात्रा तो स्वयं कीमतों का परिणाम है। टूक के सिद्धान्त को आधार मानते हुए स्वीडन के अर्थशास्त्री विकसेल ने यह मत प्रकट किया कि कीमतों पर आय का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। विकसेल के अनुसार, आय में परिवर्तन सामान्य ब्याज–दर (natural rate of Interest) तथा बाजार ब्याज–दर (market rate of Interest) पर निर्भर करता है। ब्याज–दर सन्तुलित होने पर आय स्थायी होती है तथा कीमतें भी स्थिर रहती हैं। ब्याज–दर कम होने पर विनियोग अधिक होगा, आय में वृद्धि होगी तथा कीमत–स्तर ऊँचा होगा। ऊँची ब्याज–दर का प्रभाव इसके विपरीत होगा।

सन् 1925 में फ्रांसीसी अर्थशास्त्री आफ्तालियों ने आय सिद्धान्त को समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया। वह समीकरण R = PQ है, जिसमें R = मौद्रिक आय, P = कीमत–स्तर, Q = कुल उत्पादन है। इसके आधार पर आफ्तालियों ने विचार प्रकट किया कि कीमत–स्तर में परिवर्तन मौद्रिक आय तथा वास्तविक आय (उत्पादन) के परस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है। वास्तविक आय से मौद्रिक आय अधिक होने प्र कीमत–स्तर बढ़ता है तथा मौद्रिक आय कम रहने पर घटता है।

आय सिद्धान्त का श्रेय केन्स को इसलिए दिया जाता है कि उन्होंने इसे एक स्पष्ट तथा सरल समीकरण के रूप में प्रस्तुत किया तथा आय के निर्धारक तत्वों की व्याख्या बचत एवं निवेश के आधार पर की। इसीलिए आय सिद्धान्त को बचत एवं निवेश सिद्धान्त को बचत एवं निवेश सिद्धान्त भी कहा जाता है। केन्स के विचारों में परिवर्तन होता रहा। 'A Treatise on Money' में केन्स द्वारा व्यक्त किये गये विचार विकसेल के विचारों से मिलते थे। परन्तु अपनी महान पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' (1939) में उन्होंने पुराने विचारों को बिल्कुल बदल दिया और निम्नलिखित समीकरण प्रस्तुत किया :

	Y = C = + S	Y = कुल आय (Total Income)
	Y = C + I	C = उप्भोग (ConsumptIon)
अथवा	I = Y – C	S = बचत (SavIng)
	S = Y – C	I = निवेश (Instrument)
	C + S = C – I	
	अतः S = I	

बचत 'आय' का वह भाग है जो उप्भोग पर व्यय नहीं किया जाता तथा निवेश आय का वह भाग है जो पूँजीगत वस्तुओं (capital goods) पर व्यय किया जाता है। चूँकि आय केवल दो प्रकार से प्रयोग की जाती है : उपभोग पर व्यय तथाबचत, इसलिए कुल आय = उपभोग + बचत (C + S)।

केन्स की यह मान्यता है कि सन्तुलन की स्थिति में बचत (S) तथा निवेश (I) दोनों समान रहते हैं। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से इनमें अन्तर होना सम्भव है, परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से नहीं। इसीलिए यह कहना कि कुल आय C + S के बराबर होती है अथवा C + I के बराबर होती है, एक ही बात है। समाज की कुल बचत (S) बराबर होती है आय–उप्भोग (S = Y – C) के इसलिए विनियोग (I) भी Y – C के बराबर होना चाहिए, क्योंकि बचत तथा विनियोग दोनों बराबर होंगे, अतएव S = I.

केन्स के अनुसार देश की अर्थ–व्यवस्था में सन्तुलन (equilibrium) तभी तक रहता है जब तक कि बचत तथा विनियोग में समानता होती है। इनमें असमानता होने पर असन्तुलन (disequilibrium) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। बचत की मात्रा निवेश की मात्रा से अधिक होने पर कीमत–स्तर ऊँचा उठता है (अथवा मुद्रा का मूल्य बढ़ता है), और निवेश बचत से अधिक होने पर कीमत–स्तर ऊँचा उठता है (अथवा मुद्रा का मूल्य गिरता है)। बचत तथा निवेश बराबर रहने पर सन्तुलन की स्थिति होती है। यह वह स्थिति है जिसमें समाज द्वारा आय–प्रवाह में से बचत के रूप में ठीक उतना भाग निकाला जाता है जितना कि निवेश के द्वारा पुनः इस धारा के बहाव में मिला दिया जाता है।

जिस प्रकार मांग और पूर्ति में सन्तुलन कीमतों के परिवर्तनों के द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार बचत और निवेश में सन्तुलन आय–स्तर में परिवर्तनों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। जैसे माँग और पूर्ति में सन्तुलन तभी स्थाप्ति होता है जब कीमत भी सन्तुलित होती है, वैसे ही बचत तथा निवेश भी सन्तुलित आय की स्थिति में ही एक–दूसरे के बराबर होते हैं। आय के सन्तुलन–स्तर के आगे–पीछे इनमें बराबर होने की प्रवृत्ति तो होती है किन्तु बराबर होते नहीं है। केन्स का विचार है कि अल्प काल में बचत की प्रवृत्ति प्रायः स्थिर रहती है, इसलिए निवेश की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का ही रोजगार तथ मौद्रिक आय में परिवर्तनों के द्वारा कीमतों पर प्रभाव प्ड़ता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम न होकर आय में होने वाले परिवर्तनों का परिणाम होता है।

3.4 आय–सिद्धान्त के मूल तत्व
(Major Propositions of Income Theory)

आय सिद्धान्त की व्याख्या में अर्थ–व्यवस्था के विभिन्न पहलू एक–दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए इन सभी के व्यवहार का अध्ययन करना आवश्यक होता है। इसे समझने के लिए निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी होंगी–

1. आय सिद्धान्त के अनुसार, 'आय' की व्याख्या में 'मौद्रिक आय' (money Income) तथा 'वास्तविक आय' (real Income) दोनों ही सम्मिलित हैं। एक निश्चित अवधि में समाज की मौद्रिक आय का अर्थ उस अवधि में किये गये उत्पादन का कुल मौद्रिक मूल्य है जो कि उत्पादन की कुल मौद्रिक लागत (जिसमें लाभ भी सम्मिलित है) के बराबर है। इस प्रकार, इसका निर्धारण उन कीमतों के आधार पर होता है जो कि साहसियों द्वारा उत्पत्ति में लगे हुए साधनों को उनकी सेवाओं के बदले में दी जाती है। वास्तविक आय से अभिप्राय एक समाज द्वारा एक निश्चित काल में वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन की कुल मात्रा से है। इस प्रकार वास्तविक आय का निर्धारण किसी देश में उत्पादन की सुविधाओं तथा साहसियों द्वारा उनके उपयोग के निर्णय पर निर्भर करता है।

2. कुल प्रभावपूर्ण मांग का सम्बन्ध समाज द्वारा किये गये कुल व्यय से होता है। कुल व्यय से अभिप्राय समाज द्वारा उपभोग पदार्थों तथा निवेश पदार्थों को खरीदने में व्यय की गयी मुद्रा के जोड़ से है।

3. चूंकि कुल व्यय किसी निश्चित अवधि में बेची गयी सभी वस्तुओं के कुल मूल्य के बराबर होता है और समाज की कुल आय भी उपभोग तथा निवेश पदार्थों की बिक्री से प्राप्त होती है ($Y = C + I$), इसलिए कुल आय तथा कुल व्यय में समानता होती है।

4. आय सिद्धान्त की धारणा यह है कि एक व्यक्ति द्वारा किया गया व्यय दूसरे व्यक्ति की आय बन जाता है और दूसरे का व्यय तीसरे की आय। इस प्रकार एक विस्तृत चक्रीय प्रवाह (circular flow) के अन्तर्गत प्रत्येक व्यय नयी आय को उत्पन्न करता है जिसको पुनः व्यय करके और आय उत्पन्न की जाती है।

5. कुल व्यय समाज की प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण होने के कारण वास्तविक आय अथवा उत्पादन और रोजगार के स्तर निर्धारित करता है।

6. आय–व्यय व्याख्या के अन्तर्गत व्यय न केवल उत्पादन की मात्रा का निर्धारण करता है, बल्कि सामान्य कीमत–स्तर भी इसी के द्वारा प्रभावित होता है। व्यय में कमी होने पर उत्पादन अथवा वास्तविक आय में कमी के साथ–साथ कीमत–स्तर तथा मौद्रिक आय में कमी होती है और आर्थिक क्रियाओं में शिथिलता आती है।

7. हेन्सन के अनुसार, आय सिद्धान्त के अन्तर्गत कीमतों का निर्धारण 'मौद्रिक आय' तथा 'वास्तविक आय' के आधार पर होता है।

3.5 सारांश

बचत एवं निवेश के सिद्धान्त का जो विश्लेषण हमने किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक सन्तुलन–आय, रोजगार, कीमतों में स्थिरता–तभी प्राप्त किया जा सकता है जब बचत व निवेश में सन्तुलन स्थापित किया जा सके। परन्तु बचत एवं निवेश के सभी सन्तुलन आर्थिक सन्तुलन के द्योतक नहीं हैं। तेजी की स्थिति में बचत व निवेश का सन्तुलन उच्च स्तर पर और मन्दी की स्थिति में निम्न स्तर पर स्थापित हो जाता है। वास्तव में, वही साम्यावस्था आर्थिक सन्तुलन पैदा कर सकती है जो पूर्ण रोजगार की स्थिति के साथ स्थापित होती है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य–निर्धारण का आय सिद्धान्त एकाकी सिद्धान्त नहीं है, बल्कि, आय, उपभोग, रोजगार, बचत तथा निवेश आदि अनेक तत्वों को महत्व देता है। क्राउथर के अनुसार "बचत निवेश सिद्धांत पर्याप्त रूप से परिमाण सिद्धांत की अपेक्षा वस्तुओ की वास्तविकता के निकटतर है। इससे उन मूल प्रवृत्तियों का पता चलता है जिनकी मुद्रा और कीमत के व्यवहार लक्षण की सतह मात्र है।"

3.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- कीन्स के मूलभूत समीकरणों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2- कीन्स के मूलभूत समीकरणों की व्याख्या कीजिए। वे कैसे फिशर के विनिमय समीकरण के समान है?

प्रश्न 3- "मुद्रा का मूल्य, वस्तुतः मुद्रा की मात्रा की अपेक्षा कुल आय का परिणाम है।" चर्चा कीजिए।

प्रश्न 4- कीमत निर्धारण के आय–व्यय सिद्धांत के मूल तत्वों की व्याख्या कीजिए।

3.7 शब्दावली

मौद्रिक आय	:	Monetary Income
आय का प्रवाह	:	Flow of Income
उत्पादन का प्रवाह	:	Flow of Output
बाह्य तत्व	:	External Factor
सामान्य मूल्य स्तर	:	General Price Level
निरपेक्ष मूल्य	:	Absolute Price
प्रभावी मांग	:	Effective Demand

3.8 संदर्भ सूची

Crowther	:	An Outline of Money, Chap. 8.
Dudley Dillard	:	Economics of John Meynard Keynes, Chap. 2-3
Chandler	:	Introduction to Monetary Theory, Chap. 1-4
K. K. Kurihara	:	Monetary Theory of Public Policy, Cha. 8-12
G.N. Halm	:	Monetary Theory, Chap. 11-15.
Keynes	:	A Treatise on Money, Vol. I Chap. 10, 14, 15.

इकाई– 04
मुद्रा स्फीति एवं अवस्फीति, स्फीति के प्रकार, रोकने के उपाय

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 मुद्रा स्फीति के प्रकार
4.3 मुद्रा स्फीति के कारण
4.4 मुद्रा स्फीति का प्रभाव
4.5 मुद्रा स्फीति रोकने के उपाय
4.6 मांग–प्रेरित स्फीति एवं लागत–प्रेरित स्फीति
4.7 स्फीतिक अन्तराल
4.8 निस्पन्द –स्फीति
4.9 फिलिप्स वक्र
4.10 सारांश
4.11 बोध प्रश्न
4.12 शब्दावली
4.13 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. इस बात का पता लगाना कि मुद्रा स्फीति क्या है?

2. कीमत वृद्धि के मूल कारण क्या–क्या हैं?

3. जब कीमत वृद्धि खतरनाक हो जाता है जिससे लोगों के जीवन निर्वाह का स्तर गिर जाता है। ऐसे में कीमतों का नियन्त्रण कैसे किया जाता है? इस बात का पता लगाना।

4. मांग में अत्यधिक वृद्धि बाजार में वस्तुओं तथा सेवाओं के कीमतों को प्रभावित करती है। इस बात की जानकारी प्राप्त करना।

मुद्रा स्फीति (Inflation)

4.1 प्रस्तावना

मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा–स्फीति की परिभाषा भिन्न–भिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न–भिन्न प्रकार में की है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं– चैम्बर के 20वीं शताब्दी शब्दकोष के अनुसार "स्फीति उस स्थिति को कहते हैं, जिसमें मुद्रा अथवा साख मुद्रा अथवा दोनों ही की मात्रा में वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा की तुलना में अचानक तीव्र वृद्धि हो जाती है। स्फीति हमेशा मूल्य स्तर में वृद्धि उत्पन्न कर देती है।"

क्राउथर के अनुसार– "मुद्रा प्रसार वह अवस्था है जिसमें मुद्रा की मूल्य गिरता है और पदार्थों के मूल्य बढ़ते हैं।"

क्रेमरर के अनुसार–"मुद्रा प्रसार की अवस्था उस समय विद्यमान होती है, जबकि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा बहुत कम हो।"

प्रो० पीगू के अनुसार – "मुद्रा–स्फीति की अवस्था उस समय उत्पन्न होती है, जब मौद्रिक आय उत्पादक तत्वों की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रही हो।"

ग्रेगरी के अनुसार – "मुद्रा–स्फीति मुद्रा की मात्रा में असाधारण वृद्धि है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट है कि मुद्रा प्रसार की स्थिति में अर्थव्यवस्था में मूल्यों में वृद्धि होती है तथा विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में भिन्न मात्रा होने के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में असुन्तलन उत्पन्न हो जाता है। यद्यपि मुद्रा प्रसार का सम्बन्ध साधारणतया मूल्य स्तर में वृद्धि से होता है, परन्तु प्रत्येक वृद्धि को वास्तविक मुद्रा–स्फीति को स्थिति का सूचक नहीं माना जा सकता।"

4.2 मुद्रा स्फीति के प्रकार (Types of Inflation)

मुद्रा प्रसार मुख्यतः जिन कारणों से होता है, उनके आधार पर उसके निम्नलिखित भेद हैं–

1. चलन स्फीति (Currency Inflation)- जब किसी देश की सरकार आर्थिक संकट काल में वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जान–बूझकर अधिक मात्रा में पत्र मुद्रायें छाप देती है तो इसे चलन स्फीति कहते हैं।

2. पूर्व तथा आंशिक स्फीति (Full and Semi- Inflation)- स्फीति में इस प्रकार का भेद पो. पीगू ने किया है। अर्थव्यवस्था में पूर्ण स्फीति की अवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् मूल्य स्तर में वृद्धि होती है जब पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् मूल्य स्तर में वृद्धि होती है। पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त करने से पहले मूल्य की वृद्धि को हम पूर्ण स्फीति न कहकर केवल आंशिक स्फीति (Partial Inflation) कहेंगे, क्योंकि जब तक देश में पूर्ण रोजगार की अवस्था उत्पन्न नहीं होती उस समय तक मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण मूल्यों में वृद्धि होने के अतिरिक्त उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि हो पायेगी।

3. वस्तु स्फीति (Commodity Inflation)- उत्पादन और मुद्रा के परिमाण में होने वाले असन्तुलन द्वारा उत्पन्न मुद्रा–स्फीति को लार्ड कीन्स ने वस्तु स्फीति कहा है।

4. लाभ स्फीति (Profit Infiation)- अनेक बार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उत्पादन व्यय घट जाता है जिसके परिणामस्वरूप मूल्यों में गिरावट की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, परन्तु सरकार कृत्रिम उपायों से मूल्यों में स्थिरता रखने के लिये प्रयत्न करती है, तब इस अवस्था को कीन्स ने लाभ स्फीति की दशा कहा है।

5. साख स्फीति (Credit Inflation)- कभी–कभी सरकार वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये साख में विस्तार को भी प्रोत्साहित करती है। इस साख के कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे– ऋण का भार कम करने के लिये, देश की विकास योजनाओं को पूर्ण करने के लिये अथवा उत्पादन की गति को तीव्र करने के लिये। अतः जब धातु मुद्रा तथा पत्र मुद्रा की मात्रा यथा स्थिर रहते हुए साख मुद्रा का विस्तार हो जाता है तब इसे साख स्फीति की अवस्था कहते हैं।

6. अति स्फीति (Hyper Inflation)- अति स्फीति उस समय उत्पन्न होती है जब सरकार अत्यधिक पत्र मुद्रा निर्गमन की नीति का अवलम्बन कर लेती है और जिसके कारण मूल्य स्तर में बेहिसाब वृद्धि हो जाती है तब बढ़ी हुई कीमतों पर वस्तुयें खरीदने के लिये सरकार को पहले से अधिक मात्रा में पत्र मुद्रा का प्रकाशन करना पड़ता है जिससे कीमत स्तर में और भी वृद्धि हो जाती है। अतः जब किसी देश में मुद्रा की मात्रा में तनिक सी वृद्धि होते ही कीमतों में कई गुना वृद्धि हो जाती है तब मुद्रा–स्फीति की इस अवस्था को अति स्फीति (Hyper Inflation), अतिरिक्त स्फीति (Super Inflation) या सरपट दौड़ने वाली स्फीति (Galloping Inflation) कहते हैं।

7. रेंगती स्फीति (Creeping Inflation)- जब स्फीति उस समय उत्पन्न होती है, जब मूल्य स्तर में शनैः–शनैः वृद्धि होती है। इस प्रकार की स्फीति समाज के लिये विशेष घातक नहीं होती।

8. चलता हुआ मुद्रा प्रसार (Walking Inflation)- चलता हुआ मुद्रा प्रसार तथा रेंगते हुए मुद्रा प्रसार में सिर्फ एक अंश का अन्तर है। इस प्रकार में रेंगते हुए मुद्रा प्रसार की तुलना में कीमतों में तेजी के साथ वृद्धि होती है।

9. दौड़ता हुआ मुद्रा प्रसार (Running Inflation)- इसके अन्तर्गत कीमतें अधिक तीव्र गति से बढ़ने लगती हैं, जिसके कारण आर्थिक ढाँचा अस्त–व्यस्त हो जाता है।

10. वेतन प्रोत्साहित स्फीति (Wage Induced Inflation)- इस प्रकार की अवस्था तब उत्पन्न होती है जब श्रमिक संघों के दबाव के कारण श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि की जाती है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन लागत बढ़ जाती है और कीमतें भी ऊँची हो जाती हैं। इस प्रकार के मुद्रा प्रसार को 'वेतन प्रोत्साहित प्रसार' कहते हैं।

11. स्वतन्त्र मुद्रा प्रसार (Open Inflation)- जब किसी देश में मुद्रा प्रसार होते हुये भी सरकार उसको रोकने का प्रयत्न नहीं करती है और देश के निवासी मनमाने ढंग से अपनी मौद्रिक आय को व्यय करते हैं तो धीरे–धीरे उस देश में भयंकर मुद्रा स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की स्फीति को खुली हुई स्फीति या निष्कंटक स्फीति कहते हैं।

12. नियन्त्रित स्फीति (Suppressed Inflation)- जब मुद्रा प्रसार के परिणामस्वरूप देश की जनता की आय में वृद्धि हो जाती है, परन्तु सरकार उनकी मौद्रिक आय (Money Income) को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय नहीं करने देती है तो ऐसी अवस्था को शमन या छिपी हुई नियन्त्रित स्फीति कहते हैं।

13. उत्पादन मुद्रा–स्फीति (Production Inflation)- उत्पादन मुद्रा प्रसार की स्फीति जब उत्पन्न होती है जब देश में मुद्रा की मात्रा और साख की मात्रा में तो कोई वृद्धि न हो तो उत्पादन कम हो जाये। ऐसी दशा में कीमतों में वृद्धि हो जाती है।

14. घाटा प्रोत्साहित स्फीति (Deficit Induced Inflation)- ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब सरकार अपनी आय की तुलना में अधिक व्यय करती है। इस प्रकार बजट के को पूरा करने के लिये जो मुद्रा प्रसार किया जाता है, उसे घाटा प्रेरित कहते हैं।

4.3 मुद्रा स्फीति के कारण (The Causes of Inflation)

मुद्रा प्रसार मुख्यतः दो कारणों से होता है–

(1) मुद्रा की मात्रा में आवश्यकता से अधिक वृद्धि होने से।
(2) उत्पादन की कमी के कारण।

1. मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के कारण- मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होती है। वह स्वतन्त्र रूप से नही होती है अपितु अनेक कारण इसे प्रभावित करते हैं। देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि निम्न प्रकार से होती है–

(I) सरकारी नीति (Government Policy)- मुद्रा स्फीति का प्रमुख कारण सरकार की अर्थ नीति होती है। अनेक बार जानबूझ कर चलन की मात्रा वृद्धि कर तथा साख मुद्रा का विस्तार कर मूल्यों में वृद्धि करती है। युद्ध काल में सरकार को अक्सर ऐसा करना पड़ता है।

(II) हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing)– कभी–कभी सरकार को अपने घाटे के बजट को पूरा करने के लिए पत्र मुद्रा का प्रकाशन करना पड़ता है, इससे प्रचलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है और वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पूर्ववत् रहने पर लोगों की मौद्रिक आय बढ़ जाती है और मुद्रा स्फीति हो जाती है।

(III) मुद्रा की चलन गति तथा मुद्रा के प्रचलन वेग में वृद्धि–आधुनिक काल में यह कारण महत्वपूर्ण हो गया है। प्रमुखतया साख मुद्रा के भ्रमण वेग में तीव्रता आने के कारण मुद्रा की कुल मात्रा में भी अधिक वृद्धि हो जाती है और मूल्यों में स्फीतिक प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रायः सम्पन्नता (Prosperity) के काल में तो बैंकों के निक्षेपों की मात्रा तथा साख मुद्रा की चलन गति काफी अधिक बढ़ जाती है और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कर देती है जिससे जनता की मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है।

(iv) प्राकृतिक कारण (Natural Causes)–कभी–कभी प्रकृति भी मुद्रा प्रसार में सहायक होती है। जब कोई देश धातुमान पर आधारित होता है तो इन धातुओं की नई खानों का पता लग जाने से इन धातुओं में वृद्धि हो जाती है। फलस्वरूप मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होना स्वाभाविक है। वर्तमान काल में कोई भी धातुमान पर आधारित नहीं है। इस कारण मुद्रा स्फीति के प्राकृतिक कारण का केवल सैद्धान्तिक महत्व रह गया है।

(v) व्यापरिक बैंकों की साख निर्माण सम्बन्धी नीति– व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण नीति भी मुद्रा प्रसार में सहायक होती है। यदि इनसे ऋण लेने वाले ग्राहकों की संख्या अधिक है और उनके पास उधार देने के लिए पर्याप्त पूँजी है तो वे साख का विस्तार कर सकते हैं।

2. उत्पादन को कम करने वाले तत्व

उत्पत्ति की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व निम्नलिखित हैं–

(I) उत्पत्ति के साधनों का न्यून होना– यदि देश में उत्पत्ति के साधनों की दुर्लभता है तो उत्पादन में क्रमागत साख की प्रवृत्ति लागू होगी। इसके कारण उत्पादन लागत के साथ–साथ मूल्यों में वृद्धि हो जायेगी।

(II) औद्योगिक विवाद– औद्योगिक अशान्ति भी मुद्रा प्रसार को प्रोत्साहन देती है। जब देश में श्रमिक संघ संगठित हो जाते हैं और मजदूर पर्याप्त सुविधा तथा मजदूरी में वृद्धि के लिये हड़ताल आदि करते हैं तो उत्पादक संस्थायें बन्द रहती हैं जिसके कारण उत्पादन कम हो जाता है।

(III) प्राकृतिक कारण– देश में प्राकृतिक विपत्तियों के कारण उत्पादन कम हो जाता है, जैसे–भूचाल, बाढ़, सूखा, महामारी आदि।

(IV) उत्पादन के शिल्प सम्बन्धी परिवर्तन (Technological Changes)– आधुनिक काल में उद्योग–धन्धों में पुराने यन्त्रों के स्थान पर नये–नये यन्त्रों को स्थापित करना पड़ता है, जिसके कारण उत्पादन कार्य कुछ समय के लिये स्थगित करना पड़ता है, जिससे उस अवधि में मुद्रा स्फीति की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(v) सरकार की व्यापार तथा कर सम्बन्धी नीति– अनेक बार सरकार उत्पादन तथा वस्तुओं पर अधिक करारोपण कर देती है जिससे इन वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है और इनकी माँग में कमी हो जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन गिर जाता है। इसके अतिरिक्त जब सरकार विदेशों को अधिक निर्यात कर देती है तो वस्तुओं की कमी हो जाती है और इसका परिणाम मुद्रा प्रसार होता है।

4.4 मुद्रा प्रसार का प्रभाव
(Effects of Inflation)

मुद्रा प्रसार विभिन्न वर्गों को भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रभावित करता है। अर्थ–व्यवस्था के सभी अंगों पर इसका प्रभाव पड़ता है। यद्यपि समाज के कुछ वर्गों के लिये स्फीति लाभदायक होती है, परन्तु कुछ वर्गों को इसके कारण अनेक आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। साधारणतया मुद्रा स्फीति के सामाजिक, आर्थक तथा राजनैतिक परिणाम इतने अधिक गम्भीर होते हैं कि व्यक्ति इससे बचने का प्रयत्न करते हैं। मुद्रा प्रसार समाज में धन व आय का अन्यायपूर्ण वितरण कर देता है। प्रो. सी० एन० वकील ने मुद्रा प्रसार की तुलना एक डाकू से की है। उन्होंने लिखा है– वास्तव में, मुद्रा स्फीति का समाज के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ता है कि उसका विस्तृत अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

1. विनियोगी वर्ग पर प्रभाव (Effects on the Investors)- विनियोगी वर्ग से हमारा तात्पर्य उस वर्ग से होता है जो उद्योग व व्यवसाय में रुपये का विनियोग करता है और इस प्रकार लगाये हुये रुपये से समय–समय पर आय प्राप्त करता है। विनियोगी वर्ग को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(I) निश्चित आय प्राप्त करने वाला वर्ग–निश्चित आय वाले विनियोगियों में वे लोग आते हैं जो पूँजी वाली कम्पनियों में ऋण–पत्र धारी होते हैं और जिन्हें एक पूर्व निर्धारित रकम मिलती है। इसी प्रकार वे लोग जो अपनी पूँजी ब्याज पर उधार देते हैं उन्हें भी पूर्व निश्चित दर से ब्याज मिलता है। मुद्रा स्फीति के समय में इन लोगों को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि मुद्रा प्रसार के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति गिर जाती है।

(II) परिवर्तनीय आय प्राप्त करने वाले विनियोक्ता–इस वर्ग के अन्तर्गत वे लोग आते है जिनकी आय तो निश्चित नहीं होती, परन्तु इनकी आय व्यवसाय की उन्नति अथवा अवनति पर निर्भर होती है। यदि व्यवसाय में अधिक लाभ प्राप्त होता है तो इस वर्ग के लोगों को भी उसी अनुपात में अधिक लाभांश प्राप्त होता है और जब व्यापार उद्योग में हानि होती है तब इनकी आय या तो होती ही नहीं है या होती है तो बहुत कम। मात्रा में मुद्रा– प्रसार की प्रारम्भिक अवस्था व्यावसायिक समृद्धि तथा सम्पन्नता की अवस्था होती है तथा मूल्य वृद्धि होने के कारण व्यवसायियों को अधिक लाभ प्राप्त होता है।

2. व्यापारी या उत्पादक वर्ग (Business and Producers)- इस वर्ग में कृषक, उद्योगपति, खानों के मालिक, व्यापारी, मछवाहे तथा अन्य उत्पादक वर्ग सम्मिलित किये जाते हैं। साधारणतया मुद्रा स्फीति के समय में इस वर्ग के लोगों को लाभ होता है। उत्पादक वर्ग को लाभ होने के निम्न प्रमुख कारण हैं–

(I) माँग की वृद्धि के कारण–मुद्रा स्फीति की अवधि में वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो जाती है। परिणामतः मूल्य ऊँचे हो जाते हैं। वस्तुओं और सेवाओं की बिक्री तेजी के साथ होती है, अतः उत्पादक का माल शीघ्र ही बिक जाता है जिससे उत्पादकों को एक ओर तो अधिक लाभ होता है दूसरी ओर स्टॉक को जमा करके रखने, उसकी लागत पर ब्याज देने तथा मान का विज्ञापन करने पर भी खर्च कम होता है। तीसरे प्रत्येक प्रकार के कारखाने में उत्पादन होने लगता है।

(II) उत्पादन व्यय में कमी–उत्पत्ति कार्य में कुछ समय लगता है। जिस समय उत्पादक उत्पादन करने के लिये कच्चा माल तथा औजार खरीदता है अथवा श्रमिकों की भर्ती करता है उस समय मूल्य कुछ नीचे होते हैं। जब तक माल तैयार होता है कुछ समय तो अवश्य व्यतीत हो जाता है। इस बीच में मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है जिससे तैयार माल की बिक्री ऊँचे मूल्य पर होती है और उत्पादकों को अधिक लाभ प्राप्त होता है।

(III) मजदूरी में भी उत्पादक को बचत होती है–यह एक आर्थिक नियम है कि "मजदूरी हमेशा कीमत–स्तर से पीछे रहती है" (Wages always lag behind prices)। मूल्य–स्तर में वृद्धि की तुलना में मजदूरी की दर में वृद्धि कम होती है इससे भी उत्पादकों को लाभ होता है।

(IV) निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर बेचने से–उत्पादकों को इस कारण भी लाभ होता है कि ये लोग सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर वस्तुओं को बेचते हैं, क्योंकि प्रायः वस्तुओं का अभाव रहता है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति की अवधि में उद्योगपतियों, थोक व छोटे व्यापारियों तथा उत्पादकों की बहुत लाभ होता है।

3. श्रमिक या कर्मचारी वर्ग (The Wage Earners)- इस श्रेणी के अन्तर्गत उन सब लोगों को सम्मिलित किया जाता है जो अपने श्रम का विक्रय कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। इस प्रकार इसमें खेतीहर मजदूर, कारखानों में काम करने वाले श्रमिक, मानसिक तथा बौद्धिक कार्य करने वाले सभी व्यक्ति आ जाती हैं। मुद्रा स्फीति की अवस्था में श्रमिक वर्ग पर कई प्रकार से प्रभाव पड़ता है–

(I) रोजगार में वृद्धि–मुद्रा स्फीति की अवधि में उत्पत्ति, व्यापार तथा व्यवसाय का विस्तार हो जाता है जिससे श्रमिक को अधिकाधिक मात्रा में रोजगार उपलब्ध होता है, अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है। श्रम की अधिक माँग होने के कारण श्रमिकों को सौदा करने की शक्ति में वृद्धि हो जाती है, अतः वे अधिक मजदूरी की माँग करते हैं और अच्छी कार्य की दशायें चाहते हैं और उन्हें प्राप्त भी हो जाती है। रोजगार के विस्तार के कारण न केवल श्रमिक को ही रोजगार मिलता है वरन् उसके परिवार के अन्य सदस्यों को भी रोजगार मिल जाता है जिससे श्रमिक परिवार की आमदनी में वृद्धि हो जाती है।

(II) श्रम संघों का संगठन और विकास–मुद्रा स्फीति का काल श्रम संघों के संगठन और विकास का काल होता है। इस काल में एक ओर तो श्रम की माँग अधिक होती है, दूसरी ओर मूल्य–स्तर में वृद्धि होती है तब श्रमिक सामूहिक रूप से अधिक मजदूरी की माँग करते है। यह काल प्रायः औद्योगिक तथा श्रमिक अशान्ति का काल भी होता है। श्रमिक संघों की सदस्यता में वृद्धि होती है। श्रम संगठन दृढ़ होता है। स्थान–स्थान पर हड़तालें होनी आरम्भ हो जाती है जिससे देश में औद्योगिक अशान्ति फैलती है। अन्ततः इस मूल्य वृद्धि के काल में श्रमिकों तथा श्रम संघों की बहुत सी आवश्यक माँगें पूरी होती है।

(III) वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है–साधारणतः मजदूरी और वेतन में कीमत स्तर की अपेक्षा मन्द गति से ऊपर उठाने की प्रवृत्ति होती है। मुद्रा स्फीति के काल में मजदूरियाँ तथा वेतन में वृद्धि होती है, परन्तु मूल्यों की अपेक्षा मन्द गति से, इसलिये श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है।

4. उपभोक्ता (The Consumers)- समाज का प्रत्येक सदस्य उपभोक्ता होता है। मुद्रा स्फीति से देश में वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य में वृद्धि होती है जिससे सामान्य जनता को उपभोग के सब साधन महँगे मिलते हैं। मुद्रा की क्रयशक्ति पहले की अपेक्षा कम हो जाती है और जनता को पहले की तुलना में कम वस्तुयें प्राप्त होती हैं। उपभोक्ताओं को उपभोग की मात्रा में कमी करनी पड़ती है। इस कारण उपभोक्ताओं में न केवल असन्तोष फैलता है वरन् उन्हें सरकार की नीतियों में भी अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। उपभोक्ताओं के लिये मुद्रा स्फीति काल विशेष रूप से कष्टदायक होता है। वास्तव में मुद्रा, मुद्रा प्रसार और प्रजातन्त्र इन दोनों व्यवस्थाओं का साथ–साथ चलना कठिन है।

5. ऋणी वर्ग तथा ऋणदाता वर्ग (The Debtors and Creditors)- मुद्रा स्फीति के काल में ऐसे ऋणी व्यक्ति लाभ में रहते हैं, जिन्होंने मुद्रा प्रसार से पूर्व कोई ऋण लिया हो और उसे मुद्रा प्रसार के दिनों में ब्याज सहित चुकाना पड़े, क्योंकि उन्होंने जिस समय ऋण लिया था उस समय मुद्रा की क्रय–शक्ति अधिक थी। ऐसी स्थिति में ऋणियों के पास अधिक क्रय–शक्ति आ जाने के कारण वह अपने ऋणों का आसानी से भुगतान कर सकते हैं। परन्तु इस काल में साहूकार वर्ग को हानि होती है।

मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग (ऋणदाता वर्ग) को जो राशि प्राप्त होती है उसकी वास्तविक क्रयशक्ति उस समय की तुलना में बहुत कम रह जाती है जबकि ऋण दिया गया था।
यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस काल में ऋणदाता वर्ग को लाभ प्राप्त होता है और ऋणी वर्ग को हानि होती है। मूल्य स्तर में वृद्धि होने से उत्पादन क्रिया में काफी वृद्धि होती है और साख की माँग में वृद्धि हो जाती है। इसके लिये अधिक ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। इससे ब्याज की दर में वृद्धि हो जाती है और ऋणदाता के पास धन बेकार नहीं पड़ा रहता है। ऐसी स्थिति में ऋणदाता को लाभ होता है। इसके विपरीत, ऋणी को हानि होती है, क्योंकि ऋणों की माँग में वृद्धि हो जाने से ऋण मिलने में कठिनाई उत्पन्न होगी और दूसरी ओर ब्याज की दर ऊँची हो जाती है।

मुद्रा प्रसार के अन्य आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक प्रभाव

समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले उक्त प्रभावों के अतिरिक्त मुद्रा स्फीति के अन्य आर्थिक, नैतिक तथा सामाजिक प्रभाव भी उल्लेखनीय है–

(1) करों में वृद्धि–मुद्रा स्फीति के काल में अनेक नये कर लगाये जाते हैं तथा पुराने करों की दर में वृद्धि हो जाती है।

(2) ऋणों में वृद्धि–मुद्रा स्फीति काल में उद्योग तथा व्यापार का बहुत विकास होता है। इस कारण व्यापारी वर्ग अत्यधिक ऋण लेकर उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करता है। इस समय सरकार भी अधिक ऋण लेती है जिससे उसके बजट के घाटे की पूर्ति हो सके।

(3) बीमा व बैंकिंग प्रणाली का विकास–इस काल में इन संस्थाओं की बहुत सी नवीन शाखाओं की स्थापना होने लगती है और आर्थिक दृष्टि से शक्तिहीन संस्थायें भी जीवित हो जाती हैं।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार–मुद्रा प्रसार के कारण वस्तुओं के भाव में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप निर्यात व्यापार में कमी और आयात–व्यापार में वृद्धि हो जाती है और व्यापार सन्तुलन विपक्ष में हो जाता है।

(5) नियन्त्रित आर्थिक प्रणाली–प्रत्येक देश के सरकार ऐसी आर्थिक नीति अपनाना चाहती है, जिससे आर्थिक प्रगति तेजी से हो सके। इस काल में सरकार स्वतन्त्र आर्थिक नीति का त्याग करके नियन्त्रित आर्थिक नीति अपनाती है। जिससे देश का आर्थिक विकास होता है और लोगों का जीवन–स्तर ऊँचा उठता है।

(6) रक्षा व्यय के लिये पर्याप्त धन–मुद्रा स्फीति के द्वारा सरकार युद्ध–काल में देश की रक्षा के लिये पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त करने में सफल हो जाती है। यह अवश्य है कि इससे जनता को कष्ट होता है, परन्तु देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये इसका कोई महत्व नहीं रहता।

(7) बचत की भावना को ठेस–मुद्रा स्फीति काल में मुद्रा की क्रयशक्ति कम हो जाती है। इस कारण लोगों ने जो बचत की है उसका मूल्य भी कम हो जाता है जिससे जनता को बचत करने में प्रोत्साहन नहीं मिलता है।

(8) धन का असमान वितरण–मुद्रा प्रसार एक ऐसा शक्तिशाली यन्त्र है जो एक का धन लूटकर दूसरे को और दूसरे का धन लूटकर तीसरे को देता है, साधारणतया उद्योगपति, व्यवसायी तथा परिवर्तनशील आय वाले विनियोगकर्त्ता जो कि समाज के धनी वर्ग के होते हैं और अधिक धनी हो जाते हैं तथा समाज का निर्धन वर्ग–श्रमिक तथा वेतनभोगी व्यक्ति और निर्धन हो जाता है।

(9) करदाताओं को लाभ–मुद्रा स्फीति के काल में यद्यपि जनता को कर के रूप में अधिक रुपया देना पड़ता है। परन्तु वे वास्तव में वस्तुओं के रूप में अपेक्षाकृत कम ही भुगतान करते हैं। इससे सरकार की हानि होती है।

(10) नैतिक पतन–आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करने के अतिरिक्त स्फीति समाज में व्यक्तियों का नैतिक पतन भी कर देती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्फीति के काल में जनता का नैतिक पतन भी हो जाता है। व्यापारी वर्ग अधिक से अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से चोर बाजारी, मिलावट, मुनाफाखोरी जैसे अनैतिक कार्य करने लगते हैं। यह अनैतिकता केवल व्यापरियों तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि अन्य सरकारी अधिकारियों व नेताओं में भी फैल जाती है।

(11) सट्टेबाजी में वृद्धि–मुद्रा स्फीति के समय जनता में धनी बनने की बहुत लालसा उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

4.5 मुद्रा स्फीति रोकने के उपाय (Measure of Control Inflation)

मुद्रा स्फीति के प्रभावों की व्याख्या के आधार पर यह स्प्ष्ट हो जाता है कि मुद्रा–स्फीति एक आर्थिक रोग है। रोग चाहे कैसा ही हो, कभी अच्छा नहीं होता और उसका उपचार करना आवश्यक होता है। मुद्रा–स्फीति एक ऐसा रोग है जिसका उपचार न होने पर यह दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। अतः इसकी रोकथाम करना प्रत्येक सरकार का आवश्यक कर्तव्य होता है। स्फीति की स्थिति का आरम्भ होते ही इसे दवा देना अधिक अच्छा होता है। स्फीति–वेग को रोकने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाये जा सकते हैं।

1. मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)–सरकार तथा केन्द्रीय बैंक कुछ ऐसे मौद्रिक उपाय अपनाते हैं जिनका उद्देश्य मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करना होता है, अर्थात्

(I) सरकार को चाहिए कि वह केन्द्रीय बैंक पर अतिरिक्त मुद्रा जारी करने के लिए दबाव न डाले। केन्द्रीय बैंक द्वारा भी पत्र–मुद्रा निर्गमन के प्रबन्ध में अधिक दृढ़ता तथा अनुशासन लाने की आवश्यकता होती है।

(II) मुद्रा–स्फीति भयंकर होने की दशा में पुरानी मुद्रा समाप्त करके उसके बदले में नयी मुद्रा कम मात्रा में दे दी जाती है। प्रथम महायुद्ध के बाद रूस में इसी नीति को अपनाया गया था।

(III) साख–नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंकों को इस प्रकार के निर्देश देता है कि वे साख का अधिक सृजन तथा प्रसार न करें। बैंक–दर में वृद्धि, प्रतिभूतियों की बिक्री, बैंकों के न्यूनतम नकद कोषों की मात्रा में वृद्धि, साख का राशनिंग इत्यादि ऐसे उपाय हैं जिससे साख का संकुचन होता है। केन्द्रीय बैंक वाणिज्य बैंक को इस प्रकार के आदेश देता है कि वे कुछ आवश्यक वस्तुओं, जैसे अनाज इत्यादि, को गोदामों में रखकर उसके आधार पर ऋण न दें। इससे माल बाजार में आने लगता है तथा कीमतों में वृद्धि रोकने में सहायता मिलती है।

2. राजकोषीय उपाय (Fiscal Measures)–मुद्रा–स्फीति के उपचार के लिए मौद्रिक उपायों के साथ–साथ निम्नलिखित वित्तीय उपायों को भी अपनाना पड़ता है।

(I) मुद्रा–स्फीति के नियन्त्रण के लिए यथासम्भव बजट सन्तुलित रखना आवश्यक होता है। घाटे का बजट होने पर सरकार को मुद्रा–प्रसार करना पड़ता है।

(II) करों में वृद्धि के द्वारा सरकार अपने साधनों में वृद्धि कर सकती है तथा समाज में अतिरिक्त क्रय–शक्ति को प्रभावहीन बना सकती है।

(III) सार्वजिनक ऋण में वृद्धि से एक ओर तो लोगों के पास तरल मुद्रा की मात्रा कम होती है, दूसरी ओर सरकार ऋणों से प्राप्त किये गये धन को उत्पादन की वृद्धि करने में प्रयोग करती है, जिससे मुद्रा–स्फीति का वेग नियन्त्रित होता है।

(IV) सरकार को अपने द्वारा किये गये उत्पादन–कार्यों में पर्याप्त लाभ प्राप्त करना चाहिए तथा ऐसे उपाय अपनाने चाहिए जिनसे इनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो सके।

(V) सार्वजनिक व्यय, विशेषकर अनुत्पादक व्यय को कम करना भी बहुत आवश्यक होता है।

(VI) वित्तीय उपायों द्वारा उपभोग को हतोत्साहित करके बचत को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

3. व्यापार सम्बन्धी उपाय (Commercial Measures)–मुद्रा–स्फीति की दशा में आयातों की मात्रा को बढ़ाना होता है जिससे उपलब्ध वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो सके। परन्तु व्यावहारिक रूप में ऐसा करना सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि बिना निर्यात बढ़े आयात नहीं बढ़ाये जा सकते, और निर्यात बढ़ाना ऐसे देशों के लिए बहुत कठिन होता है क्योंकि आन्तरिक कीमत–स्तर विदेशी कीमतों की अपेक्षा ऊँचा होता है। इन परिस्थितियों में सरकार द्वारा निरन्तर ऐसे उपाय अपनाने की आवश्यकता होती है जिनसे नियमित रूप से आयात तथा निर्यात बढ़ सकें। विदेशी विनिमय–दर को गिराना अथवा अवमूल्यन करना बहुत ही खतरनाक होता है। यदि अधिमूल्यन सम्भव न हो तो कम से कम विनिमय–दर में स्थिरता बनाये रखनी चाहिए।

4. निवेश ढाँचे में परिवर्तन (Changes In Investment Pattern)–स्फीति–काल में प्रायः निवेश की मात्रा बढ़ती है जिसके कारण न केवल मौद्रिक आय में वृद्धि होती है, अपितु उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि न होने के कारण मुद्रा–स्फीति को प्रोत्साहन मिलता है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि निवेश की वृद्धि को रोक दिया जाय, परन्तु सरकार को यह अवश्य देखना पड़ता है कि बढ़ते हुए निवेश के परिणामस्वरूप उत्पादन में तत्काल तथा यथेष्ट मात्रा में वृद्धि हो। ऐसे कार्य जिनमें बहुत अधिक पूँजी का निवेश होता है तथा उत्पादन की प्राप्ति दीर्घकाल में होती है, स्फीति–काल में उपयुक्त नहीं होते।

5. आय–नियन्त्रण सम्बन्धी उपाय (Income Control Measures)– पिछले कुछ वर्षों से पाश्चात्य देशों में स्फीति–नियन्त्रण के लिए आय–नीति के अपनाने के पक्ष में अनेक सुझाव दिये गये हैं। आय–नीति का उद्देश्य मजदूरी–बन्धन (wage freeze) के उपाय करना होता है ताकि बढ़ती हुई मजदूरी उत्पादन की लागत में वृद्धि के द्वारा मुद्रा–स्फीति को प्रोत्साहन न दे पाये। मजदूरी बढ़ने से लागत तथा कीमतें बढ़ती हैं जिसके कारण पुनः मजदूरी को बढ़ाना पड़ता है, और इस प्रकार एक ऐसा विषम चक्र बन जाता है जिससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। बढ़ती कीमतों की स्थिति में व्यावहारिक रूप से आय अथवा मजदूरी को स्थिर रखना बहुत कठिन होता है, परन्तु फिर भी सरकार द्वारा ऐसे उपाय तो किये ही जा सकते हैं कि विभिन्न वर्गों द्वारा आय में अनुचित वृद्धि के लिए दबाव प्रभावपूर्ण न होने पाये।

6. प्रत्यक्ष नियन्त्रण (Direct Controls)– ऊपर बताये गये सभी उपाय मुद्रा–स्फीति को अप्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रित कर सकती है, विशेषकर आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को तो नियन्त्रित कर ही देना चाहिए। जिन वस्तुओं की माँग पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक है उनका राशनिंग करना चाहिए। विदेशी व्यापार पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण तथा देश की औद्योगिक नीति पर नियन्त्रण भी मुद्रा–स्फीति के विरुद्ध प्रयोग में लाये जाते हैं।

7. उत्पादन–वृद्धि (Increase in Production)–मुद्रा–स्फीति का प्रभाव कम करने के लिए उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करना भी आवश्यक होता है। ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिनमें पूँजी का निवेश तो कम हो परन्तु शीघ्र उत्पादन द्वारा उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ अधिक पूरी की जा सकें। कृषि के उत्पादन में वृद्धि मुद्रा–स्फीति के नियन्त्रण में विशेष रूप से सहायक होती है।

यह स्मरण रहे कि मुद्रा–स्फीति के नियन्त्रण के लिए कोई भी अकेला उपाय महत्वपूर्ण नहीं हो पाता, इसलिए एक साथ विभिन्न उपाय अपनाने पड़ते हैं। अप्रत्यक्ष उपायों में मौद्रिक, वित्तीय, व्यापारिक, निवेश तथा आय सम्बन्धी विभिन्न उपाय एक–दूसरे से जुड़े रहते हैं और उनको एक–दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती है। अप्रत्यक्ष उपायों के साथ–साथ कुछ विशेष वस्तुओं की कीमतों को प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करना भी आवश्यक होता है तथा उत्पादन–वृद्धि के प्रयास करना भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार सन्तोषजनक रूप से मुद्रा–स्फीति के नियन्त्रण के लिए उपर्युक्त सभी को एक साथ अपनाना ही अधिक उपयुक्त होता है।

4.6 माँग–प्रेरित स्फीति एवं लागत प्रेरित (Demand Pull Inflation and Cost Push Inflation)

कुछ अर्थशास्त्रियों ने स्फीति के कारणों से सम्बन्धित मुख्य रूप से दो विचारधाराओं को प्रस्तुत किया है। एक के अनुसार मुद्रा–स्फीति अतिरिक्त माँग की शक्ति द्वारा खींची जाती है। दूसरी विचारधारा के अनुसार उत्पादन की लागतों में वृद्धि मुद्रा–स्फीति के क्रम को धकेलती (Cost Push) है। परन्तु वास्तव में माँग तथा लागत दोनों में ही वृद्धि एक–दूसरे से सम्बन्धित होती हैं और सम्मिलित रूप से मुद्रा स्फीति को बढ़ाती है। दोनों शक्तियों के स्वरूप को अलग स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) माँग प्रेरित स्फीति (Demand Pull Inflation)– कुछ व्यक्तियों की धारणा यह है कि माँग प्रेरित स्फीति का काल युद्ध समाप्ति के पश्चात् होता है, क्योंकि युद्धकालीन नियन्त्रणों के समाप्त होने से विशाल क्रय शक्ति मुक्त हो जाती जिससे प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि हो जाती है। माँग–प्रेरित स्फीति सिद्धान्त के अनुसार स्फीति की स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जब वर्तमान कीमतों पर वस्तुओं और सेवाओं की कुल माँग इनकी कुल उपलब्ध पूर्ति की तुलना में अधिक होती है। ऐसी स्थिति में अर्थव्यस्था में कुल माँग वक्र ऊपर दाहिनी ओर खिसक जाता है, जबकि कुल पूर्ति वक्र नीचे दाहिनी ओर नहीं खिसक पाता। फलस्वरूप नई स्थिति में नये माँग वक्र तथा पुराने पूर्ति वक्र के मध्य सन्तुलन ऊँचे मूल्य स्तर पर स्थापित होता है। इसे संलग्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

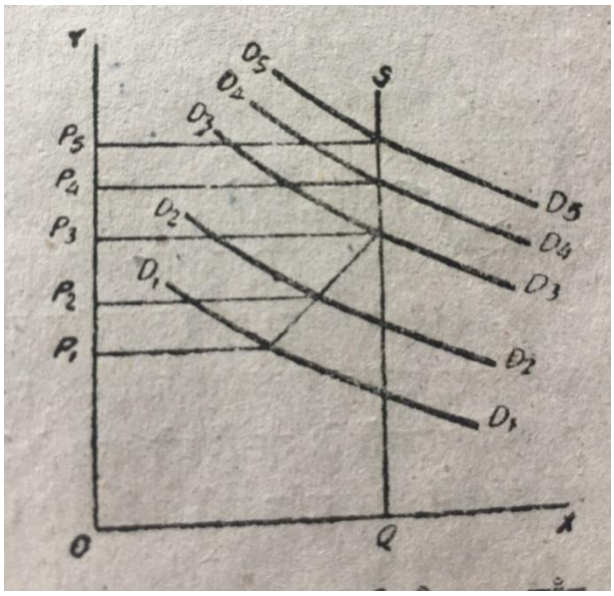

चित्र 1 उत्पादन स्तर

उपरोक्त रेखाचित्र में जब पूर्ति वक्र S की स्थिति स्थिर होती है, तब माँग वक्र D_1 क्रमशः माँग वक्र D_2 D_3 D_4 तथा D_5 की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, परिणामस्वरूप मूल्य स्तर P_1 से बढ़कर P_2, P_3, P_4 व P_5 हो जाता है, परन्तु मूल्य वृद्धि सभी परिस्थितियों में समान नहीं है। जब कुल माँग वक्र D_1 से ऊपर की ओर खिसककर D_2 तथा D_3 माँग वक्र की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब मूल्य स्तर तथा कुल उत्पादन में साथ–साथ वृद्धि होती है, परन्तु D_3 की स्थिति प्राप्त हो जाने के पश्चात् पूर्ण

रोजगार उत्पादन OQ प्राप्त हो जाने के कारण माँग में और वृद्धि होने पर केवल मूल्यों में ही वृद्धि होती है यह पूर्ण स्फीति की स्थिति है। D_1 से D_3 के मध्य अपूर्ण स्फीति या आंशिक स्फीति की स्थिति है। अर्थशास्त्री विक्सेल (Wicksel) तथा कीन्स (Keynes) ने भी माँग की स्फीति वृद्धि के कम को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

कीन्स के विचारानुसार स्फीति की स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब पूर्ण रोजगार के स्तर पर कुल माँग, कुल पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है। यदि माँग में वृद्धि के साथ–साथ उत्पादन में भी वृद्धि होती है तो अतिरिक्त माँग की स्थिति कीमतों पर अधिक प्रभाव नहीं डालेगी। परन्तु पूर्ण रोजगार के स्तर पर माँग बढ़ने से उत्पादन नहीं बढ़ेगा, अतिरिक्त माँग बढ़ेगी और पूर्ण स्फीति की स्थिति उत्पन्न होगी।

लागत–प्रेरित स्फीति (Cost-Push Inflation)– लागत–प्रेरित स्फीति की स्थिति किस प्रकार उत्पन्न होती है, उसका वर्णन पॉल एवं हॉरविट्ज (Paul and M. Horvitz) ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि– "लागत प्रेरित स्फीति उस समय उत्पन्न हुई कही जाती है जब लागत में वृद्धि होने के कारण व्यापारिक संस्थायें वस्तुओं के मूल्यों को बढ़ा देती हैं, यद्यपि मौद्रिक मूल्य स्तर पर उस वस्तु की माँग में कोई वृद्धि नहीं हुई है।"

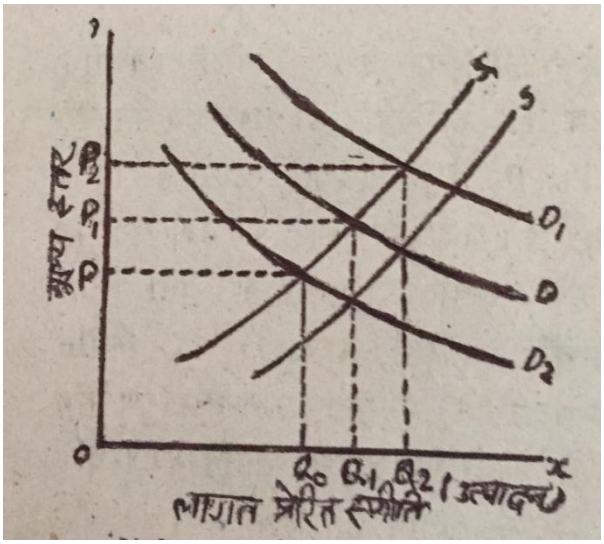

चित्र 2

लागत–प्रेरित स्फीति, मजदूरी प्रेरित स्फीति (Wage-Induce Inflation) के समान होती है, श्रमिक संघ अधिक शक्तिशाली होने के कारण मजदूरी में वृद्धि कराने में सफल हो जाते हैं। यद्यपि उनकी उत्पादन क्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई है और न ही वस्तुओं की माँग में कोई वृद्धि है। व्यापारिक वर्ग बढ़ी हुई मजदूरी का भुगतान अपने लाभ में से न करके उत्पादन लागत को बढ़ाकर ही सहन करना चाहते हैं जिसका परिणाम वस्तु की पूर्ति लागत का बढ़ जाना होता है, क्योंकि माँग स्थिर है इसलिये मूल्यों के बढ़ जाने के कारण बिक्री की सम्भावनायें कम हो जाती है और बेरोजगारी का भय उत्पन्न हो जाता है इस विचारधारा का स्पष्टीकरण उपरोक्त चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

उपर्युक्त चित्र में मूल्य में वृद्धि होने के कारण पूर्ति वक्र S से ऊँचा होकर S_1 हो जाता है तथा उत्पादन Q_0 से घटकर Q_1 हो जाता है। केन्द्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाकर माँग को D_1 तक ला सकती है, परन्तु ऐसा मुद्रा–स्फीति की लागत पर ही हो सकता है। केन्द्रीय बैंक साख को नियन्त्रित कर माँग को घटाकर D_2 तक लाने का भी प्रयास कर सकती है। ऐसा करने से मौलिक मूल्य P_0 को प्राप्त तो किया जा सकता, परन्तु बेरोजगारों में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि उत्पादन Q_1 से घटकर Q_2 हो जाता है। इस प्रकार लागत–प्रेरित स्फीति में घटनाओं का क्रम इस प्रकार रहता है– ऊँची मजदूरी→ऊँची लागत तथा ऊँचे मूल्य→माँग में कमी तथा बेरोजगारी→बेरोजगारी को कम करने के लिये मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि।

4.7 स्फीतिक अन्तर
(Inflationary gap)

मुद्रा–स्फीति की व्याख्या में प्रो. केन्स ने स्फीतिक–अन्तर (Inflationary gap) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह विचार उस स्थिति का निरूपण करता है जिसमें मुद्रा–स्फीति के पूर्व (pre-Inflation) कीमतों पर आय का वह भाग जिसे व्यय करने की सम्भावना होती है, उपलब्ध उत्पादन अथवा पूर्ति की मात्रा से अधिक होता है। उपलब्ध उत्पादन रोजगार की मात्रा तथा उत्पादन की तकनीकी (technical) दशाओं पर निर्भर करता है। सम्भावित अथवा नियोजित व्यय (planned expenditure) उपभोग (C), निवेश (I) तथा सरकारी व्यय (G) द्वारा निर्धारित होता है। जब समाज द्वारा नियोजित व्यय की मात्रा कुल उपलब्ध उत्पादन के मूल्य से (मुद्रा–स्फीति के पूर्व–कीमतों के आधार पर) अधिक होती है तो स्फीतिक–अन्तर उत्पन्न हो जाता है। मान लीजिए, किसी देश की कुल आय 1,000 करोड़ रुपये है, जिसमें से 100 करोड़ रुपये करों के रूप में लोगों से लिये गये हैं। अब लोगों के पास व्यय के लिए 900 करोड़ रुपये हैं। परन्तु यदि उपलब्ध उत्पादन, स्थिर कीमतों के आधार पर, 800 करोड़ रुपये के मूल्य का ही है, तो स्फीतिक–अन्तर 900 - 800 = 100 करोड़ रुपये होगा।

प्रस्तुत रेखाचित्र में वास्तविक आय को OX तथा नियोजित व्यय OY को रेखाओं पर दिखाया गया है। C रेखा द्वारा उपभोग, C + I द्वारा उपभोग तथा निवेश, और C + I + G द्वारा उपभोग, निवेश तथा सरकारी व्यय को व्यक्त किया गया है। आय के OM स्तर पर लोगों तथा सरकार द्वारा उपभोग व निवेश के रूप में किया गया कुल व्यय (C + I + G) वर्तमान कीमतों पर कुल आय OM के बराबर है। इस बिन्दु पर वर्तमान कीमतों के आधार पर पूर्ण–रोजगार की स्थिति विद्यमान है। इस प्रकार आय तथा व्यय सन्तुलित अवस्था में है और स्फीतिक–अन्तर की मात्रा शून्य है। अब यदि किसी कारणवश सरकारी व्यय (G) में वृद्धि हो जाती है, तो सन्तुलन बनाये रखने के लिए वास्तविक आय अथवा कुल उत्पादन में भी उस अनुपात में वृद्धि होनी चाहिए, अर्थात वास्तविक आय में MM' वृद्धि होना आवश्यक है, अन्यथा असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होगी और कीमत–स्तर में वृद्धि होगी। C + I + G' रेखा, जो बढ़े हुए सरकारी व्यय को दिखाती है, तथा C + I + G रेखा में अन्तर (ab) स्फीति–अन्तर को दिखाता है। यह अन्तर तब तक बना रहेगा जब तक वास्तविक आय में MM' के बराबर वृद्धि नहीं होती। आय में वृद्धि होने पर स्फीतिक–अन्तर समाप्त हो जायेगा तथा कीमतों का बढ़ना रुक जायेगा।

चित्र 3

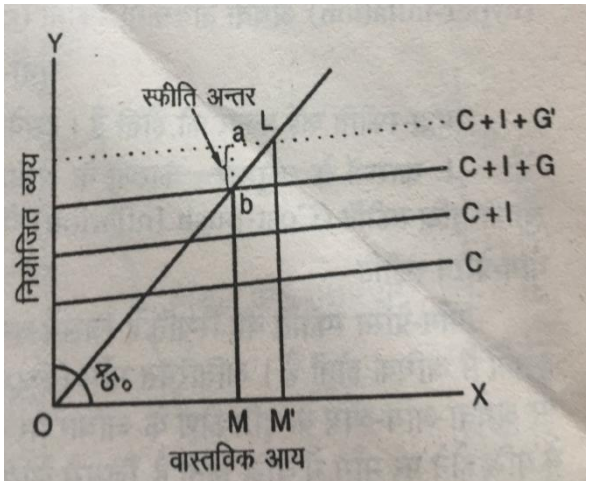

स्फीतिक–अन्तर की अवधारणा में अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनमें से कुछ निम्नलिखित है :

(1) मुद्रा–स्फीति एक प्रावैगिक क्रम है जबकि स्फीतिक–अन्तर की व्याख्या का स्वरूप स्थैतिक है। इससे कीमत–स्तर की स्थिरता की स्थिति का पता चलता है, परन्तु यह मुद्रा–स्फीति की गति का विश्लेषण नहीं करती है।

(2) स्फीतिक–अन्तर विश्लेषण आय और व्यय के चालू प्रवाह से सम्बन्धित है, जबकि व्यावहारिक रूप में कीमतें पहले से अर्जित आय की मात्रा, जोकि लोगों के पास नकद–कोष के रूप में है, तथा पहले से उत्पादित वस्तुओं के भण्डार से भी प्रभावित होती है।

(3) स्फीतिक–अन्तर का आधार अतिरिक्त माँग है, जबकि कीमतें लागतों में वृद्धि से भी प्रभावित होती है।

(4) स्फीतिक–अन्तर का सम्बन्ध ऐसी स्थिति से है जिसमें कीमतों की वृद्धि को रोकने के प्रयास नहीं किये जाते हैं। व्यावहारिक स्थिति यह है कि सरकार मौद्रिक, राजकोषीय तथा अन्य नीतियों तथा उपायों के द्वारा मुद्रा–स्फीति रोकने का प्रयास करती है।

4.8 निस्पन्द–स्फीति (Stagflation)

द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में संसार के अधिकांश देशों में तेजी से आर्थिक विकास हुआ है। विशेष रूप से औद्योगिक देशों ने बड़ी महत्वपूर्ण प्रगति की है। परन्तु निकटस्थ के कुछ वर्षों में, विशेषतया 1973 के बाद, अधिकांश औद्योगिक देशों की अर्थ–व्यवस्थाओं को एक नये प्रकार के आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा है। इन देशों में मुद्रा–स्फीति की दर काफी ऊँची हो गयी है। दूसरी ओर आर्थिक विकास की गति में शिथिलता आयी है। इस प्रकार आर्थिक विकास में तो स्थिरता अथवा शिथिलता (recession) तथा कीमतों में तेजी से वृद्धि की स्थिति को व्यक्त करने के लिए निस्पन्द–स्फीति अथवा स्टेगफ्लेशन (Stagflation) तथा 'स्लम्पफ्लेशन' (Slumpflation) जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'Stagflation' वह स्थिति है जिसमें 'Stagnation' (अर्थात् आर्थिक निष्क्रियता) और 'Inflation' एक साथ मौजूद हों। एक साथ मौजूद हों। यह आर्थिक निष्क्रियता तथा मुद्रा–स्फीति की मिश्रित स्थिति है।

निस्पन्द–स्फीति सामान्य बेरोजगारी तथा मुद्रा–स्फीति का सम्मिलित रूप है। इसमें मुद्रा–स्फीति तथा शिथिलता (recession) दोनों साथ–साथ रहते हैं। कीमतों और मजदूरी–दरों में वृद्धि होने के बावजूद लोगों द्वारा रोजगार पाने में कठिनाई होती है। साथ ही जितना उद्योगों द्वारा माल का उत्पादन होता है उसके लिए उतनी माँग अथवा बिक्री नहीं हो पाती है। निस्पन्द–स्फीति तथा स्फीतिक एक व्यापक धारणा है–जिसमें स्फीतिक प्रतिसार का तो समावेश होता ही है साथ ही मुद्रा–स्फीति तथा सामान्य बेरोजगारी भी सम्मिलित होते हैं।

1973 में तेल उत्पादक देशों (OPEC) द्वारा तेल की कीमतें बढ़ा दी गयीं। तेल की कीमतों में लगभग चौगुनी वृद्धि के प्रभाव में ईंधन के लिए तेल, पेट्रोलियम पदार्थों तथा निर्मित पदार्थों की कीमतें बढ़ गयी। इन परिस्थितियों में औद्योगिक देशों में कीमतें तो बढ़ी, परन्तु साथ ही बेरोजगारी में भी वृद्धि हुई। 1973 से 1975 तक की अवधि आर्थिक शिथिलता की थी।

1983 में यूरोपीय देशों में बेरोजगारी की दर 11 प्रतिशत थी, जबकि औद्योगिक देशों में बेरोजगारी का औसत स्तर 8.75 प्रतिशत था। इन वर्षों में कीमतें निरन्तर बढ़ रही थीं। 1980 से 1982 के बीच कीमतों में वृद्धि की वार्षिक औसत 9.0 प्रतिशत थी। गत वर्षों में स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है। 1990 से 1993 के बीच औद्योगिक देशों में आर्थिक शिथिलता में बावजूद कीमतों की वृद्धि दर 3 प्रतिशत वार्षिक के लगभग स्थिर रही है।

विकासशील देशों में विकास की भारशील औसत दर (weighted average) 1981 से 1983 तक के तीन वर्षों में यह क्रमशः 1.3 प्रतिशत, 1.7 प्रतिशत तथा 1.9 प्रतिशत रही थी। बाद के वर्षों में विकास–दर बढ़ी है। अन्य देशों की तुलना में एशिया के देशों की विकास दर ऊँची रही है। 1992 से 1995 तक के वर्षों में वार्षिक औसत विकास दर 6 प्रतिशत के लगभग रही है। दूसरी ओर इन देशों में कीमत–वृद्धि की समस्या इनकी प्रमुख समस्या बन गयी है। अधिकांश देशों में कीमत–वृद्धि की वार्षिक दर 10 प्रतिशत से अधिक है। विकासशील देशों में व्यापक बेरोजगारी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भुगतान–सन्तुलन तथा व्यापार–शर्तों की स्थिति इन देशों के प्रतिकूल बेरोजगारी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भुगतान–सन्तुलन तथा व्यापार–शर्तों की स्थिति इन देशों के प्रतिकूल है। ये देश गम्भीर आर्थिक संकट का सामना कर रहे हैं। इस प्रकार विकासशील देशों में निस्पन्द–स्फीति वह स्थिति है

जिसमें मुद्रा–स्फीति तथा औद्योगिक शिथिलता का सम्मिश्रण होता है। मुद्रा–स्फीति के बावजूद औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि नहीं अथवा बहुत कम होती है।

वास्तव में निस्पन्द–स्फीति के अनेक कारण रहे हैं, जैसे मुद्रा की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि, धनी देशों के विदेशी व्यापार में घाटा, मजदूरी दरों में अप्रत्याशित वृद्धि, प्राकृतिक कारणों के प्रभाव में उत्पादन में कमी, तेल और कोयले की कीमतों में वृद्धि के प्रभाव में उत्पादन–लागत में वृद्धि इत्यादि। वास्तविकता तो यह है कि निस्पन्द–स्फीति का मुख्य कारण लम्बे समय तक मुद्रा–स्फीति की स्थिति बने रहना है।

स्मरण रहे कि निस्पन्द–स्फीति (stagflation) तथा शिथिलता (recession) एक–दूसरे से भिन्न हैं। शिथिलता का उपचार मौद्रिक तथा राजकोषीय प्रोत्साहनों द्वारा किया जा सकता है, जबकि निस्पन्द–स्फीति के उपचार के लिए मुद्रा–स्फीति को नियन्त्रित करना आवश्यक है।

स्पष्ट है कि वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में कीमतों में निरन्तर वृद्धि की स्थिति का विकास–दर तथा रोजगार–स्तर के साथ कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं रह गया है। निस्पन्द–स्फीति की स्थिति में कीमतें बढ़ती हैं परन्तु उत्पादन में शिथिलता अथवा कमी आती है। इस स्थिति की व्याख्या पुराने सिद्धान्तों के आधार पर नहीं की जा सकती है। इसकी व्याख्या में अर्थशास्त्रियों ने पूर्ति पक्ष को अधिक महत्व दिया है।

निस्पन्द–स्फीति का उपचार

बेरोजगारी के उपचार के लिए प्रो. केन्स ने अर्थ–व्यवस्था में कुल माँग के पक्ष को महत्वपूर्ण माना था। केन्सवादियों के विचार में कुल माँग में परिवर्तन के द्वारा अर्थ–व्यवस्था में अल्पकालीन स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इसके विपरीत, निस्पन्द–स्फीति की स्थिति में अनेक अर्थशास्त्र के समर्थक अल्पकालीन परिवर्तनों के बजाय दीर्घकालीन विकास के निर्धारक तत्वों को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। अर्थ–व्यवस्था में उत्पादन की कुल पूर्ति ऐसे तत्वों पर निर्भर करती है जिनसे कार्य, बचत तथा निवेश से सम्बन्धित प्रेरणाएँ प्रभावित होती हैं।

सामान्य रूप से निस्पन्द–स्फीति को समाप्त करने के लिए निम्नलिखित उपाय अपनाना आवश्यक होता है–

(1) मुद्रा–स्फीति पर नियन्त्रण के उद्देश्य से उचित मौद्रिक तथा राजकोषीय उपायों का प्रयोग।
(2) समष्टि आर्थिक नीति का आर्थिक विकास के पक्ष में होना।
(3) भुगतान–सन्तुलन अनुकूल बनाये रखना।
(4) निवेश बढ़ाने के सही उपाय अपनाना
(5) देश में उपलब्ध साधनों का अधिकतम उपयोग सुनिश्चित करना।

4.9 फिलिप्स वक्र (Phillip's Curve)

माँग–प्रेरित स्फीति को बहुधा मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियों द्वारा नियन्त्रित करने का प्रयास किया जाता है, लेकिन लागत–प्रेरित स्फीति पर नियन्त्रण करने के सन्दर्भ में मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों का योगदान स्पष्ट नहीं है। मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के द्वारा कुल प्रभावी माँग को कम करके स्फीति पर नियन्त्रण किया जाता है। लेकिन लागत–प्रेरित स्फीति उत्पन्न होने का कारण प्रभावी माँग में होने वाली वृद्धि नहीं है। लागत प्रेरित स्फीति मजदूरी लागत में वृद्धि का परिणाम होती है। अतः श्रम की उत्पादन क्षमता में वृद्धि के परिणाम स्वरूप मजदूरी दर में होने वाली वृद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से मजदूरी की दरों में होने वाली वृद्धि को नियन्त्रित करके लागत प्रेरित स्फीति को नियन्त्रित किया जाता है।

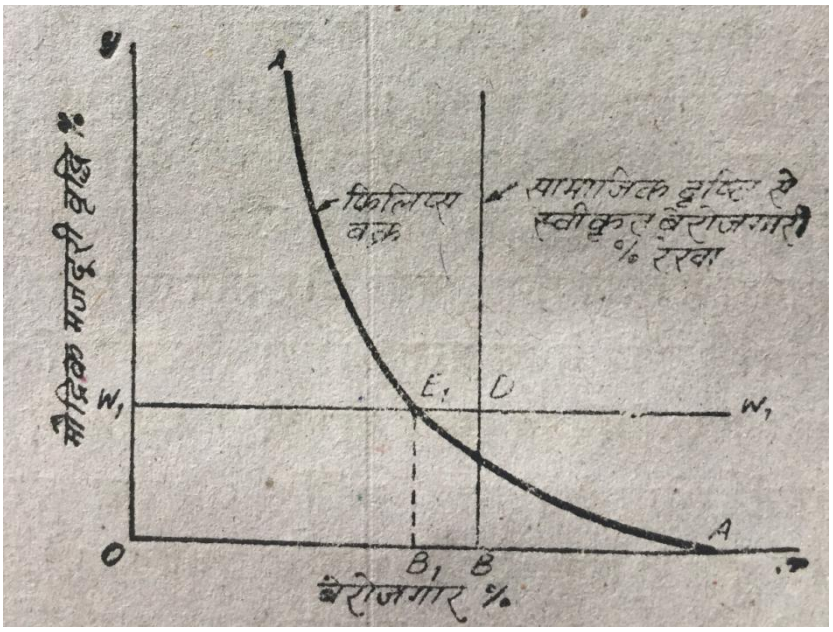

चित्र 4

मजदूरी वृद्धि दर तथा बेरोजगारी वृद्धि दर के मध्य सम्बन्ध का विश्लेषण–फिलिप्स वक्र के द्वारा

मजदूरी दर में होने वाली वृद्धि को नियन्त्रित करके लागत प्रेरित स्फीति को नियन्त्रित करने की नीति के अन्तर्गत यह सम्भव है कि अर्थव्यवस्था में इतनी अधिक बेरोजगारी उत्पन्न हो जाये जो सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से अवांछनीय हो। मजदूरी लागत कुल उत्पादन लागत का एक महत्वपूर्ण भाग होने के कारण कीमत पर अत्यधिक प्रभाव डालती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी वृद्धि दर तथा बेरोजगारी वृद्धि दर के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है इस सम्बन्ध को फिलिप्स वक्र विश्लेषण के द्वारा किया जा सकता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ए. डब्लू फिलिप्स ने ब्रिटेन के लगभग 100 वर्ष के ऐतिहासिक आँकड़ों का उपयोग करते हुए अपने पर्याप्त अनुसंधान के आधार पर मुद्रा स्फीति का अध्ययन अनुभवजन्य दृष्टिकोण से किया है। इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण अनुभवजन्य प्रमाणों पर आधारित एक वक्र द्वारा किया जाता है जिसे फिलिप्स वक्र कहा जाता है। वक्र अनुभवजन्य आधार पर मजदूरी, कीमत एवं बेरोजगारी के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

फिलिप्स वक्र एक ऐसा वक्र है जो अर्थव्यवस्था में श्रमिकों की प्रतिशत बेरोजगारी तथा मजदूरी की प्रतिशत वृद्धि में सम्बन्ध स्पष्ट करता है, जो अनेक वर्षों में मजदूरी तथा बेरोजगारी में वृद्धि सम्बन्धी सांख्यिकीय समंकों द्वारा व्युत्पन्न किया जा सकता है। फिलिप्स वक्र ऋणात्मक ढालू होगा जैसे कि अग्रांकित चित्र में अंकित है।

अग्रांकित चित्र में AA वक्र फिलिप्स वक्र जो बायीं ओर से दायी ओर को नीचे की ओर ढालू है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि अर्थव्यवस्था में मौद्रिक मजदूरी में वृद्धि की दर तथा बेरोजगारी की दर में परस्पर विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है। इससे आशय यह है कि यदि समाज की बेरोजगारी उच्च दर को स्वीकृत करने को तैयार है, तो मजदूरी वृद्धि स्फीति को समाप्त किया जा सकता है, परन्तु यह जरूरी नहीं है कि मौद्रिक मजदूरी की दर में होने वाली प्रत्येक वृद्धि स्फीति उत्पन्न करे ही। वास्तविकता यह है कि केवल वही मजदूरी वृद्धि का परिणाम नहीं होती। उपरोक्त चित्र में रेखा श्रम की उत्पादकता में प्रतिशत वृद्धि प्रदर्शित करती है तथा मौद्रिक मजदूरी दर में प्रतिशत वृद्धि स्फीति उत्पन्न नहीं करेगी।

यदि B प्रतिशत बेरोजगारी सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत बेरोजगारी है तथा W_1W_1 रेखा फिलिप्स वक्र को D बिन्दु के बायीं ओर काटती है तो यह रेखा यह प्रदर्शित करती है कि अर्थव्यवस्था में अधिक बेरोजगारी उत्पन्न किये बिना स्फीतिक प्रभावों को मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के प्रयासों के द्वारा

नियन्त्रित किया जा सकता है। अर्थव्यवस्था में केवल B_1% बेरोजगारी उत्पन्न करके ही स्थिरता को प्राप्त किया जाता है तथा B_1% बेराजगारी सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत B% बेरोजगारी की तुलना में कम है।

4.10 सारांश

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा के मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसे में मुद्रा स्फीति अथवा मुद्रा–प्रसार एक महत्वपूर्ण घटना है। जिसके अन्तर्गत मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। कीन्स का कहना है कि पूर्ण रोजगार की अवस्था तक पहुंचने के पूर्व यदि मुद्रा की मात्रा का प्रसार होता है तो उसका एक भाग तो रोजगार के विस्तार में सहायक होगा परन्तु दूसरा भाग उत्पादन लागत में वृद्धि द्वारा कीमतों को बढ़ायेगा। पूर्ण रोजगार की अवस्था के पूर्व की इस स्थिति को केन्स ने अर्द्ध स्फीति कहा है। पूर्ण रोजगार के बिन्दु तक पहुंचने के बाद यदि मुद्रा के मात्रा में वृद्धि होती है तो यह रोजगार को तो बढ़ायेगी नहीं क्योंकि उत्पादन के अन्य साधनों का पूर्ण उपयोग हो चुका है, इससे केवल कीमतें ही बढ़ेंगी। कीमतों में स्थिरता रहने पर जनता का सरकार के नीतियों के प्रति तथा मुद्रा के मूल्य के प्रति विश्वास बढ़ता है, बचत की भावना को प्रोत्साहन मिलता है, पूंजी निमार्ण तथा निवेश की मात्रा में वृद्धि होती है एवं आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

4.11 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा स्फीति की परिभाषा कीजिए तथा इसके परिणाम बताइए।
प्रश्न 2- मुद्रा स्फीति के कारणों की व्यख्या कीजिए तथा इसके उपचार के उपाय बताइए।
प्रश्न 3- मुद्रा स्फीति के विभिन्न रूपों की व्याख्या कीजिए।
प्रश्न 4- स्फीतिक अन्तराल को स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 5- निस्पन्द स्फीति से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिए।

4.12 शब्दावली

निस्पन्दन स्फीति	:	Stagflation
अर्द्ध स्फीति	:	Semi-Inflation
मांग प्रेरित स्फीति	:	Demand Pull Inflation
लागत प्रेरित स्फीति	:	Cost Push Inflation
समग्र मांग	:	Aggregate Demand
समग्र पूर्ति	:	Aggregate Supply
उत्पत्ति ह्रास नियम	:	Law of Diminishining Returns

4.13संदर्भ सूची

G. Ackley	:	Macro Economic Theory (1961) Chap. 16
F. S. Brooman	:	Macro Economics (4th ed, Chap. 13)
A. Day	:	Outline of Monetary Economics (1957, Chap. 18-22)
R. F. Harrod	:	Money (1969) Chap, 6
M. Stewart	:	Keynes and After (1961) Chap. 8

इकाई– 05
मंदी, अवसाद, आर्थिक मंदी

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 मंदी के कारण
5.3 मंदी (मुद्रा–संकुचन) के प्रभाव
5.4 मुद्रा संकुचन को रोकने के उपाय
5.5 मुद्रा स्फीति तथा अवस्फीति में अन्तर
5.6 संस्फीति
5.7 अपस्फीति
5.8 सारांश
5.9 बोध प्रश्न
5.10 शब्दावली
5.11 सन्दर्भ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. जब वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें अपने सामान्य स्तर से नीचे चली जाती हैं तो अत्यधिक खतरनाक हो जाती हैं। इस बात का पता लगाना।

2. बेरोजगारी मंदी काल में अत्यन्त भयावह होती है।

3. मंदी काल में ऋणदाता को लाभ होता है। इस बात का पता लगाना एक प्रमुख उद्देश्य है।

विस्फीति अर्थात् मुद्रा संकुचन अथवा मंदी
(Deflation or Depression)

5.1 प्रस्तावना

मुद्रा–स्फीति की विपरीत अवस्था को मुद्रा संकुचन अथवा मंदी कहते हैं। यद्यपि साधारणतया मूल्यों की प्रत्यक्ष गिरावट को मुद्रा का संकुचन कहा जाता है, परन्तु जिस प्रकार कि मूल्यों की प्रत्येक वृद्धि को स्फीति नही कहा जा सकता है, ठीक इसी प्रकार मूल्यों के प्रत्येक पतन को मुद्रा संकुचन नहीं कहा जा सकता। जब किसी–किसी देश में मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से कम होती है तब इसे मुद्रा संकुचन कहते है। प्रो. पीगू (Pigou) ने मुद्रा संकुचन की परिभाषा इस प्रकार से दी है, "जब किसी समाज की मौद्रिक आय की तुलना में वहाँ पर वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन अधिक तेजी से बढ़ता है जिससे मुद्रा की क्रय–शक्ति बढ़ जाती है या वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य गिर जाता है, तब मूल्यों के कम हो जाने की इस स्थिति को मुद्रा विस्फीति कहते हैं।" पीगू की उक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि मूल्यों का प्रत्येक पतन मुद्रा संकुचन नहीं होता। उनके मतानुसार निम्न दशाओं में मूल्यों का पतन मुद्रा संकुचन की श्रेणी में आता है–

1. जबकि उत्पादन बढ़ रहा हो और मौद्रिक आय स्थिर हो।
2. जब मौद्रिक आय और उत्पादन दोनों ही बढ़ रहे हों परन्तु मुद्रा आय की मात्रा उस अनुपात में नहीं बढ़ती जिस अनुपात में वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन बढ़ता है।
3. जबकि उत्पादन बढ़ता है परन्तु मौद्रिक आय यथास्थिर रहती है।
4. जब उत्पादन यथास्थिर हो और मौद्रिक आय कम हो रही हो।

5. जब उत्पादन और मौद्रिक आय दोनों ही घट रहे हों, परन्तु मौद्रिक आय अपेक्षाकृत अधिक तेजी से घटती है।

5.2 मंदी के कारण

किसी भी देश में मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न होने के लिये अनेक कारण हो सकते हैं। प्रमुख कारण निम्नलिखित है–

(1) चलन की मात्रा को कम करने के लिये अपरिवर्तनशील पत्र–मुद्रा को अवैधानिक घोषित करके या प्रत्येक सरकार की मुद्रा के परिमाण में कमी करके विस्फीति उत्पन्न हो जाती है।

(2) जब सरकार जनता पर कर का भार बढ़ा देती है तो मुद्रा संकुचन की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

(3) कभी–कभी सरकार जनता से ऋण प्राप्त कर उन्हें उत्पादन कार्यों में लगाती है। इसमें एक ओर तो जनता की क्रय शक्ति कम हो जाती है और दूसरी ओर देश का उत्पादन बढ़ता है। इससे मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(4) कभी–कभी आकस्मिक रूप से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ जाता है परन्तु मुद्रा की मात्रा पूर्ववत् रहती है इसलिये उनका मूल्य स्वमेव ही गिरने लगता है। इस प्रकार मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(5) मुद्रा संकुचन की स्थिति बैंक दर में वृद्धि करके भी उत्पन्न की जा सकती है। जब देश का केन्द्रीय बैंक अपनी दर ऊँची दर कर देता है तो देश की अन्य बैंकिंग संस्थायें भी ब्याज की दर ऊँची बैंक दर मुद्रा संकुचन में योगदान करती है।

(6) केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचकर भी प्रचलन से मुद्रा की मात्रा को कम किया जा सकता है। प्रचलन में मुद्रा की मात्रा में कमी होने से जनता बैंकों से अपनी जमा राशि निकाल लेती है और बैंकों के पास निक्षेप कम हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति कम हो जाती है और साख मुद्रा का संकुचन हो जाता है।

(7) केन्द्रीय बैंक अन्य साधन अपनाकर जैसे, सीधी कार्यवाही साख की राशनिंग, नकद कोषों के अनुपात परिवर्तन, ऋण पत्रों को बेचकर भी साख मुद्रा की मात्रा को कम कर सकती है जिससे मुद्रा संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(8) जब देश का भुगतान सन्तुलन अनुकूल हो और विदेशों से स्वर्ण अथवा पूँजी आयात होने पर भी न तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो और न वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने दी जाये तो संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

5.3 मुद्रा संकुचन के प्रभाव (Effects of Deflation)

मुद्रा संकुचन का प्रभाव भी प्रायः समाज के सभी वर्गों पर पड़ता है। मुद्रा संकुचन में मूल्य स्तर गिरना आरम्भ होता है, उत्पादन की मात्रा में कमी होने लगती है, बेरोजगारी फैल जाती है। जनता की कुल आय कम होने से वस्तुओं की माँग और अधिक कम होने लगती है और देश में भयंकर मन्दी तथा बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में निराशावाद फैल जाता है। यह स्थिति अर्थव्यवस्था को पतन की ओर ले जाती है। मुद्रा संकुचन से समाज के विभिन्न वर्गों पर जो प्रभाव पड़ता है, वह इस प्रकार है–

(1) उत्पादन तथा व्यापारी वर्ग–मुद्रा संकुचन की स्थिति में व्यापारी तथा उत्पादन वर्ग को हानि होती है। वस्तुओं का मूल्य कम होते हुये भी इनकी माँग में या बिक्री में कमी हो जाती है। इससे व्यापारी कुछ समय तक माल जिस किसी भी मूल्य पर बेचते रहते हैं, परन्तु जब अधिक हानि होने लगती है तब हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाते हैं। परिणामस्वरूप देश की सारी औद्योगिक तथा व्यवस्था ठप होने लगती है।

(2) उपभोक्ता वर्ग–वस्तुओं के मूल्यों में कमी होने से उपभोक्ताओं को लाभ होता है तथा उपभोग स्तर बढ़ जाता है। उपभोक्ताओं का जीवन–स्तर ऊँचा हो जाता है। मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़

जाती है, अतः उपभोक्ताओं को मुद्राओं की प्रत्येक इकाई के बदले अधिक वस्तुओं की प्राप्ति होने लगती है।

(3) विनियोगी वर्ग–इस वर्ग में दो प्रकार के व्यक्ति हैं। प्रथम निश्चित आय वाले– इस वर्ग के लोगों को फायदा होता है क्योंकि मौद्रिक आय पूर्ववत् रहती है और मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाती है। इसी प्रकार सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों में ऋण पत्रधारियों तथा सरकारी बाँड्स आदि में पूँजी लगाने वाले विनियोग–कर्ताओं को लाभ होता है। द्वितीय परिवर्तनशील आय वाले विनियोग-कर्ता– विस्फीति की स्थिति में इस वर्ग को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि उनके विनियोगों से वास्तविक आय वस्तुओं और सेवाओं के रूप में घट जाती है। कम्पनियों का लाभांश कम हो जाने पर कम्पनी के अंशधारियों का लाभांश भी कम हो जाता है।

(4) श्रमिक तथा कर्मचारी वर्ग–मुद्रा विस्फीति की दशा में एक दृष्टि से इस वर्ग को लाभ होता है। सेवायोजकों के लिये मुद्रा संकुचन की स्थिति में श्रमिकों की मजदूरी में कटौती कर पाना सम्भव नहीं होता है। यदि कम भी होती है तो यह मूल्यों की तुलना में ऊँची ही रहती है, क्योंकि मजदूरियाँ मूल्यों के पीछे–पीछे रहती हैं। इस प्रकार वेतनभोगी वर्ग (Salaried Persons) को भी लाभ होता है, क्योंकि उनके वेतन में भी कमी होने की भी सम्भावना नहीं रहती है, परन्तु दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाये तो इस वर्ग को हानि भी होती है, क्योंकि मुद्रा संकुचन के कारण जब उत्पादकों को हानि होने लगती हैं तो वे उत्पादन में कमी कर देते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि श्रमिकों तथा वेतन भोगियों की छँटनी कर दी जाती है जिससे बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। श्रमिक वर्ग में निराशा का वातावरण छा जाता है। वे संगठित होकर इसका विरोध करते हैं, हड़ताल आदि करते हैं और उसके बदले में मिल मालिक तालाबन्दी का मार्ग अपनाते हैं। इस प्रकार औद्योगिक अशान्ति का वातावरण निर्मित हो जाता है।

(5) ऋणी तथा ऋणदाता वर्ग– मुद्रा संकुचन के काल में ऋणी वर्ग को हानि उठानी पड़ती है तथा ऋणदाता वर्ग को लाभ होता है। ऋणी वर्ग को इसलिये हानि उठानी पड़ती है कि मूलधन तथा ब्याज के रूप में इस वर्ग को जो रकम वापस करनी पड़ती है उसका वास्तविक मूल्य बढ़ जाता है, क्योंकि मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि ऋण का भार बढ़ जाता है और वह इसका आसानी से भुगतान नहीं कर पाता है। परन्तु इस वर्ग को एक लाभ भी होता है कि माँग घट जाने के कारण ऋण सरलता से प्राप्त हो जाता है। ऋणदाता वर्ग को इस काल में सामान्यतया वस्तुओं और सेवाओं के रूप में लाभ होता है। मुद्रा की क्रयशक्ति में वृद्धि हो जाने से ब्याज तथा मूलधन के रूप में मिलने वाली राशि का वास्तविक मूल्य बढ़ जाता है। परन्तु दूसरी ओर हानि भी होती है कि व्यापारिक व औद्योगिक मन्दी के पूँजी की माँग अथवा ऋण की मांग कम हो जाती है जिससे ब्याज की दरें नीची हो जाती है।

5.4 मुद्रा संकुचन को रोकने के उपाय
(Measures Control of Deflation)

1. मुद्रा संकुचन की स्थिति में सरकार की राष्ट्रीय विकास तथा निर्माण की विभिन्न योजनायें बना कर उन पर व्यय करना चाहिये। इससे बेरोजगारी में कमी होगी तथा जनता की क्रयशक्ति में वृद्धि होगी। क्रयशक्ति में वृद्धि होने से वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने लगती है और अर्थव्यवस्था में सन्तुलन आने की सम्भावना बढ़ जाती है।

2. देश की केन्द्रीय बैंक अधिक मात्रा में चलन का निर्गमन कर संकुचन की स्थिति को दूर कर सकता है।

3. केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति द्वारा भी विस्फीति को रोकने में सहायता मिल सकती है। समाज में बैंकों को साख मुद्रा के निर्माण करने के सम्बन्ध में अधिक उदार सुविधायें प्रदान कर, बैंक दर घटाकर तथा खुले बाजार की क्रियाओं के द्वारा प्रतिभूतियों को खरीदकर समाज में विनियोग की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है। परन्तु इस नीति की सफलता व असफलता उद्यमकत्ताओं की मनोवृत्ति पर निर्भर रहती है।

4. मुद्रा संकुचन की स्थिति में करों में कमी कर देने से उत्पादकों में लाभाँश बढ़ जाता है। परिणामस्वरूप उत्पदन को प्रोत्साहन मिलता है और बेराजगारी की समस्या कुछ हद तक हल हो जाती है। रोजगार की स्थिति में सुधार होने से लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि हो जाती है तथा वस्तुओं और सेवाओं की माँग में वृद्धि हो जाती है जिससे मूल्य–स्तर और नहीं गिरने पाता है।

5. मुद्रा संकुचन काल में पुराने ऋणों का भुगतान करके भी सरकार विस्फीति को रोकने में कुछ सीमा तक सफलता प्राप्त कर सकती है। ऋणों के भुगतान करने से ऋणदाताओं को आय प्राप्त होती है, जिससे वे व्यय में वृद्धि कर सकते हैं।

6. मुद्रा संकुचन के कारण समाप्त हो जाने वाले उद्योगों को पुनः जीवित करने के लिये सरकार उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान कर सकती है जिससे वे कालान्तर में आत्मनिर्भर हो सकें।

7. आयातों पर नियन्त्रण लगाकर और निर्यातों को प्रोत्साहित कर मुद्रा संकुचन की स्थिति को रोका जा सकता है। ऐसा करने से बन्द कारखाने फिर से चालू हो जायेंगे और देश के व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा और मूल्य स्तर में वृद्धि होगी।

8. मूल्य स्तर में वृद्धि करने के लिये तथा माँग की अपेक्षा पूर्ति को घटाने के उद्देश्य से पहले से उत्पादित वस्तुओं को नष्ट करने की नीति अपनाई जाती है, ताकि वस्तुओं की प्राप्ति में कमी हो जाये और अन्ततः मूल्य–स्तर उँचा हो जायेगा।

9. लगान में छूट देकर भी सरकार उत्पादन को प्रोत्साहित कर सकती है।

5.5 मुद्रा स्फीति तथा अवस्फीति में अंतर
(Difference between Inflation and Deflation)

मुद्रा–स्फीति तथा अवस्फीति दोनों ही आर्थिक रोग हैं जो सम्पूर्ण अर्थ–व्यवस्था को भिन्न–भिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं। प्रो. केन्स के विचारानुसार, "मुद्रा–स्फीति अन्यायपूर्ण है तथा अवस्फीति अनुपयुक्त है। दोनों में सम्भवतः अवस्फीति अधिक खराब है क्योंकि एक निर्धन विश्व में किराये की आमदनी पर निर्भर करने वाले अनुत्पादक व्यक्ति को निराश करने की अपेक्षा बेरोजगारी को उकसाना अधिक खराब होता है।"

मुद्रा–स्फीति अनेक कारणों से अन्यायपूर्ण है?
(Why Inflation is unjust?)

(1) बचत करने वाले लोग जो भविष्य के लिए मुद्रा बचाकर रखते हैं, उनको मुद्रा का मूल्य कम हो जाने के कारण बहुत हानि होती है। इसी प्रकार, सरकारी प्रतिभूतियों आदि के रूप में अपने धन का निवेश करने वाले लोगों को भी बहुत हानि होती है। प्रो. वकील ने इसीलिए मुद्रा–स्फीति को अदृश्य डकैती कहा है।

(2) ऋणदाता को हानि उठानी पड़ती है। अत्यधिक त्याग करके अपनी मुद्रा दूसरे को देने वाला व्यक्ति तो घाटे में रहता है, जबकि उधार लेने वाले को बैठे–बिठाये असाधारण लाभ की प्राप्ति होती है। इंग्लैंण्ड में 1919 में ऋण लेने वाले व्यक्ति को 1920 में लौटाने पर लगभग 46% का लाभ हुआ था।

(3) केन्स ने मुद्रा–स्फीति को धन वितरित करने का शक्तिशाली इंजन बताते हुए कहा है कि यह इंजन बिल्कुल अन्धा होकर धन का वितरण करता है, क्योंकि यह किसी व्यक्ति के गुणों तथा अवगुणों का विचार नहीं करता।

(4) मुद्रा–स्फीति की प्रवृत्ति एक प्रकार से अदृश्य करारोपण (Invisible taxation) हो होती है। सरकार बजट सम्बन्धी घाटे की पूर्ति के लिए अधिक मुद्रा का निर्गमन करके मुद्रा के मूल्य को गिरा देती है जिसके कारण उपभोक्ता अनेक वस्तुओं तथा सेवाओं के उपभोग से वंचित रह जाता है, सरकार उनकी क्रय–शक्ति को अप्रत्यक्ष रूप से छीन लेती है।

(5) मुद्रा–स्फीति का भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है क्योंकि आवश्यक वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाने के कारण उनके लिए पेट भरना भी कठिन हो जाता है। उत्पादक तथा व्यापारी वर्ग के धनी लोगों की आय में वृद्धि होने के कारण उन्हें तो मुद्रा–स्फीति से लाभ ही होता है, संकट तो केवल निर्धनों के लिए होता है। इस प्रकार स्फीति–काल में वितरण में विषमताएँ और भी बढ़ जाती हैं।

(6) मुद्रा–स्फीति से देश में जो एक प्रकार की कृत्रिम सम्पन्नता (artificial prosperty) उत्पन्न होती है वह स्थायी नहीं होती। कीमतें बढ़ते–बढ़ते उस सीमा तक जा पहुँचती है जहाँ अर्थ–व्यवस्था अस्त–व्यस्त होने लगती है तथा अवस्फीतिक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आर्थिक स्थिरता न होने के कारण समाज में अलग–अलग वर्गों को कभी लाभ तो कभी हानि होती रहती।

अवस्फीति अनुपयुक्त क्यों?
(Why Deflation Is Inexpedient)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केन्स ने मुद्रा–स्फीति को अन्यायपूर्ण ठीक ही बताया है। यदि मुद्रा–स्फीति अन्यायपूर्ण है, तो अवस्फीति अनुपयुक्त है, क्योंकि–

(1) अवस्फीति बेरोजगारी की गम्भीर समस्या को उत्पन्न करती है। बेरोजगार लोग समाज के ऊपर एक भार होते हैं जिनके लिए खाने–पीने की व्यवस्था तो करनी ही होती है, परन्तु समाज को उनसे मिलता कुछ नहीं।

(2) कृषि, व्यापार तथा उद्याोग सभी का पतन होता है तथा उत्पादक वर्ग निराशावादी हो जाता है। गिरती हुई कीमतें उत्पादन पर रोक लगाती हैं तथा देश को निर्धन बना देती हैं।

(3) अवस्फीति की स्थिति इसलिए भी अनुपयुक्त है कि एक बार आरम्भ होने पर इसका नियन्त्रण करना बहुत कठिन हो जाता है।

अवस्फीति की स्थिति में बेरोजगारी फैलती है, उद्योग–धन्धें ठप हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण समाज का आर्थिक पतन होता है, इसलिए केन्स ने अवस्फीति को स्फीति से भी अधिक बुरा बताया है।

वास्तविकता तो यह है कि मुद्रा–स्फीति तथा अवस्फीति दोनों ही दोषपूर्ण तथा हानिकारक हैं। इन दोनों में से किसी एक का अच्छा तथा दूसरे को बुरा बताना एक चोर तथा डाकू में तुलना करने के समान है। स्वयं केन्स के शब्दों में, "यह आवश्यक नहीं कि हम एक बुराई को दूसरे से तोलकर देखें। यह स्वीकार कर लेना आसान है कि दोनों ही ऐसी बुराइयाँ हैं जिनसे दूर रहना चाहिए।"

5.6 संस्फीति
(Reflation)

मुद्रा–स्फीति से मिलती एक अन्य स्थिति संस्फीति (Reflation) की होती है। आर्थिक मन्दी की दशा में अर्थ–व्यवस्था को पुनः सन्तुलित स्थिति में लाने के लिए जब नियन्त्रित रूप में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जाती है, तो उसे 'संस्फीति' अथवा 'मुद्रा–प्रत्यवस्फीति' कहते हैं। कोल ने लिखा है कि "संस्फीति को मन्दी के प्रभावों को दूर करने के लिए की जाने वाली स्फीति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

स्फीति तथा संस्फीति की प्रकृति लगभग एक–सी होती है। दोनों ही में मुद्रा की मात्रा बढ़ती है तथा कीमतों में वृद्धि होती है, परन्तु फिर भी दोनों के बीच कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं :

1. स्फीति के कारण स्वाभाविक होते हैं अथवा ऐच्छिक, जबकि संस्फीति सदा ही ऐच्छिक होती है। दूसरे शब्दों में, कीमतों को फिर से सामान्य स्तर पर लाने के लिए संस्फीति की नीति एक योजना के अनुसार अपनायी जाती है।

2. स्फीति का आरम्भ कीमतों के स्तर से ऊपर उठ जाने पर होता है, जबकि संस्फीति का उद्देश्य कीमतों को सामान्य स्तर पर लाना होता है। संस्फीति उद्धार–काल (period of recovery) से सम्बन्धित होती है तथा कीमतों को सामान्य स्तर पर लाने के पश्चात् समाप्त हो जाती है। इसके आगे बढ़ने पर स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

3. स्फीति के परिणाम हानिकारक होते हैं तथा यह विनााशकारी हो सकती है, परन्तु संस्फीति निर्माणात्मक होती है क्योंकि इसका उद्देश्य मन्दी के स्थिति का उपचार करना होता है।

5.7 अपस्फीति
(Disinflation)

जिस प्रकार अवस्फीति का सुधार संस्फीति है, उसी प्रकार मुद्रा–स्फीति का सुधार अवस्फीति अथवा विस्फीति है। मुद्रा–स्फीति के उग्र रूप धारण कर लेने पर कीमतों में इस प्रकार की कमी करना

कि उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा में किसी प्रकार की कमी न हो, 'अपस्फीति' की स्थिति कहलाती है। इसका उद्देश्य मुद्रा–स्फीति को बिना अवस्फीति की स्थिति उत्पन्न किये समाप्त करना होता है। कॉलबोर्न के अनुसार, "कीमतों, आय तथा व्यय में जो भी गिरावट लाभकारी होगी, वह अपस्फीति होगी।" द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मुद्रा–स्फीति पर नियन्त्रण के लिए विभिन्न सरकारों ने अवस्फीति को अपनाया है।

अवस्फीति तथा अपस्फीति दोनों ही गिरती हुई कीमतों की सूचक होती हैं तथा दोनों की प्रकृति लगभग एक–सी होती है किन्तु फिर भी दोनों में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं–

1. अवस्फीति स्वाभाविक कारणों से हो सकती है अथवा ऐच्छिक होती है, जबकि अपस्फीति सदा ऐच्छिक ही होती है, जिसे सरकार एक योजनाबद्ध नीति के आधार पर करती है।

2. अवस्फीति की स्थिति में कीमतें सामान्य स्तर से नीचे गिर जाती हैं, जबकि अपस्फीति का उद्देश्य बढ़ी हुई कीमतों को सामान्य स्तर पर लाना होता है।

3. अवस्फीति मन्दी की दशाएँ उत्पन्न करती है परन्तु अपस्फीति केवल असाधारण आर्थिक स्थिति को सन्तुलित करती है। दूसरे शब्दों में, अपस्फीति के अन्तर्गत उत्पादन तथा रोजगार में कमी नहीं होती।

4. कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार यदि अर्थ–व्यवस्था पूर्ण–रोजगार के बिन्दु पर है और कीमतें घटायी जाती हैं, तो यह अपस्फीति है। परन्तु पूर्ण–रोजगार के बिन्दु पर है और कीमतें घटायी जाती हैं, तो यह अपस्फीति है। परन्तु पूर्ण–रोजगार के बिन्दु से पूर्व ही यदि कीमतें घटती हैं तो यह अवस्फीति होती है।

5.8 सारांश

विस्फीति अथवा मन्दी के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और मूल्य स्तर में ह्रास तथा मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होती है। विस्फीति कुल पूर्ति की तुलना में कुल मांग में कमी की स्थिति है। मन्दी यदि अनेक कारणों से अत्यधिक खतरनाक होता है तो कुछ स्थिति में लाभदायक भी होता है। कुछ लोग कहते हैं कि मन्दी हमारे धैर्य की परीक्षा है। परन्तु व्यावसायिक उतार–चढ़ाव नैतिक पतनों से परिपूर्ण है। अतएव इस नैतिक आधार पर मन्दी को उचित नहीं ठहराया जा सकता है। मन्दी आविष्कारों को जन्म देती है। किन्तु मन्दी काल में बेरोजगारी चरम पर होने पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के ध्वस्त होने का भय रहता है क्योंकि मुद्रा संकुचन का क्रम एकबार शुरू होने पर धीरे–धीरे भयंकर रूप धारण कर लेता है। लोगों का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन अस्त–व्यस्त हो जाता है, उत्पादन साधन पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं तथा देश की अर्थव्यस्था खोखली हो जाती है।

5.9 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मन्दी किसे कहते हैं? इसके क्या कारण हैं?

प्रश्न 2- मन्दी से विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले प्रभाव को समझाइये।

प्रश्न 3- "मुद्रा–स्फीति अन्यायपूर्ण है और अवस्फीति अनुपयुक्त। इन दोनों में अवस्फीति अधिक खराब है।" विवेचना कीजिए।

5.10 शब्दावली

संस्फीति	:	Reflation
अपस्फीति	:	Disiflation
अवसाद	:	Recession
अति उत्पादन	:	Over Production
समग्र पूर्ति	:	Aggregate Supply
उत्पत्ति ह्रास नियम	:	Law of Diminishining Returns

5.11 संदर्भ सूची

G. Ackley	:	Macro Economic Theory (1961) Chap. 16
F. S. Brooman	:	Macro Economics (4th ed, Chap. 13)
A. Day	:	Outline of Monetary Economics (1957, Chap. 18-22)
R. F. Harrod	:	Money (1969) Chap, 6
M. Stewart	:	Keynes and After (1961) Chap. 8

खण्ड– 02
मुद्रा की पूर्ति, मौद्रिक नीति एवं बैंकिंग

इकाई– 01
मुद्रा की पूर्ति एवं मौद्रिक नीति की अवधारणाएँ, मुद्रा गुणक

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति
1.3 मुद्रा का प्रचलन वेग
1.4 मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्व
1.5 मुद्रा स्टॉक और मुद्रा प्रवाह
1.6 उच्च शक्ति मुद्रा
1.7 मुद्रा गुणक
1.8 मुद्रा पूर्ति का माप
1.9 सारांश
1.10 बोध प्रश्न
1.11 शब्दावली
1.12 सन्दर्भ सूची

1.0 उद्देश्य

खण्ड 2 के इकाई 1 मुद्रा की पूर्ति एवं मौद्रिक नीति की अवधारणाएं, मुद्रा गुणक के अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति की अवधारणाओं के बारे में अध्ययन करना मुख्य उद्देश्य है। मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत घरेलू मुद्रा की उस कुल मात्रा से है जो राष्ट्र की जनता द्वारा स्वीकृति या उसके पास होती है। यहां जनता से अभिप्राय अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित व्यक्तियों, व्यावसायिक फर्मों, राज्य तथा स्थानीय सरकारों से है। इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है–

1. चलन के मुद्रा के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
2. मांग जमा के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
3. मुद्रा पूर्ति के विभिन्न घटकों के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
4. मुद्रा पूर्ति की स्टॉक तथा प्रवाह के बारे में जानकारी प्राप्त करना।
5. मुद्रा के प्रचलन वेग के महत्व को समझना तथा मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्वों और मुद्रा गुणक के बारे में जानकारी प्राप्त करना।

मुद्रा की पूर्ति (Money Supply)

1.1 प्रस्तावना

मुद्रा वह है जिसे लोग भुगतान के माध्यम या ऋण को चुकाने में सामान्यतः स्वीकार करते हैं। इस रूप में मुद्रा का कार्य अनेक प्रकार से सम्पन्न होता है। लोग करेंसी तथा चेक का उपयोग करते हैं, युद्धबन्दी शिविर में सिगरेट का उपयोग इसी रूप में हुआ है, आदि। अतः एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मुद्रा के अन्तर्गत किस–किस को सम्मिलित किया जाए तथा किसी देश की मुद्रा की पूर्ति का अनुमान किस प्रकार लगाया जाता है।

मुद्रा पूर्ति से हमारा आशय किसी विशेष समय में अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल मात्रा से है। मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में तीन प्रकार के विचार या परिभाषाएं उल्लेखनीय हैं।

प्रथम परिभाषा के अनुसार मुद्रा की पूर्ति का तात्पर्य लोगों के पास नकद मुद्रा एवं व्यापारिक बैंकों के पास मांग जमा राशि से है। मांग जमा राशि का अर्थ चालू खातों में जमा वह राशि है जिसकी मांग होने पर बैंकों को तत्काल भुगतान करना होता है। इसे M_1 द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह मुद्रा पूर्ति की संकुचित परिभाषा है।

द्वितीय परिभाषा मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से मुद्रा की पूर्ति को परिभाषित करते हुए प्रो. फ्रीडमेन कहते हैं कि "किसी विशेष समय में मुद्रा की पूर्ति का आशय सही अर्थों में डॉलरों की वह राशि है जो लोगों की पाकिट में होती है, डॉलरों की वह मात्रा होती है जो लोगों के खाते में बैंकों में जमा होती है।" डॉलर के स्थान पर किसी भी देश की मुद्रा को लिया जा सकता है। इस परिभाषा में मुद्रा के मूल्य संचय कार्य का महत्व दिया गया है। इस अमेरिका में M_2 तथा ब्रिटेन में M_3 के नाम से जाना जाता है। भारत में इसे M_3 कहा जाता है।

मुद्रा पूर्ति की तीसरी परिभाषा सबसे अधिक विस्तृत है तथा अर्थशास्त्री गुर्ले एवं शा से सम्बन्धित है। उनके अनुसार मुद्रा की पूर्ति में उपरोक्त M_2 के साथ बचत बैंकों की जमा राशि एवं अन्य साख तथा संस्थाओं की जमा राशि भी शामिल होती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में किसी विशेष देश या स्थिति में परिभाषा की उपयुक्तता मौद्रिक नीति पर निर्भर रहती है अर्थात् जिसके आधार पर मौद्रिक नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जा सके। यदि हम मुद्रा के विनिमय माध्यम को महत्व दे ंतो विश्लेषणात्मक दृष्टि से पहली परिभाषा अच्छी है। दूसरी परिभाषा भले ही विश्लेषणात्मक दृष्टि से अच्छी न हो, किन्तु मौद्रिक नीति की क्रियाशीलता की दृष्टि से यह अधिक अनुकूल है, क्योंकि इसमें केन्द्रीय बैंक अधिक विस्तृत मौद्रिक नियन्त्रण अपना सकता है। जहां तक तीसरी परिभाषा का प्रश्न है, यह बहुत अधिक विस्तृत होने के कारण असन्तोषजनक है।

उपर्युक्त परिभाषाओं की व्याख्या के आधार पर मुद्रा की पूर्ति अथवा कुल मात्रा निर्धारित करने के लिए मुख्यतया तीन तत्वों को सम्मिलित किया जाता है–

1. केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित विभिन्न नोटों की कुल मात्रा।
2. सरकार द्वारा निर्गत की गई मुद्रा अर्थात विभिन्न प्रकार के सिक्कों की कुल मात्रा।
3. बैंकों की मांग जमा।

इस तरह, किसी देश में मुद्रा की कुल पूर्ति चलन मुद्रा और बैक मुद्रा द्वारा निर्धारित होती है।

1.2 मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति

मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति से तात्पर्य मुद्रा की उस मात्रा से है जो किसी समय परिचलन में होती है। मुद्रा की कुल पूर्ति अथवा मात्रा को कार्य अथवा प्रभाव के आधार पर दो भागों में बांटा जा सकता है। एक भाग वह है जो केन्द्रीय सरकार के खजाने, केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों के पास 'आधार' अथवा 'आरक्षित मुद्रा' के रूप में रखा जाता है। यह मुद्रा कोषों में रखी रहती है, परिचलन में नहीं रहती। मुद्रा की मात्रा का दूसरा भाग जो कि अधिक विस्तृत है, परिचलन में रहता है। परिचलन में मुद्रा विनिमय सम्बन्धी तथा अनय भुगतानों के माध्यम के रूप में उपयोग किए जाने के लिए जनता को उपलब्ध होती है। जनता के अन्तर्गत सभी व्यक्तियों, व्यावसायिक फर्मों, राज्य सरकारों, स्थानीय संस्थाओं एवं निगमें, आदि को सम्मिलित किया जा सकता है। मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति से तात्पर्य मुद्रा की कुल मात्रा के दूसरे भाग से है जो व्यय योग्य रूप में जनता के पास किसी समय उपलब्ध होती है। इस तरह मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति ज्ञात करने के लिए मुद्रा की कुल पूर्ति अथवा मात्रा (विधिग्राह्य एवं बैंक मुद्रा) में से धात्विक पत्र मुद्रा की वह मात्रा निकाल दी जाती है जो सरकार, केन्द्रीय बैंक अथवा व्यापारिक बैंकों के कोषों में आधार अथवा आरक्षित मुद्रा के रूप में पड़ी रहती है। मुद्रा के निर्धारण में मुद्रा की प्रभावकारी पूर्ति ही अधिक महत्वपूर्ण होती है।

1.3 मुद्रा का प्रचलन वेग
(Velocity of Circulation of Money)

मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति किसी निश्चित समय में मुद्रा के व्यय योग्य स्टॉक से सम्बन्धित है। स्टॉक के साथ ही मुद्रा में प्रवाह का गुण भी होता है। विनिमय की प्रक्रिया में मुद्रा की विभिन्न इकाइयां एक निश्चित समयावधि में कई हाथों से गुजरती हैं और हर बार मुद्रा का कार्य करती हैं। एक निश्चित अवधि में मुद्रा की एक इकाई जितनी बार भुगतान करने के काम में लाई जाती है वह मुद्रा की उस इकाई की चलन गति (अथवा वेग) कहलाती है। किसी निश्चित अवधि में मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति की मात्रा केवल प्रचलन में मुद्रा की मात्रा के बराबर ही नहीं होती बल्कि मात्रा व प्रचलन वेग के गुणनफल (प्रचलन में मुद्रा की मात्रा मुद्रा का प्रचलन वेग) के बराबर होती है। उदाहरण के लिए, यदि 10 रुपए का नोट दिन में 5 बार विनिमय माध्यम के रूप में एक के बाद दूसरे हाथ में जाता है तो उसका दैनिक प्रचलन वेग 5 होगा। इस अवधि में मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति रुपए होगी।

हॉम के अनुसार, "मुद्रा का प्रचलन वेग व्यक्तियों, व्यापारिक फर्मों तथा अन्य लोगों के बीच किसी निश्चित अवधि में होने वाले मौद्रिक हस्तान्तरणों की संख्या की ओर संकेत करता है। इस संख्या में प्रत्येक हस्तान्तरण को सम्मिलित करते हैं। चाहे वह उपभोक्ता द्वारा किए गए क्रयों, उत्पादकों द्वारा किए गए क्रयों अथवा अन्य वित्तीय लेन–देन से सम्बन्धित हो।" स्पष्टतया मुद्रा के प्रचलन वेग का सम्बन्ध केवल उसी मुद्रा से होता है जो "चलायमान मुद्रा" कहलाती है। व्यक्तियों, संस्थानों एवं बैंकों में संचित मुद्रा 'स्थिर मुद्रा' (Money Sitting) कहलाती है और उसमें प्रचलन वेग नहीं होता। मुद्रा के प्रचलन वेग का यह स्वरूप मुद्रा के नकद भुगतान वेग को व्यक्त करता है। मुद्रा के मूल्य निर्धारण से सम्बन्धित इर्विंग फिशर द्वारा दी गई व्याख्या में इसी का प्रयोग किया गया है।

व्यवहार में मुद्रा की सभी इकाइयों का प्रचलन वेग एक समान नहीं होता। अलग–अलग मूल्य के सिक्कों तथा नोटों का प्रचलन वेग अलग–अलग होता है। इसके अतिरिक्त सामान्य मुद्रा तथा बैंक मुद्रा के प्रचलन वेग में भी अन्तर होता है। मुद्रा की विभिन्न इकाइयों, विभिन्न रूपों व प्रयोगों के अनुरूप प्रचलन वेग के भिन्न–भिन्न औसत निकाले जा सकते हैं। इन औसतों के आधार पर प्राप्त सामूहिक औसत कुल मुद्रा के प्रचलन वेग को व्यक्त करता है।

मुद्रा के प्रचलन वेग को राष्ट्रीय आय के माध्यम से भी ज्ञात किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत मुद्रा के प्रयोग को केवल उन्हीं वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय–विक्रय में देखा जाता है जो किसी निश्चित समयावधि में राष्ट्र की कुल वास्तविक आय में सम्मिलित होती हैं। प्रचलन वेग का यह रूप मुद्रा का आय प्रचलन वेग कहलाता है। मुद्रा के मूल्य–निर्धारण सम्बन्धी कैम्ब्रिज दृष्टिकोण में इसी को अपनाया गया है। मुद्रा का आय प्रचलन वेग किसी वर्ष में मुद्रा की पूर्ति का उस वर्ष की राष्ट्रीय आय के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। चूंकि वास्तविक आय में सम्मिलित होने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं के लेन–देन का आकार समस्त प्रकार के लेन–देन अथवा भुगतानों के आकार से छोटा होता है, अतः आय प्रचलन वेग–मुद्रा के नकद भुगतान वेग की तुलना में छोटा होता है।

वास्तविक आय में सम्मिलित वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए मुद्रा का प्रयोग तभी होगा जब वह किसी व्यक्ति द्वारा अपनी आय के रूप में प्राप्त किया जाए। इस तरह, आय प्रचलन वेग उस औसत संख्या को व्यक्त करता है जितनी बार मुद्रा की इकाई एक निश्चित अवधि, सामान्यतया एक वर्ष में, अन्तिम आय प्राप्तकर्ताओं के नकद शेषों में प्रविष्ट होती है अथवा उनसे बाहर निकलती है। हॉम ने इसे मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग कहा और इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है–

"चक्रीय प्रचलन वेग उस औसत समय विस्तार को व्यक्त करता है जो एक अन्तिम आय प्राप्तकर्ता से दूसरे अन्तिम आय प्राप्तकर्ता के बीच मुद्रा के प्रवाह के लिए आवश्यक होता है अथवा यदि आय प्राप्ति की अवधि को एक वर्ष मान लिया जाए तो इस अवधि में विविध आय–प्राप्तकर्ताओं के बीच मुद्रा प्रवाह के जितने चक्र पूरे होते हैं, मुद्रा का चक्रीय प्रचलन वेग होगा।"

राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जाने वाली वस्तुओं की कुल मात्रा (Q) को यदि सामान्य कीमत स्तर (P) से गुणा कर दिया जाए तो चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय (NNP at current prices) ज्ञात की जा सकती है। इसे मुद्रा की पूर्ति (M) से भाग देने पर प्रचलन वेग (V) ज्ञात होता है। अतः

$$v = \frac{NNP}{M} = \frac{P_1q_1 + P_2q_2 + \cdots.}{M} = \sum \frac{p.q}{M} = \frac{P.Q}{M}$$

अतः मुद्रा की चलन गति के निर्धारक तत्व– मुद्रा का प्रचलन वेग कभी स्थिर नहीं रहता। इसे निम्न घटक प्रभावित करते रहते हैं।

1. मुद्रा की मात्रा– यदि मुद्रा की मात्रा चलन में कम है तो इसकी गति अधिक होगी, क्योंकि वही मुद्रा बार–बार प्रयोग में लाई जाएगी। इसके विपरीत, यदि चलन में मुद्रा अकि है तो इसकी गति कम होगी।

2. जनता में बचत की आदत– यदि जनता की बचत प्रवृत्ति अधिक है तो चलन गति कम होगी और यदि बचत की आदत कम है तो चलन गति अधिक होगी।

3. क्रय की किस्म– यदि नकद क्रय–विक्रय की प्रथा प्रचलित है तो मुद्रा का प्रचलन वेग अधिक होता है। उधार क्रय–विक्रय की प्रवृत्ति होने पर प्रचलन वेग कम होता है।

4. उधार चुकाने की अवधि– यदि उधार का भुगतान कई बार में थोड़ी–थोड़ी मात्रा में किया जाता है तो चलन गति अधिक होगी। यदि भुगतान की अवधि लम्बी है तो चलन गति कम होगी।

5. तरलता अधिमान– यदि जनता में तरलता अधिमान की प्रवृत्ति तीव्र है अर्थात लोगों में नकद धन रखने की प्रवृत्ति अधिक है तो मुद्रा का प्रचलन वेग कम होगा। इसके विपरीत, तरलता पसन्दगी कम होने पर प्रचलन वेग अधिक होगा।

6. मजदूरी भुगतान की रीति– मजदूरी भुगतान की अवधि लम्बी होने पर मजदूरों को नकद धन बचाकर रखना पड़ता है, इससे मुद्रा का प्रचलन वेग कम हो जाता है। मजदूरी का भुगतान दैनिक अथवा साप्ताहिक होने पर प्रचलन वेग अपेक्षाकृत अधिक होगा।

7. यातायात एवं संचार की सुविधा– यदि देश में यातायात एवं संचार की व्यवस्था अच्छी है तो व्यावसायिक सीमा का विस्तार होगा, क्रय–विक्रय बढ़ेगा। इसके फलस्वरूप मुद्रा की चलन गति बढ़ेगी।

8. आर्थिक विकास का स्तर– जिस देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ तथा विकास का स्तर ऊंचा होगा वहां विनिमय का स्तर भी ऊंचा होगा और मुद्रा की चलन गति अधिक होगी। पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था में चलन गति अपेक्षाकृत कम होगी।

9. जनसंख्या का घनत्व– यदि किसी देश की जनसंख्या अधिक है तो वहां मुद्रा की चलन गति अधिक होगी, क्योंकि मुद्रा बहुत से व्यक्तियों के हाथों में हस्तान्तरित होगी। जनसंख्या के कम होने पर मुद्रा की चलन गति भी कम हो जाएगी।

10. साख की गतिशीलता– साख मुद्रा की गतिशीलता अधिक होने पर साख मुद्रा के प्रचलन वेग में भी वृद्धि होती है। देश की आर्थिक प्रगति एवं बैंकिंग प्रणाली का विकास साख मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ा देते हैं। संचार प्रणाली, इण्टरनेट, कम्प्यूटर युग एवं बैंकिग क्षेत्र में विकास के कारण यह बिन्दु अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

11. राजनीतिक दशा– देश में राजनीतिक स्थिरता एवं शान्ति विद्यमान होने पर परस्पर प्रेम एवं विश्वास बढ़ता है। उधार की प्रथा बढ़ती है और मुद्रा का प्रचलन वेग कम हो जाता है। राजनीतिक अस्थिरता से परस्पर विश्वास घटता है और नकद भुगतान की प्रवृत्ति बढ़ती है। इससे मुद्रा का प्रचलन वेग बढ़ जाता है।

12. कीमतों का भावी अनुमान– यदि भविष्य में कीमतों में वृद्धि की प्रत्याशा है तो व्यापार अधिक तेजी से होगा। इसके फलस्वरूप मुद्रा की चलन गति बढ़ जाएगी।

उपरोक्त तत्वों के प्रभाव से मुद्रा का प्रचलन वेग निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। अतः प्रचलन वेग की मात्रा निर्धारित करना और इसकी सही माप करना सहज नहीं है। वास्तविकता यह है कि किसी निश्चित समय में मुद्रा की पूर्ति का अनुमान लगाना किसी निश्चित अवधि के लिए अनुमान लगाने से अधिक सरल है।

1.4 मुद्रा पूर्ति के निर्धारक तत्व
(Determinants of the Money Supply)

अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति किस प्रकार निर्धारित होती है, इसके बारे में दो सिद्धान्त हैं। पहले सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की पूर्ति केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित होती है। इसे बाह्य कारण कहा जा

सकता है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की पूर्ति का निर्धारण आर्थिक क्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों द्वारा होता है। इन्हें आन्तरिक कारण कहा जा सकता है।
उपर्युक्त तत्वों को दृष्टि में रखते हुए मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्वों को निम्न प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है।

1. न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात– केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंकों को उधार देने तथा उनके बिलों की कटौती की सुविधा देते हैं। इसके बदले में सदस्य देशों को चालू तथा स्थाई जमा का कानून द्वारा निर्धारित एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है। इसे ही न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात कहते हैं। अन्य शब्दों में, आवश्यक या न्यूनतम रिजर्व अनुपात व्यापारिक बैंकों का चालू एवं समय जमा दायित्वों का नकद अनुपात है। भारत में न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात के अतिरिक्त कानूनी तरह कोषानुपात को मुद्रा पूर्ति नियन्त्रित करने हेतु एक अतिरिक्त उपाय के रूप में अपनाया गया है। इसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों को अपनी कुल सम्पत्ति का एक भाग तरल रूप में रखना आवश्यक होता है।

यदि केन्द्रीय बैंक, न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात में वृद्धि करता है तो बैंकों के पास मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है और जब उक्त अनुपात में कमी की जाती है, तो मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। इस अनुपात में परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक देश में साख की मात्रा को नियन्त्रित करता है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति को निर्धारित करने में न्यूनतम नकद रिजर्व अनुपात की महत्वपूर्ण भूमिका है।

2. बैंक रिजर्व का स्तर– बैंकों द्वारा रखे जाने वाले रिजर्व का भी मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। व्यापारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास रिजर्व राशि रखनी पड़ती है तथा अपने पास भी एक निश्चित अनुपात में नकद की मात्रा रखनी पड़ती है। देश का केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंकों की रिजर्व मात्रा को प्रभावित कर, मुद्रा को निर्धारित करता है। केन्द्रीय बैंक के निर्देशानुसार, व्यापारिक बैंक को अपनी सावधि एवं मांग जमा का एक निश्चित अनुपात नकद के रूप मे रखना पड़ता है। इसका निर्धारण न्यूनतम नकद अनुपात एवं जमाओं के स्तर से होता है। उदाहरण के लिए, यदि जमा राशि एक करोड़ रुपया है तथा न्यूनतम नकद अनुपात 20 प्रतिशत है तो आवश्यक रिजर्व 20 लाख रुपए होगा। जहां तक मुद्रा की पूर्ति का प्रश्न है, इसका निर्धारण अतिरेक रिजर्व द्वारा होता है। कुल रिजर्व की मात्रा एवं आवश्यक रिजर्व की मात्रा में जो अन्तर है, उसे अतिरेक रिजर्व की मात्रा कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में कुल रिजर्व एक करोड़ रुपया है तथा आवश्यक रिजर्व 20 लाख रुपए है तो अतिरेक रिजर्व की मात्रा 80 लाख होगी। यदि आवश्यक रिजर्व की मात्रा कम हो जाए तो अतिरेक रिजर्व की मात्रा बढ जाती है जिसका मुद्रा पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् ऐसी स्थिति में व्यापारिक बैंक अतिरेक रिजर्व की मात्रा के बराबर ऋण दे सकता है।

3. लोगों की नकद राशि एवं जमा रखने की इच्छा– मुद्रा की पूर्ति इस बात पर निर्भर रहती है कि लोग बैंकों में अपनी जमा राशि के किस अनुपात में, अपने पास नकद राशि रखना चाहते हैं। यदि लोग अपने पास नकद कम रखते हैं तथा बैंकों में जमा राशि अधिक रखते हैं तो मुद्रा की पूर्ति अधिक होगी इसका कारण यह है कि अधिक जमा राशि के आधार पर बैंक अधिक मुद्रा का निर्धारण कर सकते हैं।

4. उच्च शक्ति मुद्रा– मुद्रा पूर्ति को निर्धारित करने वाले जिन तीन कारणों का ऊपर विवेचन किया गया है, उनमें बाद के दो कारणों को उच्च शक्ति मुद्रा कहा जाता है। इन कारणों को संयुक्त रूप से मौद्रिक आधार के अन्तर्गत शामिल किया जाता है। व्यापारिक बैंकों के पास जो रिजर्व की मात्रा होती है और लोगों के पास सिक्के और नोटों के रूप में जो चलन की मात्रा होती है, इन दोनों के योग को उच्च शक्ति मुद्रा कहा जाता है। इसी के आधार पर बैंक जमाओं का विस्तार किया जाता है एवं मुद्रा का निर्माण किया जाता है जिसमें मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है। मुद्रा की पूर्ति एवं उच्च शक्ति मुद्रा में सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात उच्च शक्ति मुद्रा के बढ़ने से मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है एवं उसके घटने से मुद्रा की पूर्ति घटती है। इसका विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

5. मुद्रा के चलन वेग का मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव– एक निश्चित अवधि में मुद्रा की एक इकाई का जितनी बार भुगतान करने के लिए प्रयोग किया जाता है, उसे मुद्रा का चलन वेग (Velocity money) कहते हैं। मुद्रा के चलन वेग का भी मुद्रा की पूर्ति पर वही प्रभाव पड़ता है जो मुद्रा की मात्रा के बढ़ाने का होता है। उदाहरण के लिए, यदि एक दस रुपए का नोट एक दिन में दस बार विनिमय का कार्य करता है, तो वह सौ रुपए के बराबर कार्य करता है अतः मुद्रा की पूर्ति में 10 रुपए के स्थान पर 100 रुपए गिना जाना चाहिए, किन्तु यहां एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मुद्रा की पूर्ति को

निकालते समय हम मुद्रा की प्रत्येक इकाई का चलन वेग नहीं लेते वरन् मुद्रा की औसत चलन वेग को लिया जाता है।
उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुद्रा की कुल पूर्ति पर मुद्रा के कुल चलन वेग का भी प्रभाव पड़ता है।

1.5 मुद्रा स्टॉक और मुद्रा प्रवाह (Money Stock and Flow of Money)

किसी एक समय के बिन्दु पर अर्थव्यवस्था में चलन की जो मात्रा होती है, उसे मुद्रा का स्टॉक कहते हैं। कभी–कभी मुद्रा स्टॉक को ही मुद्रा को ही मुद्रा की पूर्ति मान लिया जाता है, किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि मुद्रा स्टॉक की तुलना में मुद्रा की पूर्ति अधिक होती है और देश की आर्थिक गतिविधियों में मुद्रा की पूर्ति का काफी प्रभाव पड़ता है। किसी निश्चत समयावधि में मुद्रा की पूर्ति, उसके कुल प्रवाह के बराबर होती है। यदि हम मुद्रा–स्टॉक को मुद्रा की औसत चलन गति से गुणा का दे ंतो हम मुद्रा के प्रवाह को जान सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि मुद्रा का स्टॉक 100 करोड़ रुपए है तथा एक निश्चित समयावधि में उसका औसत चलन–वेग 10 है तो मुद्रा की पूर्ति 1000 करोड़ रुपया के बराबर होगी और यही मुद्रा का प्रवाह है। देश में मुद्रा के स्टॉक का नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है, किन्तु उसके द्वारा मुद्रा के चलन–वेग पर नियन्त्रण नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह लोगों के हाथों में होता है कि मौद्रिक इकाई का कितनी बार विनिमय के लिए प्रयोग करते हैं।

वित्तीय मध्यस्थ एवं मुद्रा पूर्ति

वे समस्त संस्थाएं जो बचतों को गतिमान करने तथा उनका विनियोग करने में देश की वित्तीय प्रणाली की सहायता करती हैं, वित्तीय मध्यस्थ कहलाती हैं। ये संस्थाएं समाजजनित बचतों को एकत्र कर उन्हें उन सभी के बीच वितरित करती हैं जो विनियोग हेतु इन बचतों की मांग करते हैं। ये वित्तीय मध्यस्थ अपने ग्राहकों के हित में एकत्रित बचतों को मुद्रा एवं पूंजी बाजार में विनियोग करते हैं। इस तरह ये संस्थाएं साख का सृजन कर मुद्रा पूर्ति में सक्रिय भूमिका निभाती हैं। ये संस्थाएं विभिन्न अधिनियमों एवं नियमों द्वारा शासित एवं नियन्त्रित होती है। भारत में ये संस्थाएं भारतीय रिजर्व बैंक तथा भारतीय प्रतिभूति और विनिमय बोर्ड आदि अभिकरणों द्वारा नियन्त्रित हैं।

1.6 उच्च शक्ति अथवा शक्तिशाली मुद्रा (High Power Money)

व्यापारिक बैंकों के पास रिजर्व की जो मात्रा होती है तथा लोगों के पास मुद्रा (नोटों की मात्रा एवं सिक्के) की जो मात्रा होती है, उसके योग को ही शक्तिशाली मुद्रा कहते हैं। बैंकों में जमा राशि का आधार यही उच्च शक्ति मुद्रा होती है अर्थात् यदि लोग बैंकों में अधिक राशि जमा करते हैं तो बैंक जमा राशियां बढ़ जाती हैं तथा इसी आधार पर बैंक अधिक साख का निर्माण करते हैं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि साख निर्माण का आधार भी शक्तिशाली मुद्रा में वृद्धि से मुद्रा की पूर्ति में भी वृद्धि होती है, किन्तु रिजर्व अनुपात का मुद्रा की पूर्ति में विपरीत सम्बन्ध होता है अर्थात् रिजर्व अनुपात में वृद्धि होने पर मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है।
उच्च शक्ति मुद्रा का महत्व इस बात में निहित है कि यह

(i) मौद्रिक नीति के निर्माण में सहायक
(ii) राजकोषीय नीति का आधार
(iii) मौद्रिक विस्तार की दर का निर्धारक एवं
(v) आर्थिक विकास का आधार है।

शक्तिशाली मुद्रा का प्रयोग, उसकी मांग में निहित है तथा शक्तिशाली मुद्रा की मांग तीन कारणों से की जाती है जो निम्नलिखित है–

1. व्यापारिक बैंकों द्वारा शक्तिशाली मुद्रा की मांग देश के केन्द्रीय बैंक में अपनी वैधानिक सीमा अथवा निर्धारित रिजर्व को बनाए रखने के लिए की जाती है।

2. उपर्युक्त के साथ ही अतिरिक्त रिजर्व के लिए भी शक्तिशाली मुद्रा की मांग, व्यापारिक बैंकों द्वारा की जाती है।

3. लोगों द्वारा नकद मुद्रा की मांग की जाती है।

उपर्युक्त तीन कारणों को सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है :

$$H=C+RR+ER$$

जहां H = शक्तिशाली मुद्रा

C = जनता द्वारा नकद मुद्रा की मांग

RR = बैंकों द्वारा रिजर्व अनुपात के लिए मांग

ER = बैंकों द्वारा अतिरिक्त रिजर्व की मांग

1.7 मुद्रा गुणक (Money Multiplier)

मुद्रा गुणक से अभिप्राय उस संख्या से है जिससे यह ज्ञात होता है कि उच्च शक्ति मुद्रा (या मौद्रिक आधार) में परिवर्तन होने पर मुद्रा की पूर्ति में कितने गुना परिवर्तन होगा। मान लीजिए उच्च शक्ति मुद्रा में 10 करोड़ रुपए के परिवर्तन होने के कारण मुद्रा की पूर्ति में 30 करोड़ रुपए का परिवर्तन होता है तब मुद्रा गुणक 3 होगा।

मुद्रा की पूर्ति तथा उच्च शक्ति मुद्रा के बीच सम्बन्ध को निम्न चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है :

चित्र में OX-अक्ष पर उच्च शक्ति मुद्रा की पूर्ति तथा OY-अक्ष पर उच्च शक्ति मुद्रा को प्रदर्शित किया गया है। HS उच्च शक्ति मुद्रा की पूर्ति रेखा है। यह OX के समानान्तर है, क्योंकि H का निर्धारण मुद्रा प्राधिकरण द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार होता है तथा यह मुद्रा के सम्बन्ध में पूर्णतया बेलोच होता है। वक्र Hd मुद्रा पूर्ति के प्रत्येक स्तर से सरुबद्ध उच्च शक्ति मुद्रा की मांग को व्यक्त करता हैं साथ ही यह $\frac{Cr+RRr+ERr}{I+Cr}$ को भी दर्शाता है।

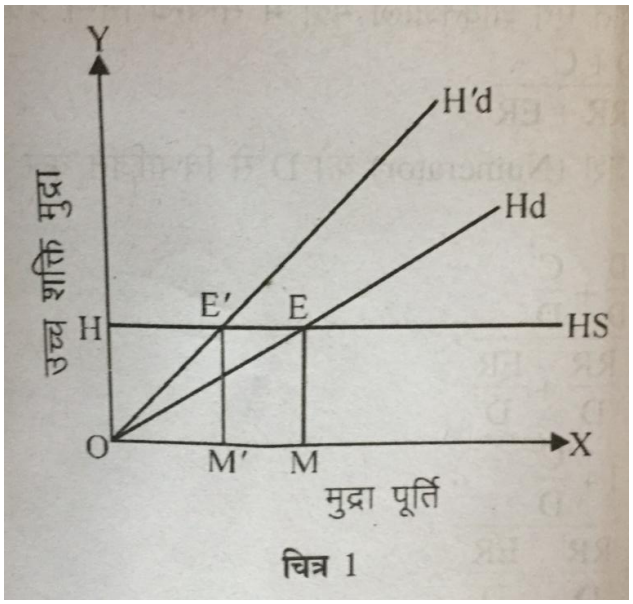

चित्र 1

Cr, RRr, Err और उच्च शक्ति मुद्रा H के दिया हुआ होने पर सन्तुलन की स्थिति में मुद्रापूर्ति OM होगी, क्योंकि Hd वक्र रेखा HS को बिन्दु E पर काटता अथवा RRr अथवा ERr अनुपातों में से किसी भी अनुपात में वृद्धि हो जाती है तो उच्च शक्ति मुद्रा की मांग में वृद्धि हो जाएगी तथा H'd वक्र ऊपर उठकर Hd' का स्वरूप ग्रहण कर लेगा। इस तरह अनुपातों में वृद्धि होने पर H की मांग बढ़ेगी

और मुद्रा की पूर्ति घटकर OM' रह जाएगी।इसी तरह H की मांग में कमी से मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाएगी। स्पष्टतया, M = (m) . H

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुद्रा की पूर्ति पर बहिजात और अन्तर्जात घटकों का प्रभाव पड़ता है, जिन्हें सामान्यतया इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

न्यूनतम नकदी रिजर्व अनुपात, बैंक आरक्षितियों का स्तर जमाओं की सापेक्षता में करेन्सी धारण की लोगों की इच्छा। अन्तिम दो निर्धारकों को मिलाकर उसे 'उच्च शक्ति मुद्रा' का नाम दिया गया है।

1.8 भारत में मुद्रा पूर्ति की माप
(Measure of Money Supply in India)

मुद्रा पूर्ति के द्वितीय कार्यदल की सिफारिशों पर रिजर्व बैंक ने अपने बुलेटिन के 1977 के अंक में मुद्रा पूर्ति के चार माप प्रस्तुत किए हैं। ये माप विश्लेषण और नीति प्रतिपादित के लिए नियमित रूप से प्रकाशित किये जाते हैं। इन चारों अवधारणाओं की गणना निम्न प्रकार की जाती है–

M_1 = लोगों के पास चलन की मात्रा (चलन में नोट तथा सिक्के बैंकों के नकद–कोष छोड़कर) + सभी वाणिज्यिक बैंकों और सहाकारी बैंकों की मांग जमाएं + भारतीय रिजर्व बैंक के पास रखी अन्य जमाएं।

$M_2 = M_1$ + डाकघरों के बचत बैंकों में जमाएं

$M_3 = M_1$ + बैंकों की सावधि जमाएं

$M_4 = M_1$ + डाकघरों की समस्त जमाएं

मुद्रा पूर्ति के चारों मापों में संशोधन के लिए रेड्डी समिति का गठन किया गया जिसके सुझाव पर मुद्रा की पूर्ति के चार नये माप प्रस्तुत किये गए।

1. M_0 = चलन में करेंसी + RBI के पास बैंकों की जमाएं + RBI के पास अन्य जमाएं।
2. M_1 = चलन में करेंसी + बैंकों के पास मांग जमाएं + RBI के अन्य जमाएं।
3. $M_2 = M_1$ + बैंकों के पास बचत जमाओं की सावधि देयताएं + बैंकों द्वारा जारी जमाओं के प्रमाण पत्र + बैंकों के पास घरेलू निवासियों की 1 वर्ष तक की परिपक्वता वाली जमाएं।
4. $M_3 = M_2$ + बैंकों के पास घरेलू निवासियों की एक वर्ष से अधिक परिपक्वता वाली सावधि जमाएं + बैंकों द्वारा वित्तीय निगमों से लिए गये तुरन्त लौटाओ ऋण।

रेड्डी कमेटी ने मुद्रा पूर्ति के चारों नये मापों के आधार पर तरलता की नई धारणा के लिए तीन नये माप L_1, L_2, L_3 प्रस्तुत किये।

$L_1 = M_3$ + डाकघरों के पास समस्त जमाएं (राष्ट्रीय बचत प्रमाण पत्र छोड़कर)

$L_2 = L_1$ +वित्तीय संस्थाओं के पास सावधि जमाएं + वित्तीय संस्थाओं द्वारा जारी जमा के प्रमाणपत्र।

$L_3 = L_2$ + गैर बैंकिंग वित्तीय कंपनियों के पास सार्वजनिक जमाएं।

1.9 सारांश

भारत में आर्थिक नियोजन के आरम्भ के बाद से मुद्रा की पूर्ति में निरन्तर तथा अधिक वृद्धि हुई है। M_1 को सबसे संकुचित मुद्रा और सबसे तरल मुद्रा कहा जाता है। वहीं दूसरी ओर M_3 को सबसे वृहद मुद्रा कहा जाता है। जिनमें सबसे महत्वपूर्ण घटक बैंको की सावधि जमाराशियां हैं जो 1999-2000 में 7,82378 करोड़ रुपये थी जो 2002-03 में 12,52,396 करोड़ रुपये हो गयी। इस प्रकार लगभग 16 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

1.10 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- मुद्रा की पूर्ति से क्या आशय है? इसके निर्धारक तत्व कौन से हैं?
प्रश्न 2- मुद्रा पूर्ति की माप के संदर्भ में विभिन्न धारणाओं को समझाइये।
प्रश्न 3- उच्च शक्ति मुद्रा से आप क्या समझते हैं? मुद्रा गुणक को स्पष्ट कीजिए।

1.11 शब्दावली

मुद्रा गुणक	:	Money Muliplier
उच्च शक्ति मुद्रा	:	High Power Money
सावधि जमाएं	:	Time Deposite
प्रारक्षित मुद्रा	:	Reserve Money

1.12 संदर्भ सूची

W. M. Dacey	:	Money under Review (1960) chs 1-3
R. S. Sayers	:	Modern Banking, 7th ed (1967) chs 1-5, 7, 8.
B. Tew	:	Monetary Theory (1969) chs 1-2
Gerald Surkin	:	Interoduction to Macro Economic Theory

इकाई– 02

राजकोषीय नीति एवं निर्देशांक
(Fiscal Policy and Index Number)

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 राजकोषीय नीति के उपकरण
2.3 विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य
2.4 राजकोषीय नीति की सीमाएं
2.5 राजकोषीय नीति के दोष
2.6 राजकोषीय नीति में सुधार के सुझाव
2.7 निर्देशांक
2.8 निर्देशांक के प्रकार
2.9 निर्देशांक का निर्माण
2.10 निर्देशांक के निर्माण की कठिनाइयां
2.11 निर्देशांक के लाभ
2.12 सारांश
2.13 बोध प्रश्न
2.14 शब्दावली
2.15 सन्दर्भ सूची

2.0 उद्देश्य

किसी भी देश की सबसे महत्वपूर्ण नीति राजकोषीय नीति होती है। इस इकाई में राजकोषीय नीति के बारे में दर्शाया गया है जिसका प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है–

1. राजकोषीय नीति के बारे में जानकारी करना।
2. राजकोषीय नीति के उद्देश्यों का पता लगाना।
3. भारत जैसे विकासशील देश में राजकोषीय नीति की भूमिका के बारे में अध्ययन करना।
4. आर्थिक गतिविधियों का माप निर्देशांक के द्वारा किया जाता है। इस बात का पता लगाना।
5. निर्देशांक की उपयोगिता एवं महत्व की जानकारी प्राप्त करना।

2.1 प्रस्तावना

आर्थिक समस्याओं को हल करने में केवल मौद्रिक नीति ही पर्याप्त नहीं होती, वरन् इसके पूरक के रूप में राजकोषीय नीति को भी अपनाया जाता है। इन दोनों नीतियों के संयुक्त प्रयोग से ही आर्थिक विकास एवं स्थायित्व के उद्देश्य प्राप्त किए जा सकते हैं। प्राचीन काल में राजकोषीय नीति का प्रयोग बहुत ही सीमित था विशेष रूप से प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के समय, किन्तु वर्तमान सरकार की बढ़ती भूमिका के साथ राजकोषीय नीति का महत्व आधुनिक में बढ़ता जा रहा है। राजकोषीय नीति का सम्बन्ध राजस्व से है जो सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण से सम्बन्धित है। वर्तमान में राजकोषीय नीति को आर्थिक स्थिरता (Economic StabiIisation) का महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। आर्थर स्मिथीज (Arthur Smithies) के शब्दों में, "राजकोषीय नीति ऐसी नीति है, जिसके अन्तर्गत सरकार अपने व्यय तथा आगम का प्रयोग इस तरह करती है कि राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर उसका वांछनीय प्रभाव पड़े एवं उन पर पड़ने वाले अवांछनीय प्रभावों को रोका जा सके।"

श्रीमती उर्सुला हिक्स के अनुसार, "राजकोषीय नीति का सम्बन्ध इस पद्धति से है जिसमें राजस्व के विभिन्न तत्व मुख्यतः अपने दायित्वों को पूरा करते हुए सामूहिक रूप से आर्थिक नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति करते हैं।"

इस प्रकार, राजकोषीय नीति ऐसी नीति है जिसकी सहायता से अर्थव्यवस्था से पूर्ण रोजगार और आर्थिक स्थायित्व को प्राप्त किया जाता है तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकारी व्यय तथा आय को इस प्रकार समायोजित किया जाता है ताकि समग्र मांग तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में सन्तुलन स्थापित किया जा सके। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि राजकोषीय नीति उस नीति को कहते हैं जिससे सरकार अधिक से अधिक अर्थव्यवस्था पर वांछनीय प्रभाव डाले और कम से कम आवांछनीय प्रभाव पड़े।

2.2 राजकोषीय नीति के अस्त्र अथवा उपकरण (Instruments or Tools of Fiscal Policy)

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सरकारी व्यय एवं करारोपण के माध्यम से राजकोषीय नीति अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय, रोजगार, उत्पादन एवं कीमतों को प्रभावित करती है। राजकोषीय नीति का सही प्रयोग कर सरकार अर्थव्यवस्था में मुद्रा–स्फीति एवं मुद्रा–संकुचन की स्थितियों को नियन्त्रित कर सकती है। राजकोषीय नीति को कार्यान्वित करने के लिए जिन विविध अस्त्रों का प्रयोग किया जाता है उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है–

1. बजट सम्बन्ध नीति (Budgetary Policy)-बजट, राजकोषीय नीति का एक प्रमुख उपकरण है जिसके द्वारा सरकार आय एवं व्यय में सम्बन्ध स्थापित कर उसे नियन्त्रित कर सकती है। इसका प्रयोग अर्थव्यवस्था के स्थिरीकरण के लिए किया जाता है। विभिन्न बजट नीतियां इस प्रकार हैं–

(I) घाटे का बजट (Budget Deficit)-मन्दी के समय जिस राजकोषीय नीति का सहारा लिया जाता है उसमें घाटे के बजट की प्रमुख भूमिका है। अर्थव्यवस्था में मंदी का प्रभाव समाप्त करने के लिए घाटे के बजट के अन्तर्गत दो उपाय अपनाये जाते हैं :

(क) कर की मात्रा को स्थिर रखते हुए सार्वजनिक व्यय के आकार में वृद्धि।

(ख) करारोपण की दरों में कमी।

घाटे की बजट नीति को अधिक प्रभावी बनाने के लिए करारोपण दरों में कमी के साथ–साथ ही सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की जानी आवश्यक है।

(II) आधिक्य का बजट (Surplus Budget)-आधिक्य बजट की नीति का सहारा अर्थव्यवस्था को मुद्रा–स्फीति के खतरे से बाहर निकालने के लिए किया जाता है। बजट आधिक्य की स्थिति उस समय होती है जब सरकारी व्यय की तुलना में सरकार की आय अधिक होती है। मुद्रा–स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए या तो सरकार करों में वृद्धि कर सकती है या सरकारी व्यय में कमी कर सकती है। इसका प्रभाव यह होगा कि आय में कमी हो जाने से कुल मांग में भी कमी हो जायेगी एवं मुद्रा–स्फीति को नियन्त्रित किया जा सकेगा।

(III) सन्तुलित बजट (Balanced Budget)-'सन्तुलित बजट' का तात्पर्य यह है कि सरकार की आय एवं व्यय दोनों बराबर रहने चाहिए।

2. सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)-राजकोषीय नीति में सार्वजनिक व्यय की महत्वपूर्ण भूमिका है जिसके माध्यम से अर्थव्यवस्था में स्थायित्व लाया जा सकता है। सार्वजनिक व्यय के प्रमुख दो रूप होते हैं–क्षतिपूरक व्यय (Compensatory Spending) एवं समुद्दीपन व्यय (Pump-priming Spending)। इनका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

(I) क्षतिपूरक व्यय (Compensatory Spending)-निजी विनियोग की कमी की पूर्ति हेतु किए जाने वाले सार्वजनिक व्यय को क्षतिपूरक व्यय कहा जाता है। इस प्रकार का व्यय विशेष रूप से लोक निर्माण कार्यों एवं राहत उपायों (Relief Measures) पर किया जाता है। राहत उपायों में अनुदान, पेंशन, बेरोजगारी बीमा, इत्यादि का समावेश होता है। लोक निर्माण कार्यों पर व्यय से लोगों को रोजगार मिलता है, उसकी कुल मांग में वृद्धि होती है जिससे उत्पादन एवं आय भी बढ़ती है। राहत उपायों के फलस्वरूप भी लोगों की आय बढ़ती है। यह व्यय उस समय तक चालू रखना चाहिए जब तक कि

निजी विनियोग सामान्य स्थिति में नहीं आ जाता। वास्तव में, निजी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए सार्वजनिक व्यय में वृद्धि आवश्यक है।

सार्वजनिक व्यय के कारण जब अर्थव्यवस्था समुत्थान (Recovery) की दिशा में बढ़ने लगती है तो सार्वजनिक व्यय को धीरे–धीरे कम किया जाना चाहिए और मुद्रा–स्फीति की दशा आ जाने पर सार्वजनिक व्यय को बढ़ाने की नीति रोक दी जानी चाहिए।

(II) समुद्दीपन व्यय (Pump-priming Spending)-समुद्दीपन व्यय का अर्थ है कि सरकारी व्यय साधारण रूप से अस्थाई तौर पर किया जाय जिससे आर्थिक क्रियाओं को गति प्रदान की जा सके जो आगे चलकर, बिना सरकारी व्यय के स्वयं स्फूर्ति होकर अर्थव्यवस्था को स्थिर आर्थिक विकास के पथ पर ले जायेगी। अर्थशास्त्रियों का मत है कि आर्थिक मन्दी के समय यदि सरकार द्वारा प्रारम्भिक व्यय कर दिया जाय तो इससे अर्थव्यवस्था में गति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है जो कभी न समाप्त होने वाली आय वृद्धि एवं रोजगार प्रक्रिया को प्रारम्भ करने में समर्थ होती है। एक सरल उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। स्कूटर में किक मारना समुद्दीपन कार्य है जिससे इंजन बाद में स्वयं चलने लगता है। इसी प्रकार प्रारम्भिक व्यय से अर्थव्यवस्था रूपी मशीन चालू हो जाती है। सरकारी व्यय से निजी उद्यमियों में निराशावादी दृष्टिकोण दूर होता है। उक्त प्रकार के सरकारी व्यय की पूर्ति भी ऋण लेकर या घाटे के बजट से की जाती है।

समुद्दीपन व्यय, मन्दी को दूर करने के लिए एक प्रकार का अस्थायी उपाय है तथा इससे दीर्घकालीन चक्रीय उच्चावचनों को दूर नहीं किया जा सकता। इसकी यह मान्यता भी कमजोर है कि समुद्दीपन व्यय से अर्थव्यवस्था में होने वाली गति स्वयं धारणीय (Self-sustaining) होती है।

3. करारोपण नीति (Taxataion Polity)-करारोपण, राजकोषीय नीति का प्रमुख उपकरण है। इसके माध्यम से सरकार पुनर्वितरण की नीति अपना सकती है जिसके अनुसार अमीर लोगों से ऊंची दरों पर कर वसूल किया जाता है एवं इस प्रकार एकत्रित धन को गरीबों के कल्याण कार्यों पर व्यय किया जाता है। यदि करारोपण में वृद्धि की जाती है तो क्रय–शक्ति सरकार के पास पहुंच जाती है, और यदि इसमें कमी की जाती है तो लोगों के पास व्यय–योग्य अधिक क्रय–शक्ति बचती है। किन्तु यहां एक बात महत्वपूर्ण है कि प्रगतिशील कर लगाते समय बचत एवं विनियोग की क्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। करारोपण नीति के सम्बन्ध में प्रो. लर्नर ने क्रियात्मक वित्त का विचार प्रस्तुत किया एवं मत व्यक्त किया कि राजकोषीय नीति का मूल्यांकन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर ही किया जाना चाहिए।

4. सार्वजनिक ऋण नीति (Public Debt Policy)-अर्द्ध–विकसित देशों में करारोपण की नीति सफल नहीं हो पाती क्योंकि इन देशों में आय एवं बचत की मात्रा कम होती है अतः सरकार व्यय की पूर्ति हेतु सार्वजनिक ऋण नीति का सहारा लेती है। सरकार ऋणों का प्रयोग विकास परियोजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए करती है। जब सरकार जनता से ऋण लेती है तो लोगों के पास से क्रय–शक्ति सरकार के पास पहुंच जाती है एवं इसका प्रभाव करारोपण के समान होता है और जब सरकार ऋण का भुगतान करती है, तो लोगों के पास क्रय–शक्ति बढ़ने से प्रभावपूर्ण मांग बढ़ती है। ऋण प्राप्त करने के लिए सरकार ऋणपत्र, बॉण्ड, आदि जारी करती है तथा इन पर आकर्षक ब्याज भी देती है।

किन्तु एक विकासशील देश में सार्वजनिक ऋण नीति पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रहा जा सकता क्योंकि एक ओर तो सरकार पर ऋण एवं ब्याज के भुगतान का बोझ है और दूसरी ओर वर्तमान एवं भविष्य की पीढ़ी पर भी इनका भार पड़ता है क्योंकि सरकार ऋणों की अदायगी के लिए करों का सहारा लेती है।

2.3 विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य
(Objectives of Fiscal Policy In Underdeveloped Countries)

आर्थिक विकास के स्तर को दृष्टि में रखते हुए राजकोषीय नीति के उद्देश्य भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। जहां विकसित देशों से इसका उद्देश्य पूर्ण रोजगार के लक्ष्य को प्राप्त करना एवं आर्थिक स्थायित्व को बनाएं रखना होता है वहीं विकासशील देशों में राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य पूंजी–निर्माण करना, बचत एवं विनियोग की दर बढ़ाना तथा देश में आर्थिक विकास को प्राप्त करना होता है। यद्यपि कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि दोनों प्रकार के देशों के लिए राजकोषीय नीति के उद्देश्यों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए किन्तु राजस्व क्षेत्र के प्रमुख लेखक प्रो. मसग्रेव (Musgrave) एवं भारतीय अर्थशास्त्री राजा जे. चेलैया का मत है कि राजकोषीय नीति के उद्देश्य दोनों प्रकार के देशों के पृथक–पृथक होने चाहिए।

विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के सन्दर्भ में वर्तमान समय में राजकोषीय नीति के उद्देश्यों में निम्नांकित उद्देश्यों को सम्मिलित किया जाता है–

1. आर्थिक विकास (Economic Development)-एक विकासशील देश में, राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक विकास करना होना चाहिए क्योंकि ये देश पिछड़े हुए होते हैं तथा आर्थिक विकास करना इनकी प्राथमिक आवश्यकता है। सरकार को अपनी करारोपण नीति, सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण की ऐसी नीतियां अपनानी चाहिए जिससे देश में बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन मिले एवं सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) में वृद्धि हो। आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि विकासशील देशों में पूंजी–निर्माण की दर बढ़ाई जाय। पूंजी–निर्माण में सरकार की, कर सम्बन्धी नीति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिसके अन्तर्गत उद्यमियों को करों में छूट एवं आर्थिक सहायता देकर उन्हें विनियोग बढ़ाने हेतु प्रोत्साहित किया जा सकता है। सरकार व्यय ऐसे क्षेत्रों में किया जा सकता है जिससे उत्पादन एवं आर्थिक विकास को गति मिले। इन देशों में सबसे बड़ी समस्या होती है गरीबी के दुष्चक्र को तोड़ सकती है एवं इन देशों में आर्थिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ कर सकती है। इन देशों में पूंजी की कमी के कारण घाटे की वित्त व्यवस्था अपनाकर आवश्यक पूंजी जुटा सकती है और उचित करारोपण नीति द्वारा मुद्रा–प्रसार पर भी नियन्त्रण रख सकती है।

2. आर्थिक स्थिरता (Economic Stability)-राजकोषीय नीति का यह भी महत्वपूर्ण उद्देश्य है कि अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता बनाए रखी जाये एवं अर्थव्यवस्था को आर्थिक उच्चावचनों के दुष्प्रभावों से बचाया जाए। आर्थिक स्थिरता उसी समय विद्यमान रह सकती है जब देश में पूर्ण रोजगार के साथ कीमतों में भी स्थिरता हो। यदि मुद्रा–स्फीति की स्थिति रहती है तो आर्थिक स्थिरता नहीं रह सकती। सरकार उचित बजट नीति के माध्यम से स्फीति को नियन्त्रित रख सकती है। उदाहरण के लिए, करों के माध्यम से लोगों के पास बढ़ी हुई क्रय–शक्ति को निष्क्रिय बनाया जा सकता है। साथ ही घाटे की वित्त–व्यवस्था को नियन्त्रण में रखा जा सकता है। यह मन्दी की स्थिति है तो सरकारी व्यय में वृद्धि कर अधिक क्रय–शक्ति अर्थव्यवस्था में प्रवाहित की जा सकती है। साथ ही करों में कमी करके उत्पादन को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

3. पूर्ण रोजगार (Full Employment)-रोजगार के अवसरों में वृद्धि करके, अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार स्थापित करना भी राजकोषीय नीति का महत्वपूर्ण उद्देश्य है। विशेष रूप से 1930 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी के पश्चात् राजकोषीय नीति का पूर्ण रोजगार की स्थापना का उद्देश्य लोकप्रिय हुआ और इसका श्रेय प्रो. जे. एम. केन्स को जाता है। प्रो. केन्स ने रोजगार बढ़ाने के लिए सार्वजनिक व्यय की भूमिका प्रतिपादित की एवं इस सम्बन्ध में लोक निर्माण नीति (Public Works Policy) का समर्थन किया। प्रो. केन्स ने यह मत प्रतिपादित किया कि सरकार उचित कर–नीति, सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण के द्वारा रोजगार में वृद्धि कर सकती है। इसी सन्दर्भ में प्रो. केन्स ने यह मत भी व्यक्त किया कि यदि सरकार के पास लोक निर्माण के आवश्यक कार्य सम्पन्न करने हेतु नहीं हैं तो सरकार को चाहिए कि लोगों से गढ्ढा खुदवाए एवं उन्हें फिर भरवाए ताकि लोगों को रोजगार और प्राप्त हो सके।

4. संसाधनों की गतिशीलता (Mobilisation of Resources)-राजकोषीय नीति का यह भी उद्देश्य है कि आर्थिक संसाधनों को इस तरह गतिशील बनाया जाय कि उन्हें अधिक उत्पादक कार्यों में प्रयुक्त किया जा सके। वर्तमान में विकासशील देशों के आर्थिक विकास का मार्ग विषम चक्रों से अवरुद्ध है। इन दुष्चक्रों को तोड़ना बहुत आवश्यक है। भारतीय अर्थशास्त्री आर. जे. चेलैया का मत है कि भारत जैसे अर्द्ध–विकसित देश में कर–नीति का उद्देश्य अतिरेक सृजन होना चाहिए तथा इस अतिरेक का प्रयोग विनियोग एवं उत्पादन बढ़ाने के लिए किया जाना चाहिए।

5. आर्थिक विषमताओं में कमी (Reduction In Economic Disparities)-वर्तमान में कल्याणकारी राज्य की स्थापना सरकार का प्रमुख उद्देश्य है–सामाजिक न्याय की स्थापना करना। अर्थव्यवस्था में आय एवं सपमन की असमानता को दूर कर सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती है। इस उद्देश्य में राजकोषीय नीति बहुत सहायक होती है। यदि देश में आय एवं सम्पत्ति में असमानता है तो सरकार धनी व्यक्तियों से प्रगतिशील करारोपण के माध्यम से धन वसूल कर सकती है एवं सार्वजनिक व्यय के माध्यम से इसे निर्धन वर्ग पर व्यय कर सकती है। अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि बिना सामाजिक न्याय के आर्थिक विकास अर्थहीन है। वर्तमान में सरकारों द्वारा न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम, निःशुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा की सुविधा, सामाजिक सुरक्षा एवं वृद्धावस्था पेंशन एवं सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से कम आय वर्ग को खाद्य सामग्री का वितरण सामाजिक न्याय कार्यक्रम के उदाहरण हैं।

2.4 राजकोषीय नीति की सीमांए (Limitations of Fiscal Policy)

विकासशील देशों में अपनाई जाने वाली राजकोषीय नीति की प्रमुख सीमांए निम्न प्रकार हैं :

1. लोचपूर्ण कर प्रणाली का अभाव–विकासशील देशों में कर प्रणाली में आवश्यक लोच का अभाव रहता है जिससे राजकोषीय नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सकता।

2. निर्णय में विलम्ब–राजकोषीय नीति का कार्यान्वयन, आवश्यक उपचार हेतु शीघ्र किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, मुद्रा–स्फीति की स्थिति है तो तत्काल करों में वृद्धि की जानी चाहिए किन्तु विकासशील देशों में प्रायः इसे कार्यान्वित करने में काफी विलम्ब लगता है जिससे राजकोषीय नीति सफल नहीं हो पाती।

3. गैर–मौद्रिक क्षेत्र–राजकोषीय नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि गुणक किस सीमा तक कार्यशील होता है। उदाहरण के लिए, यदि सरकार घाटे का बजट अपनाकर, अतिरिक्त क्रय–शक्ति अर्थव्यवस्था में प्रवाहित करती है तो गुणक कार्यशील होने पर ही राष्ट्रीय आय में अधिक वृद्धि होगी। किन्तु गुणक में रिसाव (Leakages) होने पर आय में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पाती।

4. गुणक प्रभाव में रिसाव–राजकोषीय नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि गुणक किस सीमा तक कार्यशील होता है। उदाहरण के लिए, यदि सरकार घाटे का बजट अपनाकर, अतिरिक्त क्रय–शक्ति अर्थव्यवस्था में प्रवाहित करती है तो गुणक कार्यशील होने पर ही राष्ट्रीय आय में अधिक वृद्धि होगी। किन्तु गुणक में रिसाव होने पर आय में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पाती।

5. निजी विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव–कभी–कभी सार्वजनिक व्यय के फलस्वरूप निजी विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और इन दोनों क्षेत्रों में प्रतियोगिता होने लगती है। इसी प्रकार निजी क्षेत्र पर प्रगतिशील करों के कारण भी इस क्षेत्र के विनियोग और उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

6. सांख्यिकीय सूचनाओं का अभाव–राजकोषीय नीति को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त एवं सही आंकड़ों का होना आवश्यक है। किन्तु विकासशील देशों में इस प्रकार के आंकड़े उपलब्ध नहीं हो पाते जिससे एक प्रभाववपूर्ण राजकोषीय नीति का निर्माण सम्भव नहीं हो पता।

7. कुशल प्रशासन तन्त्र का अभाव–राजकोषीय नीति का उचित ढंग से निर्माण करने एवं उसे सफलतार्पूवक कार्यान्वित करने के लिए एक कुशल प्रशासन तन्त्र का होना आवश्यक है। किन्तु विकासशील देशों में अपेक्षित कुशल प्रशासन तन्त्र नहीं होता जिससे राजकोषीय नीति को प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं किया जाता।

8. बजट का सीमित प्रभाव–बजट, राजकोषीय नीति का एक प्रमुख भाग होता है। किन्तु विकासशील देशों की राष्ट्रीय आय करों से प्राप्त आय का हिस्सा कम होता है जिससे बजट का अर्थव्यवस्था पर सीमित प्रभाव होता है। बहुत बड़ा वर्ग तो इन देशों में ऐसा होता है जो करों का भुगतान ही नहीं करता।

9. उत्तरदायित्व की भावना में कमी–राजकोषीय नीति की सफलता नागरिकों के सक्रिय सहयोग पर निर्भर करती है किन्तु विकासशील देशों में लोग अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करते। इन देशों में बड़े पैमाने पर करों की चोरी की जाती है एवं झूठे हिसाब प्रस्तुत किए जाते हैं जिससे सरकार को आय की क्षति होती है।

उपर्युक्त कारणों से विशेष रूप से विकासशील देशों में राजकोषीय नीति वांछनीय सफलता प्राप्त नहीं कर पाती।

2.5 भारतीय राजकोषीय नीति के दोष (Demerits of Indian Fiscal Policy)

भारत की राजकोषीय नीति देश के आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों को आंशिक रूप से प्राप्त करने में सफल रही है जिसका कारण भारतीय राजकोषीय नीति में निहित दोष हैं। भारत की राजकोषीय नीति में निहित प्रमुख दोषों को निम्नांकित रूप में व्यक्त किया जा सकता है–

1. भारतीय कर प्रणाली में विभिन्न करों के बीच एक उचित समन्वय का अभाव है और प्रायः यह कर पूरक न होकर प्रतिस्पर्धी बन जाते हैं। इस दोषपूर्ण कर प्रणाली के कारण राजकोषीय नीति आंशिक रूप से सफल रही।

2. भारत में करों के योगदान में सभी वर्गों का उचित प्रतिनिधित्व नहीं है जिसके कारण धनी वर्ग येन–केन प्रकारेण अपनी आय को कम घोषित करके कर से बचने का उपाय ढूंढ़ता रहता है।

3. भारतीय कर प्रणाली में प्रत्यक्ष करों की तुलना में अप्रत्यक्ष करों की अधिकता है जिसके कारणकरों का अधिकांश भारत देश के निर्धन वर्ग को वहन करना पड़ता है। भारतीय कर संरचना में अप्रत्यक्ष करों की इस अधिकता ने समाज में आर्थिक विषमताओं को बढ़ाया है। अतः कराधान से सम्बन्धित राजकोषीय नीति न्यायसंगत एवं व्यावहारिक नहीं है।

4. देश के नियोजन काल में राष्ट्रीय आय में तेजी से वृद्धि हो रही है, किन्तु राष्ट्रीय आय में कर से होने वाली आय के प्रतिशत में उस अनुपात से कम प्रतिशत में वृद्धि हुई है। वर्तमान में राष्ट्रीय आय में कर–आय का प्रतिशत विकसित देशों की तुलना में कम है। इसके अतिरिक्त विकसित देशों में प्रत्यक्ष कर राष्ट्रीय आय में अधिक योगदान देते हैं जबकि भारत में अप्रत्यक्ष करों का राष्ट्रीय आय में अधिक योगदान है जो न्यायाचित नहीं है।

5. भारत में सार्वजनिक व्यय का बहुत बड़ा भाग अपव्यय होता है। अनेक गैर–विकास परियोजनाओं पर भारत में सार्वजनिक व्यय तेजी से बढ़ा है जिसका देश की उत्पादकता, आय, बचत एवं विनियोग पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। राजनैतिक अस्थिरता ने भी सार्वजनिक व्यय के अपव्यय को बढ़ाया है।

6. भारत ने अपनी विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए बड़े आकार का सार्वजनिक ऋण लिया है, जिस पर दिये जाने वाले ब्याज की अदायगियों का भार निरन्तर बढ़ता जा रहा है। वर्तमान में कुल सार्वजनिक व्यय का लगभग एक–चौथाई सार्वजनिक ऋणों पर दिये जाने वाले ब्याज की अदायगी में व्यय हो रहा है। सार्वजनिक ऋणों पर बढ़ती इस निर्भरता ने देश के विकास उद्देश्यों को प्राप्त करने में अवरोध उत्पन्न किये हैं और देश की आत्मनिर्भरता के उद्देश्य को आघात पहुंचाया है।

उपर्युक्त दोषों के कारण ही भारत की राजकोषीय नीति पूर्ण सफलता प्राप्त करने में असफल रही है।

2.6 राजकोषीय नीति में सुधार के सुझाव

भारत में राजकोषीय नीति को और अधिक विकास–परक बनाया जाना आवश्यक है जिसके लिए निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

1. राष्ट्रीय आय में करारोपण से प्राप्त आय का हिस्सा बढ़ाये जाने के प्रयास किये जाने चाहिए। करारोपण के नये क्षेत्र ढूंढ़े जाने चाहिए। कर संरचना में प्रत्यक्ष करों का हिस्सा बढ़ाया जाना चाहिए और साथ ही कृषि एवं गैर–कृषि क्षेत्र में करों की समानता लाने के लिए कृषि आय पर कर लगाया जाना चाहिए।

2. देश में अनावश्यक उपयोग पर किये जाने वाले व्यय को ऊंचे कराधान की परिसीमा में लाया जाना चाहिए और ऊंची आय वाले गैर–वेतन वर्ग पर कर भार बढ़ाया जाना चाहिए।

3. देश में कर अपवंचन को रोकने के लिए प्रभावी कदम उठाये जाने चाहिए।

4. देश में सार्वजनिक उपक्रमों से पर्याप्त आय प्राप्त करने के प्रयास किये जाने चाहिए और साथ ही इन उद्योगों में कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए उचित रणनीति अपनाई जानी चाहिए।

5. देश में बचत एवं पूंजी निर्माण की गति को बढ़ाने के लिए राजकोषीय नीति द्वारा उपभोग को हतोत्साहित करके संसाधनों को उत्पादकीय क्षेत्रों में स्थानान्तरित करने के प्रयास किये जाने चाहिए।

6. गरीब वर्ग को लाभ पहुंचाने वाली सामाजिक सेवाओं पर अधिक व्यय किया जाना चाहिए।

7. विदेशी ऋणों पर निर्भरता को कम करने के प्रयास किये जाने चाहिए।

2.7 निर्देशांक (Index Numbers)

किसी भी देश में आर्थिक स्थिति की जानकारी तथा उचित आर्थिक नीतियों के निर्धारण के लिए मुद्रा–मूल्य में परिवर्तनों की माप का बड़ा व्यावहारिक महत्व होता है। इन परिवर्तनों का माप एक गणितीय विधि से किया जाता है, जिसे निर्देशांक अथवा सूचक–अंक (Index Numbers) कहते हैं। मुद्रा के मूल्य का अनुमान वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत से लगाया जाता है। किसी एक समय को आधार मानकर उसकी तुलना में हुई कमी अथवा वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। व्यावहारिक अनुभव यह बताता है कि सभी वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन एक साथ और एक ही दिशा में समान रूप से नहीं होते और न ही उनके घटने–बढ़ने की गति समान होती है। परन्तु इस प्रकार की स्थिति में भी कीमत–परिवर्तन की एक सामान्य प्रवृत्ति होती है जिसे इन विभिन्न परिवर्तनों के औसत द्वारा जाना जा सकता है। कीमत–निर्देशांक, जो एक तालिका के रूप में क्रमबद्ध किये गये विभिन्न कीमत–स्तरों की औसत संख्या है, सामान्य कीमत–स्तर की केन्द्रीय प्रवृत्ति को प्रकट करता है। चैण्डलर के शब्दों में, "कीमतों का निर्देशांक आधार–वर्ष की तुलना में किसी अन्य समय में कीमतों की औसत ऊँचाई को प्रकट करने वाली संख्या है।" बढ़ते हुए निर्देशांक इस बात के सूचक हैं कि सामान्य कीमत–स्तर बढ़ रहा है अथवा मुद्रा का मूल्य गिर रहा है। इसके विपरीत, गिरते हुए निर्देशांक सामान्य कीमत–स्तर के घटने अथवा मुद्रा का मूल्य बढ़ने के सूचक हैं।"

2.8 निर्देशांकों के प्रकार

साधारणतया तीन प्रकार के निर्देशांक तैयार किये जाते है :

1. कीमत–निर्देशांक।
2. मात्रा अथवा परिमाण निर्देशांक।
3. विशिष्ट उद्देश्य से निर्मित निर्देशांक।

भारत में मुख्य रूप से अग्रलिखित निर्देशांक तैयार किये जाते हैं :

1. थोक कीमतों के निर्देशांक (The Wholesale Price Index Numbers)- वस्तुओं की थोक कीमतों के आधार पर तैयार किये गये ये निर्देशांक सामान्य कीमत–स्तर में परिवर्तन मापने के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। चूँकि इनमें कच्चे पदार्थों (raw materials) की थोक कीमतें भी सम्मिलित होती हैं, इसलिए उत्पादकों के लिए इनका विशेष महत्व होता है। सरकार को भी अपनी मुद्रा तथा

कीमत–नीति के निर्धारण में इन निर्देशांकों से काफी सहायता मिलती है। भारत सरकार के आर्थिक सलाहकार (Economic Adviser to the Government of India) द्वारा 1942 से थोक कीमत निर्देशांक किये जा रहे हैं। समय–समय पर आधार वर्ष तथा सम्मिलित वस्तुओं की संख्या में परिवर्तन किये जाते रहे हैं। जुलाई 1989 में आरम्भ की गयी श्रृंखला में सभी वस्तुओं को 3 मुख्य वर्गों–

(I) प्रारम्भिक पदार्थ (Primary articles)।

(II) ईंधन, शक्ति, विद्युत और स्नेहक (fuel, power, light and lubricants)।

(III) विनिर्मित उत्पाद (manufactured products) तथा 16 उपवर्गों में विभाजित किया गया था।

थोक कीमत निर्देशांक की वर्तमान श्रृंखला का आधार वर्ष 2011-12 = 100 है। वस्तुओं वर्तमान में कुल सम्मिलित वस्तुओं की संख्या 697 है। जिसमें प्रारम्भिक पदार्थ 117; ईंधन, शक्ति, विद्युत तथा स्नेहक 16 और विनिर्मित उत्पाद की कुल संख्या 564 है।

सभी वस्तुओं को उनके सापेक्षिक महत्व के अनुसार भार (weight) प्रदान किया जाता है। थोक कीमतों के निर्देशांक तैयार करना सरल होता है, परन्तु व्यवहार में उपभोक्ता का सम्बन्ध फुटकर कीमतों (retail prices) से अधिक होता है, इसलिए थोक–कीमत निर्देशांक के आधार पर ठीक–ठीक अनुमान नहीं लग पाता कि मुद्रा की क्रय–शक्ति में परिवर्तनों का उपभोक्ता पर क्या प्रभाव पड़ा है।

2. जीवन निर्वाह–व्यय निर्देशांक (Cost of Living Index Numbers)-लोगों के उपभोग–व्यय में परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के निर्देशांकों की आवश्यकता होती है। इनको उपभोक्ता कीमत निर्देशांक (Consumer Price Index Numbers) भी कहा जा सकता है। श्रमिक वर्ग (working class) के लिए ये निर्देशांक अलग से तैयार किये जाते हैं, जिनसे श्रमिकों की आर्थिक स्थिति एवं समस्याओं का अध्ययन किया जाता है तथा उनके वेतन और महँगाई–भत्ते निर्धारित किये जाते हैं। जानकारी प्राप्त करने का मुख्य साधन परिवारिक बजट होता है। भारत में औद्योगिक श्रमिकों तथा कृषि–मजदूरों के लिए अलग–अलग उपभोक्ता कीमत निर्देशांक तैयार किये जाते हैं। मध्यम–वर्ग के लिए 59 औद्योगिक शहरों से विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं की फुटकर कीमतों के आधार पर भारत में जो सूचकांक बनाये जाते हैं, उनको 'Consumer Price Index Numbers for Urban Non-manual Employees' कहते हैं, ये निर्देशांक 2011-12 आधार–वर्ष मानकर तैयार किये जाते हैं।

3. प्रतिभूति कीमत निर्देशांक (Index Numbers of Security Prices)-विभिन्न वर्गों की औद्योगिक तथा सरकारी प्रतिभूतियों के मूल्य निर्देशांक तैयार किये जाते हैं जिनसे इनके मूल्य में परिवर्तनों का ज्ञान होता है। कुछ औद्योगिक प्रतिभूतियों पार प्राप्त लाभांश के भी सूचकांक तैयार किये जाते हैं जिनसे उद्योगों की स्थिति की जानकारी प्राप्त होती है।

4. उत्पादन–निर्देशांक (Production Index Numbers)-देश में उत्पादन की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि की जानकारी के लिए भी निर्देशांक तैयार किये जाते हैं। भारत में कृषि–उत्पादन तथा औद्योगिक उत्पादन के निर्देशांक अलग–अलग होते हैं। इनकी सहायता से उत्पादन–स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

5. आयात–निर्यात निर्देशांक (Index Numbers of Imports and Exports)-विदेशी व्यापर में सम्मिलित वस्तुओं–आयातों तथा निर्यातों–की कीमतों तथा मात्रा के आधार पर निर्देशांक तैयार किये जाते हैं जिनसे विदेशी व्यापार की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है।

उपर्युक्त निर्देशांकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के निर्देशांक भी होते हैं, जैसे आय निर्देशांक, आर्थिक स्थिति निर्देशांक, इत्यादि। इस प्रकार इनका क्षेत्र केवल वस्तुओं की कीमतों के माप तक ही सीमित नहीं है, परन्तु मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन जानने के लिए कीमत निर्देशांक ही महत्वपूर्ण हैं।

2.9 निर्देशांक का निर्माण

निर्देशांक के निर्माण में साधारणतया निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना पड़ता है–

1. निर्देशांक का उद्देश्य (Purpose of Index Number)

जैसा कि बताया जा चुका है, निर्देशांक अनेक प्रकार के होते हैं तथा अलग–अलग उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। कोई भी निर्देशांक बनाने के पूर्व इसका उद्देश्य निश्चित करना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, यदि हमारा उद्देश्य उत्पादकों की क्रय–शक्ति में परिवर्तन का अध्ययन करना है, तो

इसके लिए थोक कीमतों का निर्देशांक उपयुक्त होगा। किन्तु यदि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव उपभोक्ता पर देखना है, तो फुटकर कीमतों पर आधारित जीवन निर्वाह–व्यय निर्देशांक अधिक उपयोगी होगा।

2. आधार–वर्ष का चुनाव (Selection of the Base Year)

निर्देशांक के निर्माण में हमें एक आधार–वर्ष का चुनाव करना पड़ता है जिसकी तुलना में प्रचलित कीमतों में परिवर्तनों की माप की जाती है। आधार–वर्ष का औसत निर्देशांक 100 के बराबर मान लिया जाता है। वैसे तो किसी भी वर्ष को आधार–वर्ष माना जा सकता है, परन्तु सही जानकारी के लिए यह आवश्यक है कि यह एक सामानय वर्ष हो।

3. वस्तुओं तथा सेवाओं का चुनाव (Selection of Commodities and Services)

मुद्रा के माध्यम से इतनी अधिक वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय–विक्रय होता है कि प्रत्येक वस्तु तथा सेवा की कीमत का निर्देशांक तैयार करना असम्भव होता है। अतएव कुछ विशेष वस्तुएँ तथा सेवाएँ चुन ली जाती हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि चुनी हुई वस्तु एक वस्तु–समूह का प्रतिनिधित्व करती हो। निर्देशांक में सम्मिलित वस्तुओं तथा सेवाओं की संख्या न तो इतनी कम हो कि उससे सामान्य प्रवृत्ति का ज्ञान न हो पाये और न ही इतनी अधिक हो कि उनको सम्भालने में कठिनाई हो।

4. वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों का चयन (Selection of the Prices of Commodities)

वस्तुओं तथा सेवाओं को चुन लेने के पश्चात् यह तय करना होता है कि निर्देशांक बनाने में इनकी कौन–सी कीमतों का प्रयोग किया जाय। वस्तुओं की कीमतें थोक भी होती हैं तथा फुटकर भी इसके अतिरिक्त कुछ नियन्त्रित कीमतें भी होती हैं। थोक कीमतें मालूम करना सरल होता है अतएव मुद्रा की सामान्य क्रय–शक्ति की जानकारी के लिए इन्हें लिया जा सकता है। किन्तु जीवन निर्वाह–व्यय निर्देशांक के लिए फुटकर कीमतें ही अधिक उपयुक्त होंगी।

5. कीमतों का औसत निकालना (To Find out the Average of Prices)

आधार–वर्ष में सब कीमतों को 100 मानते हुए अन्य वर्षों की कीमतों को आधार–वर्ष की कीमत के प्रतिशत में दिखाया जाता है। मान लीजिए, आधार–वर्ष में गेहूँ की कीमत 50 रुपये प्रति क्विण्टल है और निर्देशांक तैयार किये जाने वाले वर्ष में 200 रुपये प्रति क्विण्टल इसी प्रकार, सभी वस्तुओं की कीमत का प्रतिशत अलग–अलग निकालने के बाद इन्हें जोड़कर वस्तुओं की संख्या से भाग देकर जो औसत निकाला जाता है उसे ही निर्देशांक कहते हैं।

साधारण निर्देशांक (Simple Index Number)

साधारण निर्देशांक के निर्माण के लिए हम अलग–अलग वस्तुओं की कीमत आधार–वर्ष में देख लेते हैं और प्रत्येक वस्तु की कीमत का निर्देशांक 100 के बराबर मान लेते हैं। तत्पश्चात् चालू वर्ष को आधार–वर्ष की कीमतों के प्रतिशत में दिखाते हैं। चालू वर्ष से सम्बन्धित प्राप्त अंक जोड़ लिये जाते हैं, जिन्हें वस्तुओं की संख्या से विभाजित करने पर निर्देशांक प्राप्त हो जाता है।

भारशील निर्देशांक (Weighted Index Number)

साधारण निर्देशांक इस मान्यता पर आधारित होता है कि इसमें सम्मिलित सभी वस्तुएँ समान महत्व की होती हैं। परन्तु वास्तविक जीवन में विभिन्न वस्तुओं का महत्व अलग–अलग होता है। उदाहरण के लिए, गेहूँ अथवा चावल की कीमतों में परिवर्तन का प्रभाव घी की कीमत के परिवर्तन से अधिक होगा। इसलिए गेहूँ तथा घी को एक–सा महत्व देना अवास्तविक होगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए विभिन्न वस्तुओं पर खर्च की गयी आय के औसत अनुपात के आधार पर अलग–अलग भार (weight) निश्चित किया जाता है। कीमत निर्देशांक को किसी वस्तु को दिये गये भार से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त होता है, उसको भारों के योग से विभाजित करने पर भारशील निर्देशांक प्राप्त किया जा सकता है।

2.10 निर्देशांक के निर्माण की कठिनाइयाँ

एक सही निर्देशांक के निर्माण में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित है :

1. निर्देशांक के निर्माण में एक उपयुक्त आधार–वर्ष का होना आवश्यक होता है। आधार के रूप में चुने गये वर्ष का आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के दृष्टिकोण से सामान्य वर्ष होना भी आवश्यक होता है। परन्तु इस प्रकार के वर्ष का चयन कोई सरल कार्य नहीं होता, क्योंकि प्रायः कोई भी वर्ष कुछ विशेष घटनाओं से सर्वथा रहित नहीं होता। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों के अनुसार समय–समय पर आधार–वर्ष बदलते रहना पड़ता है।

2. वस्तुओं तथा सेवाओं का चुनाव निर्देशांक के उद्देश्य के अनुसार ही करना होता है। उदाहरण के लिए, यदि जीवन निर्वाह–व्यय निर्देशांक बनाना है तो श्रमिकों के उपभोग पर आधारित निर्देशांक मध्यम वर्ग के लिए बेकार–सा ही होगा, क्योंकि उनके उपभोग की वस्तुएँ भिन्न प्रकार की होती हैं। सबसे बड़ी कठिनाई तो यह होती है कि समय के अन्तर के साथ–साथ वस्तुओं के गुण तथा स्वभाव में भी अन्तर पड़ जाता है।

3. कीमतों से सम्बन्धित आँकड़े एकत्र करना एक कठिन तथा व्ययपूर्ण कार्य होता है। संगठित बाजार में थोक कीमतें जानने में तो विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु जीवननिर्वाह–व्यय निर्देशांक के निर्माण में फुटकर कीमतें ही लेनी पड़ती हैं, जिन्हें एकत्र करना बहुत कठिन कार्य होता है।

4. अलग–अलग वस्तुओं के महत्व में अन्तर होने के कारण निर्देशांक के निर्माण में उन्हें भार प्रदान करना पड़ता है। किन्तु विभिन्न वस्तुओं का सापेक्षिक महत्व तथा भार निश्चित करना एक कठिन कार्य है। एक ही वस्तु अलग–अलग व्यक्तियों तथा वर्गों के लिए भिन्न–भिन्न महत्व रखती है।

5. औसत निकालने के कई तरीके हैं और अलग–अलग तरीकों से औसत निकालने पर अलग–अलग निर्देशांक प्राप्त होते हैं। निर्देशांक–निर्माण के लिए किस औसत का प्रयोग किया जाय, यह निश्चय करना कठिन होता है।

6. दो विभिन्न वर्षों की तुलना करते समय एक कठिनाई जो सामने आती है यह है कि समय में अन्तर के साथ–साथ बहुत–सी नयी वस्तुएँ उपभोग में आती हैं अथवा महत्वपूर्ण हो जाती हैं, जबकि कुछ अन्य वस्तुएँ उपभोग में निकल जाती हैं। निर्देशांक–निर्माण सम्बन्धी उक्त कठिनाइयों के कारण ही मार्शल ने यह निराशापूर्ण विचार प्रकट किया था कि "मुद्रा की क्रय–शक्ति का ठीक–ठाक माप न केवल असम्भव है अपितु अविचारणीय भी है।" परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि निर्देशांक पूर्णतया निरर्थक नहीं होते। व्यावहारिक कठिनाइयों के रहते हुए भी इनसे परिवर्तन की मात्रा का कुछ अनुमान तो हो ही जाता है।

2.11 निर्देशांकों के लाभ

निर्देशांक को आर्थिक जगत के दबावों की माप का यन्त्र कहा जाता है। भले ही यह एक अपूर्ण यन्त्र है, परन्तु इसका उपयोग त्याग देना सम्भव नहीं है। व्यावहारिक रूप में निर्देशांकों से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं–

1. मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का मूल्यांकन कई पहलुओं से आवश्यक है। भविष्य के भुगतानों की सुविधा के लिए, उत्पादन तथा रोजगार की दिशा निर्धारित करने के लिए तथा विभिन्न स्थानों अथवा वर्गों के लोगों की वास्तविक आय की जानकारी प्राप्त करने के लिए मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन को मापना आवश्यक होता है। इस कार्य में निर्देशांक हमारे बहुत बड़े सहायक हैं। क्राउथर के अनुसार, "निर्देशांक की तकनीकी पद्धति के प्रयोग द्वारा मुद्रा के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों की माप करना सम्भव है।"

2. समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन–स्तर में सुधार के लिए यह आवश्यक होता है कि उनकी वास्तविक आय में वृद्धि हो अर्थात् वे अपनी बढ़ी हुई आय से वस्तुओं तथा सेवाओं की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकें। कीमतें बढ़ते रहने से मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाने पर भी आवश्यक आय नहीं बढ़ती। जीवन–निर्वाह–व्यय निर्देशांक से यह पता चलता है कि रहन–सहन का व्यय बढ़ रहा है या घट रहा है, अर्थात् वास्तविक आय में कैसा परिवर्तन हो रहा है। इसी के आधार पर मजदूर तथा मालिकों के झगड़े भी तय किये जा सकते हैं।

3. चूँकि निर्देशांक वास्तविक आय में होने वाले परिवर्तनों का सूचक होता है, इसलिए श्रमिकों की मजदूरी के निर्धारण में बहुत सहायता मिलती है। प्रायः प्रयास यह किया जाता है कि मजदूरी की वास्तविक आय न गिरने पाये जिससे उनके जीवन–स्तर में गिरावट न हो।

4. निर्देशांक से यह भी पता चलता है कि विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में विकास की स्थिति क्या है। कौन–कौन से उद्योगों में उत्पादन बढ़ रहा है और कौन–से ऐसे हैं जिनमें घट रहा है। कृषि–उत्पादन में वृद्धि अथवा कमी का भी ज्ञान प्राप्त होता है। इसी जानकारी के आधार पर औद्योगिक अथवा कृषि–विकास की नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं।

5. आयात तथा निर्यात निर्देशांक से विदेशी व्यापार की स्थिति का ज्ञान होता है और इसके आधार पर भुगतान–सन्तुलन सुधारने के प्रयास किये जाते हैं।

2.12 सारांश

निर्देशांकों से प्राप्त जानकारी के आधार पर उत्पादक तथा व्यापारी आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाते हैं तथा उसके अनुसार अपनी योजनाएँ तैयार करते हैं। फिशर के अनुसार, "वस्तुओं की कीमत–स्तर स्थायी रखने तथा व्यापार में स्थिरता लाने के लिए निर्देशांक बहुत उपयोगी हैं।" स्थिरता एवं विकास के उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार को उपयुक्त नीति का निर्माण करना होता है। आधुनिक अर्थ–व्यवस्थाओं में कोई भी मौद्रिक अथवा विकास सम्बन्धी नीति विभिन्न प्रकार के निर्देशांकों की सहायता के बिना निर्धारित नहीं की जा सकती। हाम के विचार में, "कीमत–स्तर जो निर्देशांकों के माध्यम से सुविधापूर्वक व्यक्त किये जा सकते हैं, मौद्रिक नीति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोगी हो सकते हैं।"

इस प्रकार, कीमत तथा आय की स्थिरता, व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास, आर्थिक नीति के निर्माण आदि महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति में निर्देशांक द्वारा प्राप्त किये गये संकेत बहुत उपयोगी होते हैं। किन्तु जैसा कि पहले बताया गया है, इनके निर्माण में विशेष योग्यता तथा सतर्कता की आवश्यकता होती है।

2.13 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- राजकोषीय नीति की क्या भूमिका होती है? समझाइए।

प्रश्न 2- राजकोषीय नीति का विकासशील देश में प्रमुख उद्देश्य क्या होता है? वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3- राजकोषीय नीति के उपकरणों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4- निर्देशांक क्या है और कैसे तैयार किए जाते हैं? साधारण तथा भारित निर्देशांक को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 5- निर्देशांक के निर्माण में कौन–कौन सी कठिनाइयां सामने आती हैं? इनको कहां तक विश्वसनीय माना जा सकता है?

2.14 शब्दावली

कर	:	Tax
सार्वजनिक व्यय	:	Public Expenditure
संतुलित बजट	:	Balance Budget
सूचकांक	:	Index Number

2.15 सन्दर्भ सूची

Taylor	:	Economics Public Finance
Somers	:	Public Finance and National Income
Lerner	:	Economics of Control
Irving Fisher	:	The Making of Index Number
M. L. Jhingan	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र

इकाई– 03
व्यापारिक बैंक–अर्थ तथा कार्य, साख सृजन, उद्देश्य एवं सीमाएं, राष्ट्रीयकरण के बाद व्यापारिक बैंकों की प्रगति

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 व्यापारिक बैंकों के प्रकार
4.3 व्यापारिक बैंकों के कार्य
4.4 व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण
4.5 व्यापारिक बैंकों का संगठन
4.6 साख निर्माण की प्रक्रिया
4.7 व्यापारिक बैंकों की प्रगति
4.8 सारांश
4.9 बोध प्रश्न
4.10 शब्दावली
4.11 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत व्यापारिक बैंकों के बारे में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना। प्रमख उद्देश्य है जैसे–

1. देश के व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण का आशय क्या रहा?
2. व्यापारिक बैंकों के कार्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करना एक प्रमुख उद्देश्य है
3. व्यापारिक बैंक किस तरीके से साख का सृजन करते हैं?
4. आज के दौर में व्यापारिक बैंकों की प्रगति किस प्रकार हो रही है?

4.1- प्रस्तावना

'बैंक' शब्द काफी प्राचीन है तथा इसका प्रारम्भ रहस्यमय है। एक विचारधारा के अनुसार प्राचीन समय में इटली में जो व्यापार–गृह आरम्भिक बैंकिंग का कार्य करते थे उनको Banchi अथवा Bancheri कहा जाता था क्योंकि वे अपने साथ भुगतान करने के लिए ये एक विशेष प्रकार की मेज रखते थे जिसको banchi कहते थे। बैंक शब्द इटली के banchI से प्राप्त हुआ। एक दूसरी विचारधारा के अनुसार बैंक शब्द की उत्पत्ति जर्मन भाषा के 'Bank' शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'संयुक्त स्कन्ध कोष' (Joint Stock Fund) है। एक अन्य धारणा के अनुसार विद्वान फ्रेंच भाषा के 'Banke' शब्द को बैंक शब्द का स्रोत मानते हैं। इस प्रकार बैंक शब्द की उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना मुश्किल है परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आधुनिक बैंकों का आरम्भ यूरोप में ही हुआ और शनैः शनैः पूरे संसार में फैल गये।

बैंक की परिभाषा देने का प्रयत्न बहुत से अर्थशास्त्रियों और बैंकर्स ने किया है। अधिकांश परिभाषाओं में विद्वानों ने एक आधुनिक बैंक के स्वरूप या कार्यों को स्प्ष्ट करने का प्रयास किया है। कुछ विद्वानों ने परिभाषा देते समय बैंक को अन्य वित्तीय संस्थाओं, मध्यस्थों, महाजनों और देशी बैंकर्स से अलग करने का प्रयास किया है, अतः अब तक बैंक की जो भी अनेक परिभाषाएं दी गई है वे काफी हद तक एक सी हैं। निम्नलिखित परिभाषांए हमारे इस कथन की पुष्टि करती हैं–

फिण्डले शिराज के अनुसार, "बैंक वह व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी है जिनके पास कोई ऐसा व्यापारिक स्थान हो जहाँ मुद्रा अथवा करेंसी को जमा द्वारा साख का कार्य किया जाता है अथवा जहाँ स्टाक, बॉण्ड बुलियन और विनिमय विपत्र और प्रतिज्ञा–पत्र बट्टे पर या बेचने के वास्ते दिये जाते हैं।

प्रो. किनले के अनुसार, "बैंक एक ऐसी संस्था है जो ऋण की सुरखा का ध्यान रखते हुये ऐसे व्यक्तियों को ऋण देती है जिनको इनकी आवश्यकता होती है। तथा जिसके पास व्यक्ति अपना अतिरिक्त रुपया जमा करते है"

प्रो. क्राउथर के अनुसार, "बैंकर अपने तथा अन्य लोगों के ऋणों का व्यवसायी होता है अर्थात् बैंकर का व्यवसाय अन्य लोगों से ऋण लेना और उसके बदले में अपने ऋण देना और इस प्रकार मुद्रा का सृजन करना है।"

1949 ई. के भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार, "बैंक उस कम्पनी को कहते हैं जो बैंकिग का कार्य करती है। ..... बैंकिंग का अर्थ ऋण देना अथवा निवेश करने के लिए जनता से उन जमाओं को प्राप्त करना है जो जमाकर्ताओं को मांगने पर वापस हो सकती है।"

सेयर्स के अनुसार, "बैंक वह संस्था है जिसके ऋणों को अन्य व्यक्तियों के पारस्परिक ऋणों के भुगतान के लिये विस्तृत रूप से स्वीकार किया जाता है।"

4.2- बैंकों के प्रकार
(Types of Banks)

1. व्यापारिक बैंक (Commercial Bank)-व्यापारिक बैंक संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियां होती है। ये बैंक सभी सामान्य बैंकिग कार्यों को करती है अर्थात् उनकी पूँजी अनेक अंशों में विभाजित होती है और वे अंश अनेक व्यक्तियों अथवा संस्थाओं द्वारा खरीदे हुये होते हैं। व्यापारिक बैंक धन जमा करने, ऋण देने, चैकों का संग्रहरण एवं भुगतान करने तथा ऐजेन्सी सम्बन्धी अनेक कार्य करते हैं। इन संस्थाओं की प्रमुख विशेषता यह है कि मुद्रा के समान ही इनके द्वारा निर्मित साख विनिमय माध्यम के रूप में कार्य करते है। अब ये बैंक नोट तो नहीं छापते हैं परन्तु साख का निर्माण अपनी जमाओं के आधार पर करते हैं। इस कार्य को कोई अन्य बैंक नहीं करता है। चैण्डलर के शब्दों में, इन्हें, "चैक जमा बैंक" (Check Deposit Bank) कहना उचित होगा। 31 मार्च 2003 की स्थिति के अनुसार देश में वाणिज्यिक बैंकिंग व्यवस्था के अंतर्गत विदेशी बैंकों सहित 290 अनुसूचित व्यापारिक बैंक हैं। इनमें से 223 सार्वजनिक क्षेत्र के हैं जिनमें से 196 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक है।

2. औद्योगिक बैंक (Industrial Bank)-औद्योगिक बैंक उद्योग धन्धों की दीर्घकालीन वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। उद्योग धन्धों को दो प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है, अल्पकालीन व दीर्धकालीन ऋण। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले हमारे देश में एक भी औद्योगिक बैंक नहीं था। स्वदेशी आन्दोलन के परिणामस्वरूप कुछ औद्योगिक बैंकों की बड़ी आवश्यकता थी। अतः 1 जुलाई 1948 ई. को राजकीय क्षेत्र में 20 करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी से औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation) की स्थापना की गयी। भारत में औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम (ICICI), भारतीय औद्योगिक पूंजी निवेश बैंक लिमिटेड (IIBT), राज्य वित्त निगम (SFC) आदि औद्योगिक बैंक के उदाहरण हैं। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक ने 2002-2003 के दौरान कुल 3,892 करोड़ रुपये की वित्तीय सहायता प्रदान की है।

3. सहकारी बैंक (Co-operative Bank)-सहकारिता की भावना को लेकर इन बैंकों का उदय हुआ था। सर्वप्रथम 1904 ई. में सहकारी साख समिति कानून पास हुआ था जिसके अन्तर्गत ग्रामीणों को सुख–सुविधाएं प्रदान करने के लिए सहकारी साख समितियां स्थापित की जा सकती थी। धीरे–धीरे सहकारिता आन्दोलन प्रगति करता गया और देश भर में सहकारी बैंकों का जाल सा बिछ गया। ये बैंक परस्पर सहयोग के सिद्धान्त पर कार्य करते हैं। सहकारी बैंक दो प्रकार के होते हैं– (1) प्रारम्भिक समितियां, (2) केन्द्रीय साख समितियां। केन्द्रीय साख समितियों में सहकारी बैंकिंग यूनियन, केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा राज्य सहकारी बैंक होते हैं जो अपने–अपने क्षेत्रों में कार्य करते हैं तथा अपने अधीन बैंकों की निगरानी और सहायता करते हैं।

4. रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (Reserve Bank of India)-भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना रिजर्व बैंक आफ इंडिया अधिनियम, 1934 के अन्तर्गत अप्रैल 1935 को हुई थी। 1 जनवरी, 1949 को इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। देश में एक रूपये के सिक्के, नोटों को और छोटे सिक्कों के सिवा

अन्य मुद्रा जारी करने का एकमात्र अधिकार रिजर्व बैंक को ही है। रिजर्व बैंक भारत सरकार, राज्य सरकारों, वाणिज्यिक बैंकों, राज्य सहकारी बैंकों और कुछ वित्तीय संस्थाओं के बैंकर के रूप में कार्य करता है। यह ऋण के समुचित उपयोग से मूल्यों में स्थिरता लाने के साथ–साथ उत्पादन बढ़ाने के लिए मुद्रा–नीति तैयार करता है और उसे लागू करता है। इसके साथ ही रूपये के विनिमय–मूल्य को बनाए रखने में भी यह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक के आदेशों का पालन करते हैं। यह सरकार को आर्थिक तथा मौद्रिक विषयों पर परामर्श देता है तथा देश की आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित आँकड़ों को इकट्ठा करता है और प्रकाशित भी करता है।

5. विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Bank)-विदेशी मुद्रा में लेन–देन तथा विदेशी व्यापार के लिए वित्तीय व्यवस्था करने वाली संस्थाओं को विनिमय बैंक कहा जाता है। भारत में इन बैंकों का आरम्भ अंग्रेजी शासनकाल में हुआ। प्रारम्भ में अंग्रेजी सरकार ने भारत में ऐसे बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जिनका प्रधान कार्यालय इंग्लैण्ड अथवा अन्य देशों में होते थे और जो भारत में अपनी शाखायें खोलते थे। अतः भारत में अनेक देशों के बैंक स्थापित हुए। आजकल विनिमय बैंक साधारण व्यापारिक बैंकों के समान बैंकों के अन्य कार्य भी करते हैं। इसके विपरीत व्यापारिक बैंक भी विनिमय बैंकों के कार्य करते हैं। ये बैंक व्यापार के लिये उधार धन देने, सलाह देने, विदेशी बिलों को भुनाने, क्रय विक्रय करने तथा आयात निर्यात की व्यवस्था करने का कार्य करते है। ये बैंक विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रखने का भी कार्य करते हैं।

6. बचत बैंक (Saving Bank)-पाश्चात्य देशों में निम्न और मध्यम वर्ग के लोगों की छोटी–छोटी बचतों को प्रोत्साहित करने के लिये विशेष प्रकार के बैंक स्थापित किये गये हैं जिसको 'बचत बैंक' कहा जाता है। बचत बैंकों का लक्ष्य राष्ट्र की अल्प बचत का संचय करके इसका उत्पादक कार्यों में निवेश करना होता है। ये बैंक प्रायः व्यापारिक बैंक के सहायक बैंक के रूप में कार्य करते हैं। इन बैंकों में छोटी–छोटी रकमें जमा की जाती हैं और उनको निकालने की यथेष्ट सुविधा प्रदान की जाती है। सर्वप्रथम बचत बैंक की स्थापना जर्मनी में हैस्बर्ग नामक नगर में 1765 ई. में हुई थी। भारत में डाकघर बचत बैंक इस प्रकार के बैंकों का उदाहरण है।

7. कृषि बैंक (Agricultural Bank)–कृषि बैंक कृषकों की कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु कृषकों को अल्पवधि, मध्यावधि तथा दीर्घावधि ऋण प्रदान करता है। कृषि से सम्बन्धित कुछ विशेष कठिनाइयों के कारण व्यापारिक बैंक कृषि को ऋण सहायता नहीं दे पाये। कृषि उत्पादन सरल नहीं है और यह प्राकृति प्रकोपों के आधीन है। उत्पादन न होने की दशा में बैंक के लिये कृषकों से ऋण वसूल करना काफी मुश्किल होता है साथ ही बैंक के फेल होने का भय भी बना रहता है अतएव उनके लिए अलग प्रकार के बैंकों की व्यवस्था करनी पड़ती है। भारत में सरकार तथा केन्द्रीय बैंक इसके लिये प्रयत्नशील रहे हैं कि देश में वाणिज्य बैंक कृषि वित्त की व्यवस्था करें। भारत में कृषि को दीर्घावधि तथा अल्पावधि ऋण सहकारी बैंक तथा भूमि बन्धक बैंकों द्वारा प्रदान किये जा रहे हैं। 1975 से क्षेत्रीय बैंक स्थापित किये गये हैं। 1982 में राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (National Bank for Agriculture and Rural Development-NABARD) की एक सर्वोच्च संस्था के रूप में स्थापना की गयी है।

8. देशी बैंकर्स (Indigenour Bankers)-आधुनिक बैंकों के विविध रूपों के अतिरिक्त भारत में देशी बैंकर्स का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इनको महाजन, साहूकार, सर्राफ आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। ये व्यक्ति सामान्यतः जनता से जमायें स्वीकार नही करते तथा इनका मुख्य कार्य अपनी पूंजी उधार देकर अधिक से अधिक ब्याज वसूल करना होता है। भारतीय बैंकिग जाँच समिति (Indian Banking Enquiry Committee) के अनुसार, "देशी बैंकर वह व्यक्ति या व्यक्तिगत फर्म है, जो जमाएं स्वीकार करने, हुण्डियों में व्यवसाय करने और ऋण देने का कार्य करती है।"

9. अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank)-अन्तर्राष्ट्रीय बैंकों को स्थापित करने का प्रमुख उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय मामलों को निपटाना अथवा वित्तीय सहायता प्रदान करना होता है। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् स्थापित विश्व बैंक (World Bank) तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष

(International Monetary Fund) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के रूप में कार्यरत हैं। इनके प्रमुख उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग बढ़ाना, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार और संतुलित विकास को बढ़ावा देना, मुद्रा की स्थिरता बनाए रखना आदि है। इस समय 190 देश इसके सदस्य हैं।

10. क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक (Regional Rural Bank)-क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की स्थापना विशेषकर दूर–दराज के ग्रामीण क्षेत्रों के उन लोगों को बैंकिंग सुविधाएं पहुँचाने के उद्देश्य से की गई है जहाँ पर ये सुविधाएं नहीं हैं। इन बैंकों का एक उद्देश्य ग्रामीण बचत को जुटा कर उत्पादक गतिविधियों में लगाना भी है। 2002 के मार्च के अंत में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की शाखाओं द्वारा दिये गये ऋण की राशि 18, 629 करोड़ रुपये थी तथा जमा के रूप में उन्होंने 44, 539 करोड़ रुपये जुटाए। वर्ष 2020–21 में आधारस्तरीय चरण में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का हिस्सा 12.1 प्रतिशत रहा। इस अवधि में बैंक ने आधार स्तरीय ऋण प्रवाह के अपने लक्ष्य का 99 प्रतिशत उपलब्धि प्राप्त किया है। भारतीय रिजर्व बैंक के आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2020–21 की अवधि में जमाराशियों में 9.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

4.3- बैंकों के कार्य
(FunctIons Of Banks)

जिस प्रकार बैंकों का विकास धीरे–धीरे हुआ है, उनके कार्यों का विस्तार भी धीरे–धीरे ही होता है। वर्तमान अर्थव्यवस्था में बैंक महत्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्य कर रहे हैं। आधुनिक जगह में बैंकों द्वारा सामान्यतः निम्नलिखित कार्य किये जाते हैं–

I. रुपया जमा के रूप में प्राप्त करना–रुपया जमा करना बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। बैंक जनता से जमा के रूप में धन स्वीकार करता है। सामान्यतः बैंक निम्न पांच प्रकार के खातों द्वारा जनता का रुपया जमा के रूप में प्राप्त करता है।

(I) चालू खाता (Current Accounts)-यह खाता प्रायः उद्योगपतियों, व्यापारियों एवं अन्य व्यवसायियों द्वारा खोला जाता है। इस खाते में जमाकर्ता जब चाहे तब रुपया जमा कर सकता है और निकाल सकता है। प्रायः बैंक इस प्रकार के खाते में जमा धनराशि पर ब्याज नहीं देता है क्योंकि इसे जमाकर्ता की मांग को पूरा करने के लिये सदैव अपने पास नकद कोष तैयार रखना पड़ता है।

(II) बचत खाता (Saving Bank Account)-यह खाता प्रायः कम आयु वाले व्यक्तियों द्वारा खोला जाता है। इस खाते में से जमाकर्ता सप्ताह में एक या दो बार ही रुपया निकाल सकता है, परन्तु जमा कितनी बार कर सकता है। रुपया निकालने के लिए जमाकर्ता को चैक की सुविधा दी जाती है। इस खाते में जमा धनराशि प्र थोड़ी मात्रा में ब्याज भी दिया जाता है। बचत खाते से देश में पूंजी संचय को प्रोत्साहन मिलता है।

(III) स्थायी जमा खाता (Fixed Deposit Account)-इस खाते में एक निश्चित अवधि (3 माह से 10 वर्ष तक) के लिए धनराशि जमा करायी जा सकती है। जिस निश्चित अवधि के लिए धनराशि जमा करायी गयी है, उस निश्चित अवधि के समाप्त होने से पहले रुपया नहीं निकाला जा सकता है। इस खाते में ब्याज की दर अन्य खातों की अपेक्षा ऊँची होती है। अवधि जितनी अधिक होती है, ब्याज की दर उतनी ही अधिक होती है। इस खाते में वे लोग अपना रुपया जमा कराते हैं जिनके पास कुछ निश्चित रुपया होता है जिससे वे निश्चित आय चाहते है और उस रुपये को किसी जोखिम में डालना नहीं चाहते हैं।

(IV) गृह बचत खाता (Home Saving Account)-कुछ बैंक द्वारा बचतों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से जमाकर्ता ग्राहकों को घर ले जाने के लिये गुल्लक (Saving Box) देते है, जिससे वे अपनी छोटी–छोटी बचतों को जमा करते रहते हैं। इन गुल्लकों की चाबी बैंक के पास रहती है। एक निश्चित अवधि के बाद गुल्लक को बैंक में ले जाकर खोला जाता है और उससे प्राप्त धनराशि को जमाकर्ता के खाते में जमा कर दिया जाता है। इस प्रकार के खाते पर ब्याज की दर बहुत ही कम होती है।

(V) अन्य जमा खाते (Other Deposit Accounts)–वर्तमान में जमाकर्ताओं की जमा को अनेक नये–नये प्रकार के खातों में भी जमा किया जाने लगा है जैसे–

1. अनिश्चितकालीन जमा खाता।
2. आवर्ती जमा खाता।
3. प्रतिदिन बचत जमा खाता।

4. मासिक जमा योजनाएं।
5. वार्षिक या निवृत्ति योजनाएं।

(II) ऋण प्रदान करना (Adavancing Loans)–बैंक जितना रुपया जमा के रूप में प्राप्त करते हैं, उसका अधिकांश भाग जरूरतमन्द व्यवसायियों, व्यापारियों, किसानों आदि का ऋण के रूप में दे देते हैं। इन ऋणों पर बैंक इतना ब्याज वसूल करता है कि जिससे बैंक के खर्चे तथा जमाकर्ताओं को दिया जाने वाला ब्याज आसानी से निकल आये। बैंकों द्वारा निम्न प्रकार के ऋण प्रदान किये जाते हैं–

1. साधारण ऋण (Simple Loan)-यह ऋण उन व्यक्तियों को दिया जाता है जो बैंक के पास अपनी कोई वस्तु धरोहर (Security) के रूप में रख देता है। इस ऋण का रुपया ऋणी के चालू खाते में जमा कर दिया जाता है जिसमें से ऋणी आवश्यकतानुसार रुपया निकाल सकता है। बैंक चाहे जब इस प्रकार का ऋण वापस मांग सकता है।

2. नगद साख (Cash Credit)-इसके अन्तर्गत बैंक ऋणी की निश्चित प्रतिभूति के बदले में ऋण देता है। ऋण का रुपया ऋणी व्यक्ति के नाम से खोले गये खाते में जमा कर दिया जाता है। ऋणी अपनी आवश्यकतानुसार खाते में से थोड़ा–थोड़ा रूपया (रकम) निकालता रहता है, परन्तु उसे वास्तव में निकाली गई रकम पर ही ब्याज देना पड़ता है।

3. बैंक अधिविकर्ष (Bank Overdraft)-कभी–कभी बैंक अपने विश्वसनीय चालू खाते वाले ग्राहकों को ओवर ड्राफ्ट की सुविधा भी देता है, जो एक प्रकार से ऋण ही है। बैंक ग्राहकों को उनके खाते में जमा रकम से अधिक रकम निकालने के लिए चेक जारी कर अनुमति देता है। ग्राहक अपनी जमा रकम से अधिक राशि निकालने पर बैंक को ब्याज चुकाता है।

4. विनिमय बिलों का भुनाना (Discounting of Bills Exchange)-बैंकों द्वारा दिया जाने वाला यह एक अन्य प्रकार का ऋण है। यदि विनिमय–बिल के वाहक को तत्काल नकद रुपयों की आवश्यकता है तो वह बैंक में जाकर स्वीकृत विनिमय–बिल, बट्टा (Discount) कटवाकर भुना सकता है। किसी अच्छी पार्टी द्वारा स्वीकृत विनिमय–बिल को बैंक तुरन्त ले लेता है और और उसके वाहक को विनिमय–बिल का वर्तमान मूल्य दे देता है या उसके खाते में जमा कर देता है। विनिमय–बिल परिपक्व (Mature) हो जाने पर बैंक उस बिल को स्वीकार करने वाली पार्टी से बिल का पूरा भुगतान प्राप्त कर लेता है।

(III) अभिकर्त्ता या एजेन्सी के कार्य (Agency Functions)-बैंक अपने ग्राहकों के लिए एजेन्सी कार्य भी सम्पन्न करता है। इनमें से कुछ कार्य तो निःशुल्क किये जाते हैं और कुछ कार्यों के लिये ग्राहकों से निश्चित शुल्क या कमीशन लिया जाता है। बैंक के प्रमुख एजेन्सी कार्य निम्नलिखित हैं–

1. धन का स्थानान्तरण–बैंक अपने ग्राहकों को बैंक–ड्राफ्ट द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने में सहायता देता है और इस सेवा के लिये थोड़ा सा शुल्क लेता है।

2. ग्राहकों का रुपया एकत्र करना–बैंक दूसरे बैंकों से अपने ग्राहकों द्वारा जमा कराये गये चैक, बिल, ड्राफ्ट, हुण्डियाँ तथा अन्य विनिमय साध्य विलेखों का भुगतान प्राप्त करके उनके रुपये को ग्राहक के खाते में जमा करते है।

3. अंशों एवं प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय–बैंक अपने ग्राहकों के लिये मिश्रित पूँजी कम्पनियों के अंश तथा सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदता तथा बेचता है।

4. विभिन्न भुगतान प्राप्त करना–बैंक अपने ग्राहकों के अंशों व ऋण–पत्रों पर दिये जाने वाले लाभांश तथा ब्याज, किराया व अन्य प्राप्तियाँ वसूल करके उनके खाते में जमा करते हैं।

5. अन्य प्रकार के भुगतान करना–बैंक अपने ग्राहकों के आदेशानुसार उनकी बीमा पॉलिसी के प्रीमियम, मकान का किराया, ब्याज व अन्य बिलों का भुगतान करता है।

6. ट्रस्टी व एक्जीक्युटर कार्य–बैंक अपने ग्राहकों के आदेश पर उनकी सम्पत्ति की व्यवस्था, प्रबन्ध आदि का दायित्व उठाते हैं। ग्राहकों के वसीयतनामों को सुरक्षित रखते है और उन्हें मृत्योपरान्त कार्यान्वित करते हैं।

(iv) विविध सेवाएँ–उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त बैंक निम्न कार्य भी सम्पन्न करते हैं–

1. लाकर्स सुविधा
2. यात्री चेक जारी करना।
3. साख सम्बन्धी सूचना।
4. आर्थिक आँकड़ों का संकलन।
5. ऋणपत्रों का अभिगोपन।

6. विनिमय बिल स्वीकार करना।
7. वित्तीय परामर्श।
8. महँगी वस्तुओं के क्रय हेतु ऋण।

(v) साख का निर्माण (Creation of Credit)-बैंक अपने उपलब्ध साधनों से अधिक मात्रा में ऋण प्रदान करके साख का निर्माण करते हैं। अन्य किसी वित्तीय मध्यस्थ के पास साख सृजन करने की शक्ति नहीं होता है। वास्तव में आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था का विकास बहुत कुछ बैंकों की साख निर्माण की शक्ति द्वारा ही संभव हुआ है।

उपरोक्त अध्ययन से स्प्ष्ट है कि बैंक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वास्तव में, आर्थिक शरीर में बैंक रुधिर वाहिनियों की भांति कार्य करते है और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को स्वस्थ एवं सबल बनाने में अधिकाधिक प्रयत्नशील रहते हैं। आधुनिक युग में बिना एक सुसंगठित बैंकिंग प्रणाली के किसी भी देश का आर्थिक विकास संभव नहीं हो सकता।

4.4 भारत में व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण
(Classification of Commercial Banks In India)

भारत में व्यापारिक बैंक को दो भागों में बाँटा जाता है–

(A) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks)-जिन बैंकों के नाम रिजर्व बैंक की द्वितीय अनुसूची (Second Schedule) में शामिल रहते हैं, वे अनुसूचित बैंक कहलाते हैं। इसके लिए निम्न बातों को पूरा करना आवश्यक है–

(I) इनकी प्रदत्त पूँजी (paid-up capital) और संचित कोष (reserve fund) मिलाकर 5 लाख रुपये से कम नहीं होने चाहिए।

(II) इन बैंकों को अपनी कुल जमा का कम से कम 3 प्रतिशत नकद कोष के रूप में रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है। रिजर्व बैंक इसे 15 प्रतिशत तक बढ़ा सकता है।

(III) रिजर्व बैंक को इस बात से सन्तुष्ट होना चाहिए कि सम्बन्धित बैंक के क्रियाकलाप जमाकर्ताओं के हितों के विरुद्ध नहीं है तथा वह सरकारी की बैंकिंग नीति के विरुद्ध कार्य नहीं कर रहा है।

(B) गैर–अनुसूचित बैंक (Non-scheduled Banks)-इस प्रकार की बैंकें जिनको रिजर्व बैंक ने अपनी द्वितीय अनुसूची में शामिल नहीं किया है, गैर–अनुसूचित बैंक कहलाते है। इन बैंकों की प्रदत्त पूँजी तथा रिजर्व साधारणतः 5 लाख रूपये से कम होता है। बैंकिंग विधान के अनुसार गैर–अनुसूचित बैंकों पर रिजर्व बैंक अनेक प्रकार के नियन्त्रण रखता है। बैंकिंग व्यवसाय करने के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करना होता है तथा रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना कोई बैंक नयी शाखा नहीं खोल सकता है। ये बैंकें रिजर्व बैंक द्वारा प्राप्त निम्नलिखित सेवाओं से वंचित रहती हैं– (I) धन स्थानान्तरण सम्बन्धी सुविधाएं, (II) समाशोधन गृह (Clearing Houses) की सुविधा। (III) बिलों की पुर्नकटौती। (IV) रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष ऋण लेना।

4.5 व्यापारिक बैंकों के संगठन
(Organisation of Commercial Banks)

संगठन के दृष्टिकोण से व्यापारिक बैंकों को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) शाखा बैंकिंग, (2) इकाई बैंकिंग।

(I) शाखा बैंकिंग (Branch Banking)-शाखा बैंकिंग प्रणाली में बड़े–बड़े बैंक होते हैं जो पूरे राष्ट्र में अपनी शाखाओं का प्रसार करते हैं। इस प्रकार अधिक से अधिक क्षेत्र में तथा अधिक से अधिक व्यक्तियों को बैंकिंग सुविधाएँ उपलब्ध कराते हैं। इस प्रणाली का आरम्भ इंग्लैंड में हुआ। उसके बाद यह प्रणाली कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका व भारत में भी अपनाई गई। भारत में स्टेट बैंक और इसके सहायक बैंकों की सबसे अधिक शाखाएँ हैं और राष्ट्रीयकृत बैंकों की भी अनेक शाखाएं कार्य कर रही हैं।

शाखा बैंकिंग के गुण–इसके प्रमुख गुण अग्रलिखित हैं–

1. बैंकों का आकार बड़ा होने के कारण उनका प्रबन्ध तथा कार्यविधि मितव्ययी होती है। शाखाओं के द्वारा बैंक समाज की अच्छी सेवा कर सकते हैं। बैंक का आकार और कार्य अधिक विस्तृत होने के कारण विशेषज्ञों की सेवा भी सरलता से प्राप्त की जा सकती है। छोटा बैंक इन विशिष्ट सेवाओं का भार आसानी से वहन नहीं कर सकता।

2. इस प्रणाली में किसी बैंक को कम नकद कोष रखना होता है क्योंकि किसी भी शाखा में नकदी की कमी दूसरी शाखाओं से धन भेजकर पूरी की जा सकती है। इस प्रकार इस प्रणाली में नकद कोष की आवश्यकता अपेक्षाकृत कम होती है। इसे एक ओर तो बैंकों को लाभ होता है क्योंकि वह अधिक धन अग्रिम, ऋण और निवेश में लगा सकता है, दूसरे बैंक से अधिक साख उपलब्ध होने से समाज को भी लाभ होता है।

3. एक शाखा में एक ही क्षेत्र के ग्राहक होते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति भी एक सी होती है। बैंक के ग्राहकों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन का प्रभाव बैंक की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है। परन्तु शाखा बैंकिंग में बैंक की शाखाएं विभिन्न क्षेत्रों में होने के कारण ग्राहकों की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है। परन्तु शाखा बैंकिंग में बैंक की शाखाएं विभिन्न क्षेत्रों में होने कारण ग्राहकों की आर्थिक दशा में भी भिन्नता होती है और सबकी आर्थिक स्थिति में एक साथ परिवर्तन होने की संभावना कम होती है। अतः बैंक की एक शाखा में जोखिम में वृद्धि का प्रभाव पूरे बैंक पर अधिक नहीं होता।

4. शाखा बैंकिंग के कारण मुद्रा बाजार में ब्याज की दरों में समानता स्थापित हो जाती है। यदि किसी समय राष्ट्र के किसी भाग में मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और उसके फलस्वरूप वहाँ पर ब्याज की दर बढ़ जाती है तो शाखा बैंकिंग व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक अपनी अन्य शाखाओं से उस शाखा को अतिरिक्त मुद्रा स्थानान्तरित कर सकता है, जहाँ पर मुद्रा की माँग अधिक होती है। इस प्रकार वहाँ पर ब्याज की दर को बढ़ने से रोका जा सकता है।

5. बैंक के अग्रिम और निवेश उन क्षेत्रों में होते हैं तथा उन लोगों को प्राप्त होते हैं जो सबसे अधिक ब्याज दे सकते हैं। इससे बैंक को आय अधिक प्राप्त होती है और साख का सबसे अधिक उपयुक्त और उत्पादक उपयोग संभव होता है।

6. शाखा बैंकिंग प्रणाली में धन का हस्तान्तरण आसान होता है। बैंक की एक शाखा दूसरी शाखा को निर्देश देती है कि धन का भुगतान अमुक व्यक्ति को कर दिया जाए और यह निर्देश प्राप्त हो जाने पर व्यवहार पूरा हो जाता है।

7. इस प्रणाली में कर्मचारियों की संख्या अधिक होती है जिससे इनके प्रशिक्षण की सुविधा का प्रबन्ध भी आसानी से किया जा सकता है। इससे बैंक को प्रशिक्षित और कुशल कर्मचारी मिल जाते हैं तथा बैंक की कार्यकुशलता बढ़ती है।

8. किसी शाखा में यदि जमाकर्ता अधिक धन निकालने लगते हैं तो इस शाखा को दूसरी शाखाओं से धन प्राप्त हो जाता है और ग्राहकों की मांग आसानी से पूरी हो जाती है। इससे बैंक फेल नहीं होने पाते। इकाई बैंकिंग प्रणाली में यह भी एक दोष है कि यदि जमाकर्ताओं में किसी भी कारण बैंक के प्रति विश्वास में कमी हो जाती है तो बैंक असफल हो जाता है।

शाखा प्रणाली के दोष–इसमें सन्देह नहीं कि शाखा बैंकिंग प्रणाली आधुनिक विकास और बड़े पैमाने के उत्पादन के अनुकूल है पर इसमें वे सभी दोष भी पाए जाते हैं जो बड़े पैमाने के उत्पादन में मिलते हैं–

1. बैंकों का आधार विशाल और उनका कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है जिससे उनका प्रबन्ध तथा निरीक्षण अधिक कठिन हो जाता है।

2. बैंकिंग व्यवसाय से कुछ बैंकों का सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था के महत्वपूर्ण भाग पर नियन्त्रण हो जाता है। इसका कारण यह है कि बैंक की सभी शाखाओं का नियन्त्रण मुख्य कार्यालय में ही केन्द्रित रहता है और कुछ ही अधिकारी बैंक की समूची कार्यविधि पर छाये रहते हैं। इस प्रकार देश में आर्थिक एकाधिकार उत्पन्न हो जाता है जो देश के विकास में बाधक सिद्ध होता है।

3. प्रत्येक बैंक की सभी क्षेत्रों में शाखाएं होने से सभी बैंक आपस में स्पर्धा करते हैं। प्रतियोगी बैंकों की शाखाएँ ग्राहकों को अपनी–अपनी ओर आकर्षित करने के लिए कई प्रकार के प्रलोभन तथा सुविधाएँ देती है जिससे बैंकिंग व्यय में वृद्धि होती है और अन्ततः बैंकों को हानि होने लगती है।

4. इस प्रणाली में बैंकों को बहुत सा ऐसा व्यय भी करना पड़ता है जो दूसरी प्रणाली में नहीं होता। बैंक की शाखा खोलने का व्यय तथा एक ही क्षेत्र में अनेक बैंकों की शाखाओं का कुल प्रबंध व्यय बहुत अधिक होता है। इसके अतिरिक्त शाखाओं के बीच समन्वय उनके निरीक्षण तथा नियन्त्रण पर भी व्यय बहुत अधिक हो जाता है।

5. इस प्रणाली में अविकसित क्षेत्रों की जमा का निवेश विशाल नगरों एवं उद्योगों में लगता है। इसका कारण यह है कि विकसित क्षेत्रों में साख की मांग करने वाले उपयुक्त ग्राहकों की संख्या सीमित होती है तथा इसके साथ ही विकासशील क्षेत्रों में साख की माँग अधिक होती है जो स्थानीय शाखा के साधनों से पूरी नहीं हो पाती।

6. विदेशों में शाखाएँ स्थापित करने से अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि विदेशों में बैंकिंग कानून, व्यापारिक परिस्थितियाँ व मौद्रिक नीतियाँ अलग–अलग होती हैं। विदेशों में इन शाखाओं के राष्ट्रीयकरण का भय सदैव बना रहता है।

7. शाखा बैंकिंग प्रणाली में साख नीति का निर्धारण केन्द्रीय कार्यालय से होता है। यह केन्द्रीय कार्यालय विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं और समस्याओं तथा जमाकर्ताओं की पसन्दगी और उनकी समस्याओं से परिचित नहीं होता। इस प्रकार बैंकों की साख नीति में क्षेत्रीय अन्तरों और समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया जाता।

(II) इकाई बैंकिंग (Unit Banking)-यह प्रणाली अत्यन्त सरल है। इस प्रणाली में एक बैंक का एक ही कार्यालय होता है जहां वह बैंकिंग सम्बन्धी कार्य करता है, अर्थात् बैंक की शाखाएँ नहीं होती। कभी–कभी बैंक का कार्य क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्र में बैंकों की संख्या बहुत अधिक होती है। यह प्रणाली इस सिद्धान्त पर आधारित है कि व्यापरिक बैंक का प्रारम्भ स्थानीय लोगों द्वारा किया जाना चाहिए तथा उसका स्वामित्व और संगठन भी स्थानीय लोगों के हाथ में होना चाहिए। यह स्थानीय लोग समाज के लिए साख की आवश्यकता को भली भांति समझते हैं, इसलिए ऐसा अनुमान किया जाता है कि बैंक साख का प्रयोग समाज के अधिकतम हित में होगा। इस प्रणाली का चलन मुख्यतः अमेरिका में है जहां छोटे–छोटे स्वतन्त्र और व्यक्तिगत बैंकों की संख्या बहुत अधिक है। इन बैंकों का स्वामित्व स्थानीय व्यक्तियों के हाथ में होता है। इन बैंकों का कार्यक्षेत्र सीमित है जिससे एकाधिकारी प्रवृत्तियां नहीं पनपने पाती। केण्ट के शब्दों में, "इकाई बैंकिंग प्रणाली में प्रत्येक स्थानीय बैंकिंग संस्था एक पृथक निगम होती है जिसका पृथक पंजीकरण होता है और जिसकी स्वयं की अपनी पूंजी, संचालक–मण्डल तथा स्कन्धधारी होते हैं।" इस प्रकार इस प्रणाली में बैंक के कार्य का स्थानीय आर्थिक व सामाजिक संगठन के समीप एकीकरण होता है। प्रत्येक स्थानीय बैंक एक अलग संस्था के रूप में अपने क्षेत्र में व्यापारियों, उद्योगपतियों तथा कृषकों से सम्बन्धित है।

इकाई बैंकिंग के गुण–इकाई बैंकिंग प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं–

1. इस प्रणाली में स्थानीय बैंकिंग आवश्यकताओं का विशेष ध्यान रखा जाता है तथा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार बैंक के नियम बनाये जाते हैं। इन बैंकों का संचालन और प्रबन्ध स्थानीय लोगों के हाथ में होता है जिनका संपर्क स्थानीय उद्योगपतियों, कृषकों, उपभोक्ताओं एवं उत्पादकों से रहता है जो न केवल उनकी आवश्यकताओं को समझते हैं बल्कि उनकी साख के बारे में भी जानकारी रखते हैं।

2. इस प्रणाली में बैंकों का आकार छोटा होता है और उनकी संख्या अधिक। हर बैंक का प्रबंध अलग होता है, अतः बैंकिंग व्यवसाय में एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ नहीं पाई जाती हैं। बैंकों का कार्य क्षेत्र और साधन सीमित होने के कारण हर बैंक अपने क्षेत्र के उद्योगों और व्यवसायों को वित्त प्रदान करता है। अतः व्यवसाय ओर उत्पादन में भी एकाधिकारी प्रवत्तियों पर नियन्त्रण होता है।

3. प्रत्येक बैंक का आकार छोटा होने से बैंकों का प्रबन्ध आसान होता है और विभिन्न शाखाओं के बीच समन्वय की समस्या नहीं होती।

4. शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत दुर्बल तथा हानिप्रद शाखाएं सुदृढ़ तथा लाभदायक शाखाओं के बल पर जीवित बनी रहती हैं परन्तु इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत ऐसा नहीं हो सकता। यदि कोई बैंक आर्थिक दृष्टि से दुर्बल तथा अकुशल है तो थोड़े समय के पश्चात् वह स्वतः ही समाप्त हो जायेगा।

5. इकाई बैंकिंग प्रणाली में जमाकर्ताओं और साख लेने वालों दोनों को ही सुविधा होती है क्योंकि दोनों का कार्य आसानी से और शीघ्र हो जाता है।

6. यह बैंकिंग प्रणाली स्वतन्त्र व्यवसाय सिद्धान्त का समर्थन करती है।

7. इकाई बैंकिंग प्रणाली का एक गुण यह भी है कि इसके अन्तर्गत बैंकिंग कार्य में किसी प्रकार का विलम्ब नहीं होता, क्योंकि बैंक को अपने दिन प्रतिदिन के कार्य में मुख्य कार्यालय से आदेश प्राप्त नहीं करने पड़ते। बैंक के स्थानीय अधिकारी विभिन्न समस्याओं पर स्वयं ही निर्णय ने सकने में समर्थ होते हैं।

इकाई बैंकिंग प्रणाली के दोष

इस प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं–

1. यदि कोई बैंक ऐसे क्षेत्र में स्थित है जहां केवल कृषि होती है तो उस बैंक के साधनों और ऋणों में मौसमी परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार उस क्षेत्र में भी जहां कृषि पर आधारित उद्योग पाए जाते हैं। बैंक के साधनों और ऋणों में मौसमी परिवर्तन देखे जाते हैं।

2. अनेक पिछड़े क्षेत्रों में जहां लोग समुचित साधन नहीं जुटा पाते, बैंक स्थापित नहीं हो पाते और उन क्षेत्रों का विकास नहीं हो पाता। इस कारण क्षेत्रीय विषमता भी बढ़ सकती है।

3. बैंकों की संख्या अधिक होने के कारण निरीक्षण तथा नियन्त्रण अधिक कठिन हो जाता है।

4. बैंक की कार्यप्रणाली पर स्थानीय आर्थिक परिवर्तनों (आर्थिक संकुचन या आर्थिक प्रसार) का प्रभाव पड़ता है। कभी–कभी यह प्रभाव इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि बैंक को अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है तथा उसके असफल होने की संभावना हो जाती है।

5. प्रत्येक बैंक के पास सीमित साधन होते है। यदि किसी क्षेत्र के विकास के लिए अधिक साधनों की आवश्यकता हो तो वह बैंक नहीं दे पाता। अतः कभी–कभी साधनों के अभाव से कुछ क्षेत्रों का विकास रुक जाता है।

6. इकाई बैंक की अन्य स्थानों प्र शाखाएं न होने के कारण पूंजी के स्थानान्तरण हेतु प्रतिनिधि बैंकों की आवश्यकता पड़ती है जो अपना कमीशन लेते हैं। इससे पूँजी का स्थानान्तरण अधिक खर्चीला तथा असुविधाजनक हो जाता है।

7. इस प्रणाली के अन्तर्गत पूंजी का हस्तान्तरण असुविधाजनक होता है, इसलिए मांग अधिक होने पर आवश्यकतानुसार पूंजी का हस्तान्तरण एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को नहीं हो पाता। अतः विभिन्न क्षेत्रों की ब्याज दरों में असमानता बनी रहती है।

दोनों में कौन–सी प्रणाली श्रेष्ठ है? दोनों प्रणालियों के उपर्युक्त गुण–दोषों के विवेचन से स्पष्ट है कि शाखा बैंकिंग, इकाई बैंकिंग से श्रेष्ठ है, क्योंकि व्यापार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को शाखा बैंकिंग द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। इन बैंकों का आकार व्यापक होता है, इनके साधन अधिक होते हैं। ये बैंक अधिक कार्यकुशल होते हैं तथा वे सस्ती एवं पर्याप्त बैंकिंग सुविधायें प्रदान कर सकते हैं, शाखा विस्तार सरल होता है, पूंजी की गतिशीलता में वृद्धि होती है तथा पूंजीगत साधनों का उपयोग पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिये किया जा सकता है। प्रो. टॉमस ने शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग प्रणाली की तुलना करते हुए लिखा है कि, "यद्यपि दोनों प्रणालियाँ अपूर्ण हैं परन्तु दोनों की कार्यपद्धति को देखने से यह स्पष्ट होता है कि शाखा बैंकिंग प्रणाली अधिक श्रेष्ठ है।"

4.6 साख निर्माण की प्रक्रिया (Process of Credit Creation)

अर्थशास्त्र में साख का आशय केवल देनदारी या शोधन क्षमता के विश्वास से होता है। वर्तमान में मुद्रा या मूल्यवान वस्तुएँ तथा सेवाएँ भविष्य में भुगतान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर प्राप्त करना ही साख है। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में, केवल व्यावसायिक लेन–देन तथा बैंकों से ऋण आदि की क्रियाओं को ही साख के सौदों में शामिल किया जाता है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने 'साख' की निम्नांकित परिभाषाएं दी हैं–

विंग फील्ड स्ट्रेटफोर्ड के अनुसार, "साख विश्वास से अधिक या कम कुछ भी नहीं है अर्थात् विश्वास का दूसरा नाम ही साख है।" इस परिभाषा से स्प्ष्ट है कि विश्वास के बिना साख का कोई अस्तित्व नहीं है।

प्रो. जैक्स के अनुसार, "साख शब्द का अर्थ भुगतान को स्थगित करना है।"

प्रो. जैक्स के अनुसार, "साख एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय पश्चात् भुगतान करने प्र पूरा हो जाता है।"

साख देने या प्राप्त करने का आधार क्या है? अधिकतर अर्थशास्त्री साख का सबसे बड़ा आधार विश्वास मानते हैं। चैण्डलर के अनुसार, "किसी व्यक्ति, व्यावसायिक फर्म या सरकार की साख प्राप्त करने की क्षमता समभाव्य ऋणदाताओं के इस विश्वास पर निर्भर करती है कि ऋणी ऋण का भुगतान करने के लिए साम्य तथा तत्पर दोनों ही रहेगा। प्रो. चैण्डलर ने साख के तीन आधार निश्चित किये हैं– साख प्राप्त करने वाले का व्यक्तिगत चरित्र, उसकी ऋण चुकाने की शक्ति तथा उसके अधिकार में पूंजी की मात्रा। कुछ अर्थशास्त्री ऋणी का आय, ऋण की सुरक्षा या जमानत, समयावधि, ऋण की राशि तथा ऋण के उद्देश्य को भी महत्वपूर्ण आधार मानते हैं। स्पष्ट है कि ये आधार विश्वास को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार साख का प्रमुख आधार विश्वास ही है।

बैंकों द्वारा साख–निर्माण
(Credit Creation by Bank)

वर्तमान अर्थव्यवस्था में साख निर्माण बैंकों का महत्वपूर्ण कार्य है परन्तु विभिन्न अर्थशास्त्रियों में इस बात को लेकर मतभेद है। प्रो. वाल्टरलीफ तथा प्रो. कैनन जैसे कुछ अर्थशास्त्री यह कहते है। इसके विपरीत कीन्स, विदर्स और सेयर्स आदि अनेक अर्थशास्त्रियों का मानना है कि बैंक ही साख निर्माण का कार्य करते हैं। सेयर्स के अनुसार "बैंक केवल मुद्रा जुटाने वाली संस्थाएँ नहीं हैं, अपितु एक महत्वपूर्ण अर्थ में वे मुद्रा की निर्माता भी हैं।" इसी प्रकार इनके समर्थक विवर्स ने कहा है कि, "ऋण जमा को उत्पन्न करते हैं तथा इनके निर्माण का क्षेत्र बैंक है।" प्रो. कीन्स एवं सी. ए. फिलिप्स ने जमा दो प्रकार के बताये हैं, प्रारम्भिक जमा तथा व्युत्पन्न जमा। प्रारम्भिक जमा वह जमा है जिसे जमाकर्ता बैंक में नकद रूप में जमा करते हैं। यदि बैंक किसी को ऋण देने के उद्देश्य से किसी व्यक्ति के खाते में रकम जमा करता है तो इसे व्युत्पन्न निक्षेप कहते हैं। प्रो. हॉम का कथन है कि, "व्युत्पन्न जमा या निक्षेप का निर्माण ही साख का निर्माण है।"

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि बैंक जितना अधिक ऋण देता है उतना ही अधिक साख–जमा उत्पन्न होती है तथा ऋण का निर्माण होता है। इसलिए कहा जाता है कि जमा राशियाँ साख को जन्म देती हैं और साख जमाराशियों को जन्म देती हैं।

साख निर्माण की विधियां

साख निर्माण की प्रमुख विधियां निम्न प्रकार हैं–

(I) नोट निर्गमन द्वारा–वर्तमान अर्थव्यवस्था में विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों में नोट निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त है। अतः नोट निर्गमन द्वारा साख निर्माण का कार्य केवल केन्द्रीय बैंक ही करता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित पत्रमुद्रा के पीछे शत–प्रतिशत धात्विक कोष न रखा जाकर केवल कुछ भाग के पीछे ही धातु कोष रखा जाता है एवं शेष भाग का निर्गमन प्रतिभूतियों या बैंक साख के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार निर्गत पत्रमुद्रा का वह भाग जिसके पीछे धातु कोष नहीं होता है, बैंक द्वारा निर्मित की गई साख ही होती है। इस प्रकार नोट निर्गमन द्वारा साख का निर्माण या सृजन होता है।

(II) निक्षेपों द्वारा साख निर्माण– प्रो. हॉम के अनुसार निक्षेप दो प्रकार के होते हैं–

1. प्रारम्भिक या निष्क्रिय जमा राशियाँ (Primary or Passive Deposits)-बैंक उस समय निष्क्रिय जमाराशियों का सृजन करता है जब कोई ग्राहक बैंक में जमा खाता खोलकर उसमें नकदी या चेक जमा कर देता है। इस स्थिति में बैंक की भूमिका विशुद्धतया निष्क्रिय ही होती है। बैंक ने ग्राहक द्वारा लायी गयी नकदी एवं चैकों को उसके खाते में ही जमा कर दिया है। इस प्रकार की जमाराशियों के आधार पर आगे चलकर बैंक अन्य ग्राहकों को ऋण देता है। इन प्राथमिक या निष्क्रिय राशियों से मुद्रा का वास्तविक सृजन नहीं होता। इन जमा राशियों का जो प्रतिशत बैंक द्वारा नकदी के रूप में अपने पास रखा जाता है, उसको नकदी आरक्षण अनुपात (Cash Reserve Ratio) कहा जाता है।

2. व्युत्पन्न या सक्रिय जमा राशियाँ (Nerivative or Active Deposits)-इस प्रकार की जमाराशियाँ बैंक द्वारा अधिक सक्रिय ढंग से सृजित की जाती हैं। इनका सृजन उस समय होता है जब कोई ग्राहक बैंक से ऋण प्राप्त करता है। तब बैंक उसके नाम खाता खोलकर ऋण–राशि उसमें जमा कर देता है। चूंकि इस प्रकार की जमाराशियों के सृजन में बैंक अधिक सक्रिय भूमिका निभाता है, इसीलिए इन्हें सक्रिय जमा राशियों की संज्ञा दी जाती है। इन्हें व्युत्पन्न जमा इसलिए कहते हैं क्योंकि यह प्रारम्भिक जमा का परिणाम होती हैं। नकद जमा ही वह आधार है जिसके द्वारा साख जमा का अधिकार निर्धारित होता है। बैंकों द्वारा साख जमा या व्युत्पन्न जमा का निर्माण करने से मांग जमा का आकार बढ़ जाता है और अर्थव्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है। इस प्रकार व्युत्पन्न जमा का निर्माण ही साख–मुद्रा का निर्माण है।" हार्टले विदर्स का यह कथन सही है कि "ऋण जमा का निर्माण करते हैं।"

साख निर्माण की प्रक्रिया–साख निर्माण की प्रक्रिया को एक उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है–मान लिया कि किसी ग्राहक बैंक में 10,000 रुप्ये जमा किये। बैंक यह जानता है कि किसी एक समय में उसका जमाकर्ता 10 प्रतिशत से अधिक राशि नहीं निकालेगा। अतः 10,000 रुपये नकद कोष में रखकर 9,000 रुप्ये का ऋण स्वीकृत कर दिया जायेगा तथा बैंक में ऋणी का खाता खोलकर 9,000 रु. जमा कर दिया जायेगा। अब बैंक द्वारा 9,000 रुपये को 10 प्रतिशत नकद कोष में रखकर शेष 8,010 रुपये पुनः किसी को ऋण दे दिया जायेगा।

इस प्रकार, यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक अन्तिम जमा राशि नगण्य न रह जाये। इस प्रक्रिया के अधीन कुल जमाराशि निम्न प्रकार ज्ञात की जा सकती है–

जमाराशि = प्रारम्भिक जमाराशि

$$= 10{,}000\left(\frac{1}{10\%}\right) = 10{,}000\left(\frac{100}{10}\right)$$

$$= 10{,}000(10)$$

= 1,00,000 रुपये।

इस प्रकार बैंक 10,000 रुपये की प्रारम्भिक जमाराशि से कुल 1,00,000 रुपये की जमाराशि प्राप्त कर लेगा।

साख गुणक– साख गुणक से आशय मूल जमाराशि तथा व्युत्पन्न जमा राशियों की कुछ मात्रा के बीच पाये जाने वाले अनुपात से है। इसे निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

उपर्युक्त उदाहरण में,

$$\text{साख गुणक} = \frac{1{,}00{,}000}{10{,}000} = 10$$

साख गुणक को इस प्रकार भी ज्ञात किया जा सकता है–

उपर्युक्त उदाहरण में साख गुणक $= \frac{1}{10}\%$

$$= \frac{1}{\left(\frac{10}{100}\right)} = \frac{100}{10} = 10$$

बैंकों की साख निर्माण क्षमता साख गुणक पर निर्भर करती है। साख गुणक जितना अधिक होगा, बैंकों की साख निर्माण क्षमता उतनी ही अधिक होगी। उदाहरण के लिए, यदि साख गुणक 10 है तो साख निर्माण 10 गुना होगा, यदि साख गुणक 15 है तो साख निर्माण 15 गुना होगा। साख गुणक नकद कोष अनुपात (CRR) पर निर्भर करता है। नकद कोष अनुपात (Cash Reserve Ratio) जितना कम होगा, साख गुणक उतना ही अधिक होगा।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण–माना कि एक बैंक के पास नकदी में केवल 10,000 रुपये हैं और उसके A, B, C, D, E पाँच ग्राहक हैं, जिनमें से प्रत्येक को वह 8-8 हजार रुपये का ऋण देती है। बैंक की ऋण देने की नीति यह होती है कि प्रत्येक ऋण लेने वाले का खाता खोल दिया जाता है जिनमें ऋण दी गयी राशि जमा दिखायी जाती है। यही साख निक्षेप है जिसमें वह साधारण जमाधरी की भाँति धन निकाल सकता है या जमा कर सकता है। इन पाँचों ग्राहकों का आपस में लेन–देन है। माना कि A 5,000 रुपये का चैक लिखता है और बैंक को यह आदेश देता है कि यह राशि B को चुका दे। बैंक इतनी राशि A कि खाते से निकाल कर B के खाते में जमा कर देगी। इतनी ही राशि का चैक C के लिए लिख सकता है। C फिर D के लिए आगे D चलकर E के लिए। अन्त में E राशि का चैक A के लिए लिख सकता है। प्रत्येक बार जब चैक बैंक को भेजा जाता है। इस प्रकार यद्यपि दिखने के लिए

पाँच बार पाँच–पाँच हजार रुपये का भुगतान करके बैंक ने 25,000 रुपये की राशि का साख निर्माण हुआ।

बैंक प्रत्येक ऋण लेने वाले को निक्षेपधारी समझता है। इस प्रकार बैंक अधिक ऋण देती है उतनी अधिक मात्रा में उसे जमा प्राप्त हो जाती है। यही कारण है कि बहुधा कहा जाता है कि "बैंक के ऋण उसके निक्षेपों को उत्पन्न करते हैं।" बैंक के निक्षेप दो प्रकार के होते हैं– (I) वे जो निक्षेपधारियों ने रुपया जमा करके उत्पन्न किए हैं, अर्थात् साख, निक्षेप, और (II) वे जो ऋण लेने वालों ने ऋण लेकर उत्पन्न किए हैं, अर्थात् साख निक्षेप बैंक साख का निर्माण अधिविकर्ष सुविधाएँ देकर, प्रतिभूतियाँ खरीदकर अथवा उन्हें भुनाकर भी करती है।

क्या बैंक वास्तव में साख का निर्माण करते हैं? (Do Banks really create Credit)-इस प्रश्न पर विवाद रहा है कि क्या बैंक साख का निर्माण करते हैं? एक ओर हार्टले विदर्स का कहना है कि "ऋण जमा को जन्म देते हैं और इनके सृजन का श्रेय बैंक को है।" यह ठीक है कि ऋणी और ऋणदाता अपनी रकम को बैंक से निकालने अथवा उसे अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं लेकिन व्यवहार में अधिकांश भुगतान चैकों द्वारा किये जाते हैं जो या तो उसी बैंक में जमा हो जाते हैं अथवा किन्हीं अन्य बैंकों में जमा होकर नये निक्षेप उत्पन्न करते हैं और ये निक्षेप पुनः साख का निर्माण करते हैं। बैंक की क्रियाओं में ऐसे निक्षेपों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान हो गया है। दूसरी ओर डा. वाल्टर लीफ तथा प्रो. केनन के विचार है कि साख का निर्माण बैंक द्वारा नहीं वरन् निक्षेपधारियों द्वारा किया जाता है।

साख निर्माण की सीमाएँ

वाणिज्य बैंकों की जमा अथवा साख निर्माण की शक्ति असीमित नहीं है। वैसे तो देश का केन्द्रीय बैंक उनकी साख निर्माण की शक्ति पर नियन्त्रण रखते हैं, परन्तु व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण कोई भी बैंक पूर्णतया स्वतन्त्र रहने पर भी असीमित मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर पता। साख निर्माण की अपनी सीमाएँ हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. बैंकों द्वारा साख निर्माण की शक्ति इस बात में प्रभावित होती है कि जनता में अपने पास नकदी रखने की प्रवृत्ति कैसी है। यह साख मुद्रा पर ही आधारित होती है। मुद्रा की मात्रा अधिक होने पर बैंकों की जमाराशियाँ बढ़ती हैं जिनके आधार पर अधिक साख का निर्माण सम्भव होता है।

2. बैंक द्वारा साख निर्माण की शक्ति इस बात में प्रभावित होती है कि जनता में अपने पास नकदी रखने की प्रवृत्ति कैसी है? यदि जनता में अपने पास नकदी रखने की प्रवृत्ति अधिक है तो बैंक के पास नकद जमा कम रहेंगे और साख का निर्माण कम होगा। इसके विपरीत यदि जनता में बैंकिंग प्रवृत्ति अधिक है तो बैंकों के पास नकद जमा अधिक आयेगी और साख का निर्माण अधिक होगा।

3. कुल जमाराशियों का न्यूनतम अनुपात जो बैंकों द्वारा नकद कोष के रूप में रखा जाता है, बैंक की साख निर्माण की शक्ति को प्रभावित करता है। कुछ देशों में इस प्रकार का अनुपात केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। कुल जमा के अनुपात में नकद कोषों की मात्रा कम रहने पर बैंक अधिक साख का निर्माण कर सकते हैं।

4. बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास अपने कुल निक्षेपों का एक भाग रक्षित कोष में रखना पड़ता है। यह कोष का भाग जितना अधिक होता है, बैंकों की साख निर्माण करने की क्षमता उतनी ही सीमित होती जाती है।

5. केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व साख की मात्रा को नियन्त्रित करना है। अतः बैंक की साख नीति भी इस बात को प्रभावित करती है कि बैंक अपनी साख सृजन क्षमता का कहाँ तक प्रयोग कर सकते हैं।

6. बैंकों की साख–निर्माण की सीमा इस बात से भी प्रभावित होती है कि बैंक से ऋण प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति ऋण के लिए कितनी अधिक अच्छी प्रतिभूति प्रदान करने की स्थिति में हैं। वे जितनी अधिक अच्छी प्रतिभूति प्रदान कर सकते हैं बैंक साख का सृजन उतना ही अधिक कर सकते हैं।

7. मन्दी काल में व्यापारियों व उद्योगपतियों की ऋणों की माँग कम हेाने पर बैंक अधिक साख का निर्माण नहीं कर पाते हैं परन्तु तेजी काल में ऋणों की माँग अधिक होती है तथा बैंक अधिक साख का निर्माण करते हैं।

4.7 भारत में व्यापारिक बैंकों की प्रगति
Progress of Commercial Bank In India

भारत में व्यापारिक बैंकों की प्रगति का सबसे महत्वपूर्ण कदम 9 अगस्त 1969 को उठाया गया। जब पहली बार 14 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। इसी क्रम में दूसरी बार 15 अप्रैल 1980 को 6 निजी बैंकों का दूसरी बार राष्ट्रीयकरण किया गया। राष्ट्रीयकरण के बाद देश में व्यापरिक बैंकों ने अभूतपूर्व प्रगति की। जैसे–

1. राष्ट्रीयकरण के बाद से ही बैंक शाखाओं में तेजी से विस्तार हुआ। नई शाखाएं मुख्यतः अर्द्ध शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों में खोली गई। बैंक शाखाओं के इस विस्तार को निम्न तालिका से देखा जा सकता है।

व्यापारिक बैंकों की शाखाओं में विस्तार (कार्यालयों की संख्या)				
	1969	1999	2001	2005
(क) भारतीय स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंक	2462	13262	13459	13684
(ख) राष्ट्रीयकृत व्यापारिक बैंक	4553	32397	32552	33865
(ग) क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	------	14406	14433	14469
(घ) कुल सरकारी क्षेत्र के बैंक	7015	60065	60444	60245
(ङ) अन्य भारतीय अनुसूचित व्यापारिक बैंक	900	4902	5211	6181
(च) गैर अनुसूचित बैंक	217	08	65907	23

1969 में सभी प्रकार के व्यापारिक बैंक शाखाओं की संख्या केवल 8262 थी जो बढ़कर 1999 में 65153 एवं 2005 में 68500 हो गई। अर्थात 8 गुने भी अधिक बढ़ गई। इस अवधि में स्टेट बैंक राष्ट्रीयकृत बैंक एवं क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक सभी ने अपनी शाखाओं में तेजी से विस्तार किया।

(2) व्यापारिक बैंकों की जमाराशि में तेजी से वृद्धि हुई है। सन् 1950-51 में अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की कुल जमाराशि केवल 880 करोड़ रुपये थी। जो बढ़कर मार्च 1992 में 242067 करोड़ रुपये दिसम्बर 2004 में 1937761 करोड़ रुपये हो गई। स्प्ष्ट है कि इस अवधि में ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में जमाराशि प्राप्त हुई।

(3) स्वतंत्रता के बाद से भी व्यापारिक बैंकों के अग्रिमों एवं निवेशों ने काफी वृद्धि की है। यह वृद्धि राष्ट्रीयकरण के बाद और अधिक तेज हुई है। अनुसूचित व्यापारिक बैंकों ने वर्ष 1950-51 में कुल 5469 करोड़ के अग्रिम दिये थे जो बढ़कर मार्च 2004 तक 560819 करोड़ रुपये हो गये। इस अवधि में प्राथमिकता वाले क्षेत्र जैसे छोटे किसान, शिल्पकार, फुटकर विक्रेता आदि को रियायती ब्याज दरों प्र ऋण दिये गये और इस प्रकार के ऋणों के प्रतिशत में क्रमशः वृद्धि हुई है।

(4) राष्ट्रीयकरण से पूर्व व्यापारिक अपने अधिकांश ऋण बड़े–बड़े उद्योगपतियों एवं व्यवसायियों को ही दिये थे किन्तु अब व्यापारिक बैंक किसानों, लघु उद्योगों, फुटकर व्यापारियों, स्वनियोजित व्यक्तियों आदि को भी ऋण प्राप्त होने लगा है। मार्च 2004 तक व्यापारिक बैंकों ने 84435 करोड़ रुपये इनको ऋण दिये हैं। स्पष्ट है कि राष्ट्रीयकरण के बाद इन वर्गों को भी व्यापारिक बैंकों से लाभ मिला है।

(5) अब प्रायः सभी व्यापारिक बैंक युवाओं को अपना व्यवसाय स्वयं चलाने के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करती है। 1986 में भारत सरकार ने स्वनियोजन योजना प्रारंभ की है। तभी से व्यापारिक बैंकों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वर्ष 2003-04 में इस योजना के अंतर्गत 10 लाख से अधिक युवकों को कुल 4606 करोड़ रुपये के ऋण प्रदान किये हैं।

(6) बीमार उद्योगों को पुनः आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में भी व्यापारिक बैंकों ने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। इससे बैंकों के लाभदायकता में थोड़ी कमी आयी है। किन्तु इस सामाजिक दायित्व को भी बैंकों ने पूरा किया है।

(7) देश के विभिन्न भागों में बैंकिंग का विकास करना प्रमुख रहा है। इसके लिए रिजर्व बैंक ने 1969 में अग्रणी बैंक योजना लागू की है। इस योजना के अंतर्गत प्रत्येक जिले में एक व्यापारिक बैंक को अग्रणी बैंक बना दिया गया है और वह जिले स्तर पर ऋण वितरण में सहायता कर रहा है।

(8) व्यापारिक बैंकों ने अपने परम्परागत कार्यों के अलावा अनेक नये कार्य भी प्रारंभ किए हैं। जैसे मर्चेंट बैंकिंग म्यूचुअल फंड, पोर्टफोलियो प्रबंधन, उद्यमी पूंजी, क्रेडिट कार्ड, डेबिट कार्ड, एटीएम कार्ड, अढ़तिया सेवा इत्यादि।

2.8 सारांश

व्यापारिक बैंकों के उपरोक्त प्रगति के साथ–साथ आज के दौर में वित्तीय समावेशन को बढ़ावा देने के लिए व्यापारिक बैंकों ने स्टार्ट अप इंडिया, स्टैंड अप इंडिया जैसी प्रमुख योजनाओं के माध्यम से ग्रामीण एवं शहरी औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए युवाओं को नये उद्यमी बनने में सहायता कर रही है। 2017 के बाद से 2022 तक की अवधि में कुछ व्यापारिक बैंकों का दूसरे बैंकों में विलय किया गया जिससे सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की संख्या में कमी आई है। वहीं दूसरी ओर भुगतान बैंक और लघु बैंक जैसे नये बैंक की स्थापना से बैंकिंग क्षेत्र की प्रगति बढ़ी है। देश के व्यापारिक बैंकों के समस्त कार्यों में साख का महत्वपूर्ण स्थान है। आज का औद्योगिक एवं व्यावसायिक ढांचा पूर्ण रूप से साख पर आधारित है। इसी कारण साख को व्यापार का जीवन रक्त कहा जाता है। साख के द्वारा ही व्यापारिक बैंक मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करते हैं जिससे मूल्य और लाभ बढ़ने लगते हैं और व्यावसायिक तथा आर्थिक गतिविधियां बढ़ने लगती हैं। आजकल बैंक ड्राफ्ट की सहायता से हम बड़ी धनराशि अन्यत्र भेज सकते हैं। यह साख का ही जादू है कि बैंक थोड़े से नकद कोष के आधार पर बहुत बड़ी रकम उधार दे सकता है।

2.9 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- व्यापारिक बैंकों के कार्यों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2- बैंक साख निर्माण किस प्रकार करते हैं? उनकी सीमाओं का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3- "जमा राशियां साख को जन्म देती हैं और साख जमाराशियों को।" इस कथन को समझाइए।

प्रश्न 4- राष्ट्रीयकरण के बाद देश के व्यापारिक बैंकों ने अत्यधिक प्रगति किया है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

2.10 शब्दावली

संयुक्त स्कंद कोष	:	Joint Stock Fund
बैंक साख	:	Bank Credit
देशी बैंकर्स	:	Money Landers
चालू खाता	:	Current Account
स्थायी जमा खाता	:	Fixed Deposite Account
साधारण ऋण	:	Simple Loan

4.11 सन्दर्भ सूची

R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chapt : 1
A. K. Basu	:	Fundamentals of Banking Theory and Practice
G. Crowther	:	An Outline of Money, Chapt : 2
R. P. Kent	:	Money and Banking Chapt : 9
G. N. Halm	:	Economics of Money and Banking

इकाई– 04
केन्द्रीय बैंक अर्थ तथा कार्य
(Meaning and Functions of Central Bank)

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता
5.3 केन्द्रीय बैंक के कार्य
5.4 सारांश
5.5 बोध प्रश्न
5.6 शब्दावली
5.7 सन्दर्भ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत देश के केन्द्रीय बैंक और उसके कार्यों का विश्लेषण किया जा रहा है। जिसके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित है–

1. केन्द्रीय बैंक द्वारा किस प्रकार से देश के बैंकों का निर्देशन किया जाता है? इस बात की जानकारी प्राप्त करना।

2. देश के व्यापारिक बैंक एवं अन्य बैंक केन्द्रीय बैंक के ऊपर निर्भर होते हैं। इस बात का पता लगाना।

3. केन्द्रीय बैंक देश के सभी बैंकों के लिए पथप्रदर्शक का कार्य करता है। इस बात को समझना।

4. देश में मुद्रा निर्माता के रूप में एकाधिकार प्राप्त केन्द्रीय बैंक के बारे में जानकारी प्राप्त करना इत्यादि।

5.1 प्रस्तावना

ऐसा माना जाता है कि विश्व में सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंक 1668 में स्वीडन में स्थापित हुआ था परन्तु 1694 ई. में स्थापित होने वाला बैंक ऑफ इंग्लैण्ड 'केन्द्रीय बैंकों की जननी' कहा जाता है। अधिकांश केन्द्रीय बैंकों की स्थापना 20वीं शताब्दी में हुई। अमेरिका में फेडरल रिजर्व सिस्टम की स्थापना 1914 में हुई। जबकि भारत में केन्द्रीय बैंक–रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना 1935 में हुई। एक सुसंगठित बैंकिंग प्रणाली एवं सुव्यवस्थित मौद्रिक व्यवस्था के लिए किसी भी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के निर्बाध एवं सफल संचालन में उस राष्ट्र केन्द्रीय बैंक का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इसके अतिरिक्त मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीति के समुचित संचालन में मौद्रिक बैंक का महत्वपूर्ण स्थान है। केन्द्रीय बैंक की स्थापना को एक महान आविष्कार मानते हुए विकरोजर्स ने कहा है "मानवता के इतिहास में तीन महान आविष्कार हुये हैं– अग्नि, चक्र तथा केन्द्रीय बैंक।"

केन्द्रीय बैंक की विभिन्न कार्यों एवं महत्व को देखते हुए विभिन्न विचारकों ने केन्द्रीय बैंक की परिभाषा अपने–अपने ढंग से दी है–

केन्ट के शब्दों में, "केन्द्रीय बैंक को एक ऐसी संस्था के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसे सामान्य सार्वजनिक हित में मुद्रा की मात्रा का विस्तार तथा संकुचन करने का दायित्व सौंप गया हो।"

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक, उस बैंक को कहा जाता है जिसे देश की साख एवं चलन व्यवस्था के नियमन का दायित्व सौंप गया हो।" इस प्रकार श्री एल. सी. जैन ने लिखा है कि, "केन्द्रीय बैंक, उस बैंक को कहा जा सकता है जिसे देश की साख एवं चलन व्यवस्था के

नियमन का दायित्व सौंप गया हो।" इस प्रकार श्री एल. सी. जैन ने लिखा है कि, "केन्द्रीय बैंक अनुचित राजनीतिक प्रभावों तथा लाभों से मुक्त चलन और साख का नियमन करने वाली जनता की संस्था है।"

शॉ ने केन्द्रीय बैंक को साख पर नियन्त्रण रखने वाली संस्था हाट्रे ने उसे अन्तिम ऋणदाता के रूप में परिभाषित किया है। किश और एलकिन्स के शब्दों में, "केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जिसका आवश्यक कर्तव्य मुद्रामान की स्थिरता कायम रखना होता है।"

वीरा स्मिथ के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक की प्राथमिक परिभाषा, वह बैंकिंग है जिसमें किसी एक बैंक को नोट जारी करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है।"

5.2 केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता (Needs of Central Bank)

वर्तमान समय में अर्थव्यवस्था के प्रत्येक स्वरूप के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता एवं महत्व को स्वीकार किया गया है। संक्षेप में, केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता निम्न कारणों से महसूस की जाती है–

1. किसी भी राष्ट्र से मुद्रा एवं साख का विस्तार करने तथा इन पर नियन्त्रण का कार्य केन्द्रीय बैंक अधिक सुविधा से तथा बेहतर तरीके से कर सकता है। यदि इस बारे में हम कहें कि केन्द्रीय बैंक इस क्षेत्र में सर्वोत्कृष्ट सेवायें प्रदान करने में सक्षम है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। इस प्रकार मुद्रा एवं साख के विस्तार एवं इन पर नियन्त्रण पर नियन्त्रण करने के लिये केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता प्रतीत होती है।

2. देश के केन्द्रीय बैंक को हम बैंकों का बैंक कह सकते हैं, क्योंकि देश के समस्त बैंक केन्द्रीय बैंक से सम्बन्धित होते हैं। केन्द्रीय बैंक बैंकिंग व्यवस्था का नियमन एवं नियन्त्रण करता है, यह बैंक अन्य बैंकों को समय–समय पर उचित मार्ग–दर्शन एवं आवश्यक आदेश देने के साथ–साथ संकटकालीन स्थिति में आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार अन्य बैंकों के संरक्षक एवं मार्ग दर्शक के रूप में केन्द्रीय बैंक उल्लेखनीय सेवायें प्रदान करता है। देश में सुदृढ़ बैंकिंग व्यवस्था बनाये रखने के लिये केन्द्रीय बैंक की स्थापना बहुत ही आवश्यक है।

3. किसी भी राष्ट्र की मौद्रिक एवं साख नीति के सफल संचालन के लिये केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता प्रतीत होती है।

4. सरकार का बैंकर देश का केन्द्रीय बैंक ही होता है। यह बैंकर सरकार के लिये भुगतान प्राप्त करता है तथा सरकार की ओर से भुगतान करता है। सरकार के बैंकर, प्रतिनिधि तथा सलाहकार के रूप में केन्द्रीय बैंक सरकार के अनेक कार्यों को सम्पन्न करता है। इसके अलावा सरकार की समस्त हिसाब–किताब सम्बन्धी प्रक्रियायें भी सम्पन्न करता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंकर के रूप में सराहनीय सेवायें प्रदान करता है। केन्द्रीय बैंक को हम सरकार का एक महत्वपूर्ण अंग कह सकते हैं।

5. विकासशील राष्ट्र के केन्द्रीय बैंकों का एक महत्वपूर्ण कार्य देश के आर्थिक विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये केन्द्रीय बैंक देश की आर्थिक गतिविधियों को इस प्रकार से संचालित करता है कि देश में उपलब्ध आर्थिक साधनों का अधिकतम उपयोग अपनी विशेष मौद्रिक व्यवस्था के माध्यम से कर सके। केन्द्रीय बैंक उत्पादन वृद्धि के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु मात्रा में वित्त की व्यवस्था करता है ताकि वित्त के अभाव में उत्पादन कार्य बन्द न हो तथा देश का तीव्र गति से आर्थिक विकास हो।

6. वर्तमान समय में कोई भी राष्ट्र आर्थिक रूप से आत्म–निर्भर होने का दावा नहीं कर सकता है अतः उसे अन्य राष्ट्रों सेवा सम्पर्क रखना पड़ता है। केन्द्रीय बैंक राष्ट्रों के मध्य समुचित आर्थिक सम्बन्धों के निर्माण में सहायता करता है। राष्ट्रीय मुद्रा की विदेश विनिमय दर स्थिर रखने एवं समानीकरण एवं स्थिरीकरण खाते एवं निधियों का संकलन केन्द्रीय बैंक द्वारा ही किया जाता है।

7. उपरोक्त वर्णित कार्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक और भी अनेक कार्य एवं सेवायें करता है। इस कारण भी केन्द्रीय बैंक की स्थापना बहुत ही आवश्यक है। इन कार्यों के अन्तर्गत– नोटों का निर्गमन, अर्थतंत्र के लिये अर्थप्रबन्ध, मौद्रिक एवं वित्तीय प्रणाली में स्थायित्व बनाये रखना, विभिन्न बैंकों पर नियन्त्रण एवं नियमन आदि को सम्मिलित किया जाता है।

5.3– केन्द्रीय बैंक के कार्य
(Function of Central Bank)

केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में भी सभी विचारक एकमत नहीं हैं।

स्प्रेग के मतानुसार, केन्द्रीय बैंक के तीन कार्य प्रमुख होते हैं– साख अथवा व्यवस्था की आधारशिला का कार्य, एकाधिकारी रूप में चलन की निकासी का कार्य तथा सरकार के राजकोषीय अभिकर्ता का कार्य, जबकि डी कॉक ने केन्द्रीय बैंक के सात कार्य गिनायें हैं– (i) नोट निकासी का एकाधिकार। (ii) सरकारी बैंकर अभिकर्ता और आर्थिक परामर्शदाता। (iii) सदस्य बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक। (iv) देश के विदेशी विनिमय कोष का संरक्षक। (v) व्यापारिक तथा अन्य बैंकों का अन्तिम ऋणदाता। (vi) सदस्य बैंकों के भुगतान का समाशोधन गृह। (vii) साख मुद्रा का नियन्त्रण

डी कॉक के शब्दों में, साधारण बैंक अपना कार्य व्यापार लाभ कमाने की दृष्टि से चाहता है और एक केन्द्रीय बैंक एक देश की वित्तीय और आर्थिक स्थिरता की सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिये होता है। यह सार्वजनिक हित में तथा सम्पूर्ण देश के कल्याणार्थ कार्य करता है–लाभ प्राप्ति को प्राथमिक उद्देश्य स्वीकार किये बिना ही निम्नोक्त में केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्यों का उल्लेख किया जाता है–

1. नोट निकासी का एकाधिकार (Monopoloy of Note Issue)-कुछ समय पूर्व नोटों की निकासी का कार्य राज्य सरकार या व्यापारिक बैंक द्वारा किया जाता था, परन्तु आजकल प्रत्येक देश में वहां के केन्द्रीय बैंक को ही नोटों की निकासी करने का एकमात्र अधिकार प्राप्त है। केन्द्रीय बैंक को नोटों की निकासी का एकाधिकार प्राप्त होने से अनेक लाभ हैं, जैसे– (i) नोट निकासी में अनुरूपता आ जाती है। (ii) साख मुद्रा पर नियन्त्रण सुविधाजनक हो जाता है। (iii) मुद्रा के बाह्य और आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता बनी रहती है। (iv) चलन प्रणाली में लोच का गुण उत्पन्न हो जाता है। (v) राज्य को राजस्व की प्राप्ति होती है, तथा। (vi) चलन प्रणाली का जनता को विश्वास प्राप्त हो जाता है।

2. सरकारी बैंकर के रूप में कार्य (Banker to the State)- केन्द्रीय बैंक सरकार के लिये बैंकर, अभिकर्ता और परामर्शदाता तीनों रूपों में कार्य करता है। सरकारी अभिकर्ता के रूप में केन्द्रीय बैंक सरकारी ऋणों का प्रबन्ध करता है। सरकारी प्रतिभूतियों, बन्धन कोषागार विपत्रों का सरकार की ओर से क्रय करता है, विनिमय नियन्त्रण का संचालन करता है तथा विनिमय समीकरण कोषों निकासी समझौतों और शोधन समझौतों का नियमन करता है। केन्द्रीय बैंक, सरकार को चलन, साख, सार्वजनिक ऋण और विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक मामलों पर परामर्श भी देता है। डी कॉक के शब्दों में, "सरकारी, बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक इसलिये काम नहीं करता कि यह सरकार के लिये सरल और मितव्ययी है अपितु इसलिये कि सार्वजनिक वित्त तथा मौद्रिक मामलों में घनिष्ट सम्बन्ध है।"

3. बैंकों का बैंक के रूप में कार्य (Bank's Bank)-देश के अनुसूचित बैंकों के साथ केन्द्रीय बैंक का ठीक वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा कि एक साधानण बैंक का अपने ग्राहकों के साथ सम्बन्ध होता है। इस रूप में केन्द्रीय बैंक देश के व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों का एक भाग जमा के रूप में अपने पास रखता है। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें ऋण और अग्रिम प्रदान करता है, उसके लिये संशोधन गृह का कार्य करता है तथा उनके नकद कोषों का संरक्षण करता है। डी कॉक के शब्दों में, "केन्द्रीय बैंक के पास नकद कोषों का केन्द्रीयकरण कम से कम एक बड़ी और लोचदार साख संरचना के लिये आधार का काम करता है जोकि व्यक्तिगत व्यापारिक बैंकों के पास विखरी हुई दशा में रहने के कारण सम्भव नहीं हो सकता। अतएव जब व्यापारिक बैंकों के रक्षित कोष किसी एक संस्था में जोकि न्यूनाधिक रूप से राष्ट्र के आर्थिक हितों को सुरक्षित रखने हेतु उत्तरदायी होती है, जमा होते हैं तो यह रक्षित कोष संकटकाल में अथवा साधारण आपत्ति के समय यथासम्भव अधिकतम सीमा तक और अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त किये जा सकते हैं।" सत्य तो यह है कि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के लिये एक सच्चा मित्र, दार्शनिक एवं पथ–प्रदर्शक होता है।

4. अंतर्राष्ट्रीय मुद्राओं के राष्ट्रीय कोष का संरक्षण करना (Custidian of the Nations Reserves of International Currencies)-प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक अपनी चलन इकाई के बाह्य एवं आन्तरिक मूल्यों को स्थिर रखने के हेतु दो प्रकार के कोषों की व्यवस्था करता है–(i) आन्तरिक कोष (धात्विक कोष)। (ii) बाह्य कोष (विदेशी मुद्राओं का कोष)। केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के राष्ट्रीय कोष का संरक्षण करना है तथा इसके प्रयोग द्वारा, विपरीत भुगतान शेष की दशा में, चलन इकाई के विदेशी मूल्य में स्थिरता लाना है।

5. सदस्य बैंकों के लिये समाशोधन गृह का कार्य (Clearing House Function)-शॉ, विल्स तथा जान्सी के मतानुसार अनुसूचित बैंक्स के पारस्परिक लेन–देन को निपटाना (समाशोधन गृह का कार्य) केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य है। केन्द्रीय बैंक के इस कार्य के फलस्वरूप व्यापारिक बैक्स की पारस्परिक लेनदेन की निबटाने की समस्या सुलझ जाती है तथा देश की सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली सुविधाजनक हो जाती है। प्रत्येक व्यापारिक बैंक से नकद कोष का कुछ भाग केन्द्रीय बैंक के पास जमा रहता है जिसके द्वारा वह विभिन्न व्यापारिक बैंकों के पारस्परिक ऋणों का समायोजन कर देता है।

6. अन्तिम ऋणदाता का कार्य (Lender of the Last Resort)-केन्द्रीय बैंक देश के व्यापारिक बैंकों को संकट के समय वित्तीय सहायता प्रदान करके उनके लिये अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करता है। इस रूप में केन्द्रीय बैंक संकटग्रस्त बैंकों को फेल होने से बचाता है तथा बैंकिंग प्रणाली के प्रति जन–साधारण में विश्वास कायम करता है। केन्द्रीय बैंक के इस कार्य को बैजहट ने बहुत महत्वपूर्ण बतलाया है।

7. साख–मुद्रा के नियन्त्रण का कार्य (Control of Credit Money)-शॉ के मतानुसार, केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य साख का नियंत्रण करना है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख मुद्रा को नियन्त्रित करने के तीन उद्देश्य होते हैं– (i) आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता कायम करना। (ii) विदेशी विनिमय दर को स्थिर बनाये रखना। (iii) पूर्ण रोजगार की प्राप्ति। साख मुद्रा के नियन्त्रण की दशा में केन्द्रीय बैंक द्वारा जिन विभिन्न रीतियों को अपनाया जाता है, उन्हें प्रत्यक्ष और परोक्ष, दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। नैतिक दबाव, विज्ञापन, अनुशासन को रद्द करना, साख राशनिंग करना आदि साख नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ है, जबकि बैंक दर में परिवर्तन, खुले बाजार की क्रियायें, वैधानिक निधि अनुपात में परिवर्तन आदि साख नियन्त्रण की परोक्ष रीतियां हैं। यह उल्लेखनीय है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हो पायी है जिसका प्रमाण यह है कि अब भी समय–समय पर स्फीति और अवस्फीति की भयानक घटनायें अर्थव्यवस्था के साम्य को भंग करती रहती हैं। वास्तविकता यह है कि केन्द्रीय बैंक–साख नियन्त्रण की क्रिया के द्वारा केवल मौद्रिक तत्वों को ही प्रभावित कर सकता है तथा व्यवहार चक्रीय घटना की उत्पत्ति में सहायक अमौद्रिक तत्वों को वह नियन्त्रण नहीं कर पाता। इसलिये क्राउथर का विचार है कि, "केन्द्रीय बैंक को अपनी साख–नियन्त्रण की रीति में केवल तभी सफलता मिल सकती है जबकि वह मन्दी या अभिवृद्धि की प्रारम्भिक दशा में ही इस नीति को क्रियान्वित कर दे।"

8. आर्थिक समंको का एकत्रीकरण और प्रकाशन (Collection and Publication of Economic Statistics)-अन्त में, केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य बैंकिंग, चलन, विदेशी विनिमय आदि से सम्बन्धित आँकड़ों और सूचनाओं को एकत्रित करके प्रकाशित करना है। आर्थिक नियोजन की सफलता की दृष्टि से केन्द्रीय बैंक के इस कार्य का विशेष महत्व है।

केन्द्रीय बैंक के जिन कार्यों का ऊपर वर्णन किया गया है, आजकल व्यवहार में केन्द्रीय बैंक द्वारा इससे भी अधिक काम सम्पन्न किये जाते हैं। जैसे–जैसे बाजार, एक स्वरूप बैंकिंग प्रणाली, साख व्यवस्था और विदेशी भुगतान की प्रणाली जटिलतम होती जा रही है, वैसे ही वैसे केन्द्रीय बैंकिंग के कार्य भी व्यापक एवं गहन होते जा रहे हैं।

5.4 सारांश

ऊपर केन्द्रीय बैंक के जिन कार्यों का विवरण संक्षिप्त रूप में दिया गया है उन सभी को प्रायः सभी देशों में केन्द्रीय बैंक सम्पादित करते हैं। परन्तु वे केवल इतने ही कार्यों को सम्पन्न नहीं करते। वस्तुतः केन्द्रीय बैंक के कार्यों का निरन्तर विस्तार होता रहा है और उनके कार्य बढ़ते ही जा रहे हैं। विभिन्न अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं कि केन्द्रीय बैंक के कार्यों की सीमा कहां निर्धारित की जाय। प्रो. स्प्रैग के विचार में "केन्द्रीय बैंकों के विशेष कार्यों का उल्लेख तीन भागों में किया जा सकता

है। वे सरकार के आर्थिक अभिकर्ता का कार्य करते हैं, नोट निर्गमन के एकाधिकार के कारण उनका चलन पर विस्तृत नियन्त्रण रहता है और अन्त में चूंकि उनके पास अन्य बैकों के कोषों का पर्याप्ततः बड़ा भाग जमा रहता है इसलिए वे समस्त साख कलेवर के आधार के लिए प्रत्यक्ष रूप में उत्तरदायी होते हैं। अन्तिम कार्य केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है।" भारतीय चलन एवं वित्त आयोग (Royal Commission on Indian Currency and Finance) के समक्ष बैंक ऑफ इंगलैंड के तत्कालीन गवर्नर के इस बयान से आधुनिक युग में केन्द्रीय बैंक के कार्यों की व्याख्या स्पष्ट हो जाती है : "केन्द्रीय बैंक को पत्र–मुद्रा जारी करने का अधिकर और विधि–ग्राह्य मुद्रा के प्रसार अथवा इसे चलन से हटाने का एकाधिकार होना चाहिए। इसके पास सरकार के सभी कोष रहने चाहिए। इसे देश के सभी बैंकों और उनकी शाखाओं के सभी अधिशेषों का धारक होना चाहिए। इसे सरकार का एक ऐसा एजेन्ट होना चाहिये जिसके द्वारा सरकार की सभी देशी–विदेशी आर्थिक क्रियाएं सम्पन्न की जा सकें। केन्द्रीय बैंकों का यह भी कर्तव्य होना चाहिये कि यह देश की मुद्रा के आन्तरिक और बाह्य मूल्य में यथासम्भव स्थयित्व बनाये रखते हुये चलन प्रणाली में उपयुक्त विस्तार अथवा संकुचन करे।

5.5 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2- केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्य कौन–कौन से हैं? यह व्यापारिक बैंकों का नियन्त्रण कैसे करता है?

प्रश्न 3- केंद्रीय बैंक के कार्यों को संक्षेप में बतलाते हुये आर्थिक विकास में केन्द्रीय बैंक की भूमिका को स्पष्ट करें।

5.6 शब्दावली

निगर्मन बैंक	:	Bank of Issue
चेक निक्षेप बैंक	:	Check Deposite Bank
शोधन समझौते	:	Payment Agreements
अन्तिम ऋणदाता	:	Lender of the Last Resort
साख नियन्त्रण	:	Credit Control

5.7 सन्दर्भ सूची

R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chapt : 1
A. K. Basu	:	Fundamentals of Banking Theory and Practice
G. Crowther	:	An Outline of Money, Chapt : 2
R. P. Kent	:	Money and Banking Chapt : 9
G. N. Halm	:	Economics of Money and Banking

इकाई 05

साख नियंत्रण के तरीके परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख नियंत्रण

रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 साख नियंत्रण की आवश्यकता एवं महत्व
6.3 साख नियंत्रण की विधियां
6.4 साख नियंत्रण की कठिनाइयां
6.5 सारांश
6.6 बोध प्रश्न
6.7 शब्दावली
6.8 सन्दर्भ सूची

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत केन्द्रीय बैंक के सबसे महत्वपूर्ण कार्य साख नियंत्रण का अध्ययन किया गया है। साख नियंत्रण के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार देश की मौद्रिक और साख नियन्त्रण की नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे व्यापार चक्रों को रोका जा सके तथा देश में आर्थिक स्थायित्व और पूर्ण रोजगार स्थापित किया जा सके।

2. यदि साख की मात्रा और देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के बीच उचित समायोजन होता रहे तो कीमत–स्तर में स्थायित्व बना रहेगा। अतः मूल्यों में स्थायित्व बनाये रखने के लिए साख का नियन्त्रण आवश्यक है।

3. साख नियन्त्रण का एक उद्देश्य मुद्रा की विनिमय दर को उचित स्तर पर बनाये रखना होता है। साख की मात्रा में वृद्धि से प्रायः स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिससे विनिमय दर गिरने लगती है। इससे देश की अर्थ–व्यवस्था में गड़बडी होने का भय रहता है और मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ सकता है।

4. अर्द्ध–विकसित देशों में साख नियन्त्रण का उद्देश्य आर्थिक विकास माना जाने लगा है अर्थात् साख का नियन्त्रण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि देश में आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त दशाएं उत्पन्न हो सकें।

6.1 प्रस्तावना

कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये मुद्रा की मांग के विस्तार और संकुचन के अनुसार मुद्रा की पूर्ति की व्यवस्था को ही मौद्रिक नीति कहा जाता है। कुछ निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह बहुधा आवश्यक समझा जाता है कि देश में व्यवसाय तथा जन–साधारण सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार चलन और साख मुद्रा की कुल मात्रा का विस्तार और संकुचन किया जाये। वर्तमान युग में तो इसका महत्व बहुत ही बढ़ गया है क्योंकि आधुनिक सरकारें नीतियों को फलीभूत करने का प्रयास करती हैं। चलन पत्र–मुद्रा के रू॰ में होता है जिसके निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त रहता है। इस सम्बन्ध में प्रमुख समस्या साख के नियन्त्रण की होती है क्योंकि साख का निर्माण अनेक बैंकों द्वारा किया जाता है। अतः मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य साख के विस्तार और संकुचन को नियन्त्रण करने से ही सम्बन्धित होता है।

6.2 साख नियन्त्रण की आवश्यकता और महत्व

आधुनिक मौद्रिक व्यवस्था में बैंक मुद्रा अथवा साख का महत्व बहुत बढ़ गया है। बैंक मुद्रा अथवा साख–सृजन का कार्य व्यवसायिक बैंक करते हैं। इसकी राशि में परिवर्तन का देश की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है। अतएव मौद्रिक नीति के सफल संचालन के लिए इस पर केन्द्रीय बैंक का समुचित नियन्त्रण अनिवार्य है। साख की मात्रा में परिवर्तन के फलस्वरूप मुद्रा की क्रय–शक्ति और व्यावसायिक क्रियाओं में परिवर्तन होता है जिसका आर्थिक जीवन के विभिन्न अंगों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसलिए साख का नियंत्रण देश के आर्थिक कल्याण के लिए आवश्यक माना जाता है।

चलन की मात्रा का नियमन भी आधुनिक युग में बहुत कुछ सीमा तक साख के नियंत्रण से सम्बन्धित है। अधिकांश केंद्रीय बैंकों के विधान में तो ऐसी व्यवस्था स्पष्ट रूप से कर दी गयी है। उदाहरण के लिए बैंक ऑफ कनाडा के विधान में बैंक का प्रमुख कार्य 'साख एवं चलन का नियंत्रण करना' बतलाया गया है। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के विधान में 'चलन तथा साख प्रणाली का देश के आर्थिक हितों के अनुसार नियमन' की व्यवस्था की गई है।

6.3 साख नियंत्रण की विधियां

साख नियंत्रण से तात्पर्य व्यापारिक बैंकों की सम्पत्ति नियन्त्रण से होता है क्योंकि व्यापारिक बैंकों की सम्पत्ति का अधिकांश भाग ऋण तथा निवेश होते हैं। बैंकों की ऋण शक्ति उनके नकद कोषों पर निर्भर करती है और बैंकों के नकद कोष जमा धनराशियाँ एवं केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिए बैंकों की साख–निर्माण शक्ति का उचित नियन्त्रण करने के लिए उनके नकद कोषों का नियन्त्रण करना आवश्यक होता है।

प्रत्येक केन्द्रीय बैंक अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार साख नियन्त्रण की विधियाँ अपनाता है जो दो रूपों में अपनायी भी जाती है।

(अ) परिमाणात्मक विधियाँ (Quantitative Methods)- वे विधियाँ हैं जिनका सम्बन्ध साख की मात्रा तथा उनकी कीमत (ब्याज–दर) के नियन्त्रण से है। बैंक दर नीति, खुले बाजार की क्रियाएँ, बैंकों की प्रारक्षित निधियों के अनुपात में परिवर्तन, तरल कोषानुपात का निर्धारण आदि परिमाणात्मक साख नियन्त्रण के साधन हैं। परिमाणात्मक साख नियन्त्रण का उपयोग, मुद्रा–स्फीति तथा मुद्रा–अवस्फीति रोकने के लिए किया जाता है।

(ब) गुणात्मक विधियाँ (Qualitative Methods)- वे विधियाँ हैं जिनका उद्देश्य साख के प्रयोग को नियन्त्रित होता है। चयनात्मक साख नियन्त्रण, साख की राशनिंग, प्रत्यक्ष कार्यवाही, नैतिक दबाव, विज्ञापन एवं प्रचार तथा उपभोग साख का नियमन आदि गुणात्मक साख नियन्त्रण के साधन हैं।

अब हम यहाँ पर परिमाणत्मक तथा गुणात्मक साख नियन्त्रण विधियों के विभिन्न साधनों का अध्ययन करेंगे–

(अ) परिमाणात्मक विधिया

(I) बैंक–दर नीति (Bank Rate Palicy)- "बैंक–दर से अभिप्राय उस न्यूनतम ब्याज दर से है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंक के प्रथम श्रेणी के विनिमय (Bills) की पुनर्कटौती करता है अथवा स्वीकृत प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देने के लिए तैयार रहता है।" कुछ देशों में बैंक दर को कटौती दर (Discount Rate) भी कहते हैं। बैंक दर तथा बाजार दर में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। बाजार दर ब्याज की वह दर होती है जिस पर देश के व्यापारिक बैंक तथा मुद्रा बाजार की अन्य संस्थाएँ हुण्डियों एवं अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों को भुनाने या उनके आधार पर ऋण प्रदान करने के लिए तैयार रहती हैं। सामान्यतः बैंक दर में वृद्धि हो जाती है, तथा बैंक–दर में कमी होने पर बाजार दर भी कम हो जाती है, इसलिए केन्द्रीय बैंक, इन बैंकों को अन्य संस्थाओं से ऋण उपलब्ध न होने पर जब इन्हें ऋण प्रदान करता है तो इनसे ऊँची ब्याज–दर वसूल करता है।

केन्द्रीय बैंक की बैंक दर के परिवर्तनों का सभी प्रकार की ब्याज दरों पर प्रभाव पड़ता है। यदि बैंक दर बढ़ जाती है। तो मुद्रा बाजार की ब्याज दरें भी ऊँची हो जाती हैं। व्यापारियों के लिए ऋण लेना महंगा हो जाता है, इसलिए साख का संकुचन होने लगता है। यदि बैंक दर में कमी कर दी जाती

है तो मुद्रा बाजार की ब्याज दरें भी घट जाती है। व्यापारियों के लिए ऋण लेना लाभप्रद हो जाता है, इसलिए साख का विस्तार होने लगता है। अतः संक्षेप में बैंक दर का सिद्धान्त यह है कि बैंक दर बढ़ाने से साख का संकुचन होता है और बैंक दर घटाने से साख का विस्तार होता है।

बैंक दर में परिवर्तन के उद्देश्य

बैंक दर में वृद्धि निम्नलिखित उद्देश्यों से की जाती है–

1. जब विदेशी विनिमय दर देश के प्रतिकूल हो जाती है तब इसे देश के अनुकूल बनाने के लिए केन्द्रीय बैंक, बैंक दर में वृद्धि कर देती है। इससे विदेशी पूँजी देश की ओर आकर्षित होने लगती है। देशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। फलतः विदेशी विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

2. जब किसी कारण से देश का सोना अधिक मात्रा में बाहर जाने लगता है तब इसे रोकने के लिए बैंक दर में वृद्धि कर दी जाती है। फलतः सोने का निर्यात या तो बन्द हो जाता है अथवा बहुत कम हो जाता है।

3. जब देश में सट्टा तेजी से होने लगता है तो इससे देश को आर्थिक हानि होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। सटोरिये अधिकाधिक मात्रा में व्यापारिक बैंकों से ऋण लेने लगते हैं, व्यापारिक बैंक इन लोगों की माँग को पूरा करने के लिए केन्द्रीय बैंक से ऋण लेने लगते हैं। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक, बैंक–दर में वृद्धि कर देता है। इससे सटोरियों को अधिक ब्याज का ऋण मिलता है, अतः वे ऋण लेना कम कर देते हैं जिससे सट्टा स्वतः ही हतोत्साहित हो जाता है।

4. अन्य देशों में बैंक दर बढ़ा देने के कारण भी कभी–कभी बैंक दर में वृद्धि कर दी जाती है क्योंकि अन्य देशों में बैंक दर बढ़ जाने से देशों से उन देशों को पूँजी का निर्यात होने लगता है जिसे रोकने के लिए देश के केन्द्रीय बैंक को बैंक दर में वृद्धि करना अनिवार्य हो जाता है।

बैंक दर में परिवर्तनों के प्रभाव

1. जब बैंक दर बढ़ जाती है तब मुद्रा बाजार में ब्याज की दरें भी बढ़ जाती हैं, इसलिए व्यवसायियों को ऋण लेना लाभप्रद नहीं होता है। अतः ये ऋण लेना कम कर देते हैं, अर्थात् मुद्रा की मांग कम हो जाती है। इससे साख का संकुचन होता है। इसके विपरीत, जब बैंक दर कम कर दी जाती है, तब ब्याज की अन्य दरें भी कम हो जाती हैं; इसलिए व्यवसायियों को ऋण लेना लाभप्रद हो जाता है, अतः वे अधिक मात्रा में ऋण लेने लगते हैं; अर्थात् मुद्रा की माँग बढ़ जाती है। इससे साख का विस्तार होने लगता है।

2. बैंक दर में कमी हो जाने से साख का विस्तार होता है, जिससे औद्योगिक एवं व्यापारिक कार्य प्रोत्साहित होते हैं। रोजगार तथा मजदूरी बढ़ने लगती है। परिणामस्वरूपा आन्तरिक कीमत स्तर भी बढ़ने लगता है। इसके विपरीत बैंक दर में वृद्धि हो जाने से साख का संकुचन होने लगता है जिससे औद्योगिक तथा व्यापारिक कार्य हतोत्साहित होने लगते हैं। रोजगार तथा मजदूरी घटने लगती है। परिणामस्वरूप आन्तरिक कीमत स्तर भी गिरने लगता है।

3. बैंक दर में वृद्धि हो जाने से ब्याज की सभी दरें भी बढ़ जाती हैं जिससे विदेशी पूँजी देश की ओर आकर्षित होने लगती है। इसके विपरीत बैंक दर में कमी होने पर ब्याज की दरें भी कम हो जाती हैं जिससे देशी पूँजी विदेशों की ओर आकर्षित होने लगती हैं।

4. बैंक दर में वृद्धि होने पर ब्याज की सभी दरें बढ़ जाती है और विदेशों से पूँजी का आयात होने लगता हैं, अतः देश का भुगतान सन्तुलन (Balance of Payments) अनुकूल हो जाता है और विदेशी विनिमय की दर भी देश के अनुकूल हो जाती है।

बैंक–दर की परिसीमाएँ

1. बैंक–दर नीति की सफलता के लिए देश की अर्थव्यवस्था का पूर्णतः लोचदार होना आवश्यक है, क्योंकि लोचदार अर्थव्यवस्था में बैंक–दर में हुए परिवर्तनों का प्रभाव उत्पादन रोजगार, मजदूरियों, कीमतों व्यापार तथा ब्याज की दरों पर पड़ता है। देश की अर्थव्यवस्था लोचहीन होने पर

बैंक दर में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव इन कार्यों पर अधिक नहीं पड़ेगा, अतः बैंक दर नीति सफल नहीं हो सकेगी।

2. बैंक दर नीति की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि बैंक–दर में होने वाले परिवर्तनों के साथ–साथ मुद्रा–बाजार की अन्य ब्याज दरों में उसी दिशा में परिवर्तन होने चाहिए जिस दिशा में बैंक दर में परिवर्तन हुए है, अर्थात् बैंक दर में वृद्धि होने पर अन्य ब्याज दरों में भी वृद्धि तथा बैंक दर कम होने पर अन्य ब्याज–दरों में भी कमी होनी चाहिए। इसके लिए देश का मुद्रा बाजार पूर्णतः विकसित एवं संगठित होना चाहिए।

(II) खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations)- जब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार से प्रतिभूतियों का क्रय–विक्रय करते हैं तो इसे खुले बाजार की क्रियायें कहते हैं। दूसरे शब्दों में "जब केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार में केवल सरकारी प्रतिभूतियों का ही क्रय–विक्रय करता हैं, तो इसे खुले बाजार की क्रियायें कहते हैं।"

केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को बेचने लगता है। यह प्रतिभूतियाँ व्यापारिक बैंक खरीदते हैं। प्रतिभूतियाँ खरीदने पर रकम केन्द्रीय बैंक को चुकानी पड़ती है। इस प्रकार नकद कोष केन्द्रीय बैंक के पास पहुँच जाते हैं। नकद कोष में कमी के कारण व्यापारिक बैंकों द्वारा ऋण देना कम हो जाता है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक समझता है कि मुद्रा–बाजार में मुद्रा की कमी है और साख का निर्माण कम हो रहा है, तो वह बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ विदेशी विनिमय आदि खरीदना प्रारम्भ कर देता है। इससे बाजार में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। बैंकों में जमा राशि भी बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप उनकी साख निर्माण की शक्ति बढ़ जाती है। बैंकों में जमा राशि भी बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप उनकी साख निर्माण की शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को खरीदने से साख का विस्तार होता है।

खुले बाजार की क्रियाओं के उद्देश्य

1. जब कभी मुद्रा बाजार में मुद्रा की कमी हो जाती है जिससे व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगता है तब ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को खरीदकर मुद्रा–बाजार में मुद्रा की मात्रा को बढ़ा देता है।

2. जब किसी घबराहट के कारण लोग तेजी के साथ बैंकों से अपनी जमा राशियों को निकालने लगते हैं, तब बैंकों के लिए भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कभी–कभी तो बैंक इस स्थिति का सामना करने में असमर्थ रहते हैं और फेल भी हो जाते हैं, अतः ऐसी स्थिति में बैंकों की आर्थिक संकट से रक्षा करने के लिए केन्द्रीय बैंक बाजार में बड़े पैमाने पर पूतिभूतियों को खरीदना प्रारम्भ कर देता है। इससे मुद्रा बाजार की ओर द्रव्य का हस्तान्तरण होने लगता है। जनता में पुनः विश्वास उत्पन्न हो जाता है और सम्बद्ध बैंक आर्थिक संकट से बच जाते हैं।

3. जब कभी बैंक–दर साख का नियन्त्रण करने में असमर्थ रहती है, तब इसे सफल बनाने के लिए खुले बाजार की क्रियाओं का भी उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ जब बैंक–दर में वृद्धि होने पर भी सम्बद्ध बैंक ब्याज की दरों को नहीं बढ़ाते हैं, तब केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में प्रतिभूतियों को बेचकर उनकी अतिरिक्त निधि (जमाराशियों) को कम कर देता है। फलतः सम्बद्ध बैंकों को ब्याज की दरें बढ़ाने के लिए विवश होना पड़ता है।

4. यदि किसी देश में बड़ी मात्रा में विदेशों को पूँजी का निर्यात हो रहा है जो कि केन्द्रीय बैंक के विचार से देश के हित में नहीं है, तब ऐसी दशा में वह प्रतिभूतियों को बेचकर मुद्रा–बाजार से अतिरिक्त मुद्रा को स्वयं खींच लेता है। इस प्रकार पूँजी का निर्यात रुक जाता है।

5. स्वर्णमान के अन्तर्गत जब देश में सोने का आयात होता है, तब इससे मुद्रा एवं साख का परिणाम भी बढ़ जाता है और कीमत स्तर में वृद्धि हो जाती है। यदि केन्द्रीय बैंक के विचार से यह कीमत वृद्धि देश के हित में नहीं है, तो वह प्रतिभूतियों को बेचकर मुद्रा एवं साख की पूर्ति को कम कर सकता हैं। इससे कीमत–स्तर स्वतः ही गिर जाता है। इसके विपरीत, यदि देश से सोने का निर्यात होता है, तब इससे मुद्रा एवं साख की मात्रा कम होने लगती है और कीमत–स्तर गिर जाता है।

6. खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं–

(i) प्रतिभूतियों की मांग तथा पूर्ति मुद्रा विद्यमान होनी चाहिए।

(ii) सरकारी प्रतिभूतियों के मूल्यों में अधिक उच्चावचन नहीं होना चाहिए।
(iii) केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं से अन्य बैंकों के नकद कोष प्रभावित होने चाहिए।
(iv) मुद्रा बाजार का पूर्ण होना चाहिए।
(v) ऋणों की मांग में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।
(vi) केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतियों को खरीदने या बेचने की शक्ति असीमित होनी चाहिए।

खुले बाजार की क्रियाओं की परिसीमाएँ

खुले बाजार की क्रियाओं की नीति की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तों का पूरा होना आवश्यक है–

1. यदि मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों की मांग ही नहीं है तो केन्द्रीय बैंक द्वारा इन्हें बेचने पर भी कोई नहीं खरीदेगा और यदि मुद्रा बाजार में प्रतिभूतियों की पूर्ति नहीं है तो केन्द्रीय बैक द्वारा खरीदने पर भी प्रतिभूतियों का कोई विक्रेता नहीं होगा।

2. दूसरे शब्दों में खुले बाजार की क्रियाओं से केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों के बेचने तथा खरीदने पर सम्बद्ध बैंकों के नकद–कोषों में कमी तथा वृद्धि होनी चाहिए।

3. यदि सम्बद्ध बैंकों की ऋण नीति में परिवर्तन हो जाता है, तो खुले बाजार की क्रियाओं की नीति सफल नहीं हो सकती है।

4. केन्द्रीय बैंक तथा सम्बद्ध बैंकों में घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। बिल–बाजार भी सुव्यवस्थित होना चाहिए।

5. केन्द्रीय बैंक को मुद्रा बाजार की आवश्यकताओं की अनुसार प्रतिभूतियाँ खरीदने तथा बेचने के लिए समर्थ होना चाहिए, अन्यथा वह आरवश्यकतानुसार साख का नियन्त्रण (विस्तार एवं संकुचन) नहीं कर सकेगा।

बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाओं में समन्वय
(Co-ordination between Bank Rate and Open Market Operations Policy)

यद्यपि बैंक–दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाओं की नीति दोनों का उद्देश्य साख का नियन्त्रण है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टिसे दोनों में कुछ भिन्नता भी है, जैसा कि निम्नलिखित से स्पष्ट है–

1. खुले बाजार की क्रियाओं की नीति बैंक–दर नीति की अपेक्षा अधिक सुदृढ़, सक्रिय तथा प्रत्यक्ष होती है क्योंकि बैंक–दर में जब कोई परिवर्तन किया जाता है तब ब्याज की अल्पकालीन दरों पर तो इसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है किन्तु ब्याज की दीर्घकालीन दरों पर यह प्रभाव बहुत देर से पड़ता है, जबकि खुले बाजार की क्रियाओं का अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार की ब्याज दरों पर तुरन्त तथा प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

2. खुले बाजार की क्रियाएँ स्वतन्त्र रूप से साख का नियन्त्रण करने में समर्थ होती हैं क्योंकि खुले बाजार की क्रियाओं की नीति के अन्तर्गत बिना ब्याज की दरों में परिवर्तन किये ही केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंकों के नकद कोषों में परिवर्तन करके साख पर नियन्त्रण कर सकता है जबकि, बैंक दर नीति के अन्तर्गत साख पर नियन्त्रण करने के लिए बैंक–दर में कमी या वृद्धि करके मुद्रा बाजार की ब्याज दरों में परिवर्तन किया जाता है।

3. बैंक–दर में बार–बार परिवर्तन करना केन्द्रीय बैंक के लिए सम्भव नहीं होता जबकि वह खुले बाजार की क्रियाओं का आवश्यकतानुसार चाहे जब प्रयोग कर सकता है।

4. बैंक–दर के परिवर्तनों का प्रभाव सभी बैंकों पर अनिवार्य रूप से पड़ता है, जबकि खुले बाजार की क्रियाएँ इन बैंकों को स्वेच्छा से तथा बिना किसी अनुचित दबाव के चलने का अवसर देती है।

साख नियन्त्रण के लिए उपरोक्त तथ्यों के आधार पर खुले बाजार की क्रियाओं को बैंक–दर की नीति से अधिक समझा जाता है किन्तु वास्तव में, खुले बाजार की क्रियाओं की नीति तथा बैंक दर नीति परस्पर प्रतियोगी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं, अतः दोनों ही नीतियों का प्रयोग एक साथ होना चाहिए। तभी साख का नियन्त्रण प्रभावपूर्ण ढंग से हो सकता है।

(III) बैंकों की प्रारक्षित निधियों के अनुपात में परिवर्तन
(Change in the Ratio of Bank's Reserves)

यह भी साख नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण उपाय है जो आजकल लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों द्वारा उपयोग में लाया जाता है। जैसा विदित है कि सभी सम्बद्ध बैंक अपनी जमाराशियों का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास प्रारक्षित–निधि के रूप में रखते हैं। केन्द्रीय बैंक के विचार से यदि साख का निर्माण आवश्यकता से अधिक हो रहा है तो वह सम्बद्ध बैंकों की प्रारक्षित–निधियों के अनुपात को बढ़ा देता है। इससे सम्बद्ध बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास अधिक मात्रा में प्रारक्षित–निधियाँ रखनी पड़ती हैं जिससे उनके नकद कोषों में कमी हो जाती है, फलतः सम्बद्ध बैंकों की साख निर्माण की शक्ति भी कम हो जाती है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय बैंक के विचार से साख का निर्माण आवश्यकता से कम हो रहा है, तो वह सम्बद्ध बैंकों की प्रारक्षित–निधियों के अनुपात को कम कर देता है, इससे सम्बद्ध बैंकों के पास नकद कोषों में वृद्धि हो जाती है। फलतः उनकी साख निर्माण की शक्ति भी बढ़ जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक प्रारक्षित निधियों के अनुपात को बढ़ाकर या कम करके साख–निर्माण की मात्रा में परिवर्तन कर सकता ळें

(IV) तरल कोषानुपात पद्धति
(Liquidity Ratio System)

साख नियन्त्रण की इस पद्धति के अन्तर्गत सम्बद्ध बैंकों को अपनी कुल सम्पत्ति का एक निश्चित भाग तरल रूप में रखना आवश्यक होता है। इस तरल भाग में नकद राशि तथा कुछ सरकारी प्रतिभूतियाँ सम्मिलित होती हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि सम्बद्ध बैंक अपनी जमाराशियों का एक निश्चित भाग नकद तथा सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रखते हैं और उस सीमा तक उनकी साख–निर्माण की शक्ति कम हो जाती है। इसी से सम्बन्धित प्रभाव यह होता है कि बैंकों को अपने साधनों का एक भाग अनिवार्यतः सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित करना पड़ता है जिससे केन्द्रीय बैंक को खुले बाजार की क्रियाओं को अपनाने में सुविधा रहती है।

(ब) गुणात्मक विधियाँ
(Qualitative Methods)

1. चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Controls)- चयनात्मक साख नियन्त्रण के निम्नलिखित रूप हो सकते हैं–

(i) ऋण की सीमाओं में परिवर्तन करना– सट्टा कार्यों को हतोत्साहित करने के लिए साख नियन्त्रण की यह विधि अपनायी जाती है। यदि केन्द्रीय बैंक चाहता है कि सट्टेबाजी के लिए ऋण नहीं दिये जाने चाहिए या कम मात्रा में दिये जाने चाहिए तो ऐसी दशा में वह इन ऋणों के पीछे रखी जाने वाली प्रतिभूतियों के अन्तर में वृद्धि कर देता है। इससे सट्टेबाजी के लिए साख का निर्माण स्वतः ही हतोत्साहित हो जाता है।

(ii) अलग–अलग कटौती दरें अपनाना– इस विधि के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के विनिमय–पत्रों पर भिन्न–भिन्न कटौती दरें निर्धारित कर देता है। इस व्यवस्था का उद्देश्य कुछ क्षेत्रों को ऋण देने की सुविधा देना तथा कुछ पर सख्ती करना होता है। जैसे– कृषि प्रधान देशों के बिलों की कटौती कम काटी जाती है, क्योंकि सरकार कृषि को प्रोत्साहन देना चाहती है।

(iii) आयात पूर्व जमा– विदेशी आयातों को निरुत्साहित करने के लिए केन्द्रीय बैक ऐसे नियम बना देता है। कि आयात लाइसेन्स के आवेदन–पत्र के साथ आयातित वस्तु के मूल्य का एक निश्चित भाग केन्द्रीय बैंक या अन्य अधिकृत संस्था के पास जमा कराना होता है, तभी आवेदक आयात लाइसेन्स प्राप्त कर सकता हैं। इसे ही आयातपूर्ण जमा कहते हैं जो कि ब्याजरहित होती है।

(iv) ऋणों की प्राप्ति पर नियंत्रण– यह विधि ऋणों को विशेष क्षेत्र में प्रोत्साहित करने तथा अन्य क्षेत्रों में निरुत्साहित करने के लिए अपनाई जाती है। इसके अन्तर्गत, निश्चित राशि से अधिक मात्रा में जो ऋण दिये जाते हैं, उन ऋणों की स्वीकृति से पूर्व केन्द्रीय बैंक से अनुमति लेना, आवश्यक कर दिया जाता है।

(v) किस्तों पर क्रय का नियमन– विकसित देशों की मूल्यवान वस्तुएँ किस्तों में खरीदी जाती हैं। इस प्रकार उपभोक्ता की साख पर कुछ नियन्त्रण लगाये जा सकते हैं। इस नीति का प्रमुख उद्देश्य उपभोक्ता वस्तुओं की मांग को नियन्त्रित करना है जिससे वस्तुओं की कीमत अधिक नहीं बढ़ती तथा साख का अधिक प्रसार नहीं होता। इसके लिए किस्त साख में अधिकतम भुगतान अवधि निश्चित कर दी जाती है ताकि उपभोक्ता ऋणों का भुगतान शीघ्र कर सके।

2. साख की राशनिंग (Rationinig of Credit)- साख राशनिंग विधि के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक अन्य सम्बद्ध बैंकों को दी जाने वाली साख की मात्रा निश्चित कर देता है, जिससे कोई भी बैंक अधिक मात्रा में साख का निर्माण नहीं कर सकता हैं। केन्द्रीय बैंक साख की राशनिंग निम्नांकित विधियों से कर सकता है–

(i) किसी सम्बद्ध बैंक की पुनः भुनाने की सुविधा को पूर्णतः समाप्त कर सकता है।
(ii) सभी बैंकों की पुनः भुनाने की सुविधा को कम कर सकता है।
(iii) विभिन्न सम्बद्ध बैंकों के लिए साख का कोटा निश्चित कर सकता है।
(iv) विभिन्न उद्योगों या व्यवसायों के लिए साख की सीमा निश्चित कर सकता है।

3. उपभोक्ता साख का नियमन (Regulagion of Consumer Credit)- इस विधि का प्रयोग प्रायः मुद्रा–स्फीति को रोकने के लिए किया जाता है। मुद्रा–स्फीति काल में उपभोग वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। इस विधि का उद्देश्य साख नियन्त्रण द्वारा उपभोग वस्तुओं की कीमतों को नीचे लाना होता है। इसके अन्तर्गत उपभोक्ताओं को दी जाने वाली किश्त सम्बन्धी सुविधाएँ कम कर दी जाती हैं। इससे उपभोक्ताओं की वस्तु सम्बन्धी माँग कम हो जाती है और मुद्रा स्फीति के दुष्प्रभावों को रोकने में बहुत सहायता मिलती है।

4. विज्ञापन एवं प्रचार (Publicity and Propaganda)- साख नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक को अपनी नीति का व्यापक प्रचार तथा विज्ञापन करना पड़ता है। इसीलिए बैक समय–समय पर देश की आर्थिक स्थिति के बारे में विचार व्यक्त करता है और इसके प्रकाशनों को देश के बैंकों तथा अन्य संस्थाओं में वितरित किया जाता है जिससे कि वे केन्द्रीय बैंक के विचारों से अवगत रहें।

5. नैतिक दबाव (Moral Persuasion)- कभी–कभी केन्द्रीय बैंक सम्बद्ध बैंकों को समझा–बुझाकर तथा नैतिक दबाव डालकर उन्हें इस बात के लिए राजी कर देता है कि वे उसकी साख सम्बन्धी नीति का अनुसरण करें। चूँकि केन्द्रीय बैंक देश के मुद्रा–बाजार का नेतृत्व करता है और उसके पास विशाल आर्थिक साधन होते हैं, अतः सम्बद्ध बैंक केन्द्रीय बैंक के परामर्श की आसानी से उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

6. प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)- जब सम्बद्ध बैंकों पर समझाने–बुझाने तथा नैतिक दबाव का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो विवश होकर केन्द्रीय बैंक को उनके विरुद्ध प्रत्यक्ष कार्यवाही करनी पड़ती है। इस नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक असहयोगी बैंकों के विनिमय–पत्रों की पुर्नकटौती करना बन्द कर देता है और उसके कार्यों पर अन्य प्रतिबन्ध भी लगा देता है, जैसे–सामान्य से अधिक ब्याज मांग सकता है। इस प्रकार सम्बद्ध बैंक केन्द्रीय बैंक के आदेशों की उपेक्षा नहीं कर सकते। प्रायः केन्द्रीय बैंक इस रीति का उपयोग साख का संकुचन करने के लिए उस समय करता है जब सम्बद्ध बैंक राष्ट्रीय बैंक को यथोचित सहयोग नहीं देते हैं।

6.4 साख नियन्त्रण की कठिनाइयाँ (Difficulties of Credit Control)

साख नियन्त्रण की प्रमुख कठिनाइयां निम्नलिखित हैं–

1. साख–नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक बड़ी कठिनाई यह है कि देश के सभी बैंकों तथा बैंकरों पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण नहीं होता, जैसा कि भारत में देखने को मिलता है। साख का सफलतापूर्वक नियन्त्रण करने के लिए यह आवश्यक है कि देश के सभी बैंकों तथा बैंकरों पर केन्द्रीय बैंक का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए।

2. कभी–कभी सम्बद्ध बैंक केन्द्रीय बैंक को अपना पूरा सहयोग नहीं देते, जिससे केन्द्रीय बैंक को साख नियन्त्रण में सफलता नहीं मिल पाती है।

3. प्रत्येक देश में कुछ गैर–वित्तीय संस्थाएँ भी होती हैं, जो बहुत कुछ साख निर्माण को प्रभावित करती हैं किन्तु इन संस्थाओं पर केन्द्रीय बैंक का कोई नियन्त्रण नहीं होता है, इसलिए केन्द्रीय बैंक प्रभावी ढंग से साख नियन्त्रण करने में असफल रहता है।

4. कुछ देशों में मुद्रा तथा पूँजी बाजार केन्द्रीय बैंक की नीतियों अथवा निर्देशनों से विशेष प्रभावित नहीं होते है। कभी–कभी तो स्वयं केन्द्रीय बैंक ही मुद्रा बाजार के वातावरण से प्रभावित होकर उसके पीछे चलता है। भारत तथा अन्य विकासशील देशों में प्रायः ऐसा ही होता है। भारत में बैंक–दर प्रायः मुद्रा बाजार में प्रचलित दरों से पीछे रहती है, अतः ऐसी दशा में साख–नियन्त्रण की आशा कैसे की जा सकती है।

5. केन्द्रीय बैंक को साख के अन्तिम उपयोग पर नियन्त्रण लागू करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को आदेश देता है कि सट्टेबाजी के लिए ऋण न दिये जाये तो यह सम्भव है कि बैंकों के ग्राहक व्यापारिक कार्यों के लिए ऋण लेकर उनका उपयोग सट्टा कार्यों के लिए करें। इससे केन्द्रीय बैंक को साख नियन्त्रण करने में सफलता नहीं मिल पाती।

6.5 सारांश

इस प्रकार साख के परिमाणात्मक तथा गुणात्मक नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक अनेक रीतियों का प्रयोग आवश्यकतानुसार कर सकता है। यह कहना बहुत कठिन है कि कौन सी रीति अधिक उपयुक्त है और कौन–सी कम। वास्तव में, यह देश की आर्थिक व्यवस्था तथा समस्याओं के स्वरूपा पर निर्भर करता है कि कौन सी रीति किसी देश के लिए अधिक प्रभावपूर्ण हो सकती है। व्यवहार में, केन्द्रीय बैंक प्रायः साख–नियन्त्रण की परिमाणात्मक रीतियों के साथ–साथ गुणात्मक नियन्त्रण की रीतियों को भी आवश्यकतानुसार समुचित एवं सन्तुलित प्रयोग करने का प्रयास करता है। कोई एक नीति चाहे कितनी ही प्रभावपूर्ण क्यों न हो, अकेले साख का नियन्त्रण नहीं कर पाती। यह प्रभावपूर्ण तभी होती है जब इसे अन्य रीतियों का भी सहयोग प्राप्त हो। सामान्यतः ऐसा देश जिसमें मुद्रा–प्रसार तथा मुद्रा–संकुचन के कुप्रभावों को दूर करना हो, वहाँ परिमाणात्मक साख–नियन्त्रण का सापेक्षिक महत्व अधिक होता है। इसके विपरीत, यदि किसी देश में योजनाबद्ध आर्थिक विकास करना है तो वहाँ गुणात्मक साख–नियन्त्रण को विशेष महत्व देना आवश्यक हो जाता है।

6.6 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- साख नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2- केन्द्रीय बैंक की परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख–नियन्त्रण रीतियों का वर्णन कीजिए। इनमें कौन सी रीति सर्वश्रेष्ठ है?

प्रश्न 3- साख नियन्त्रण की आवश्यकताओं का विवेचन कीजिए तथा यह बताइए कि साख को नियन्त्रित करने में केन्द्रीय बैंक को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है?

6.7 शब्दावली

विनिमय स्थिरता	:	Stability of Exchange
कटौती दर	:	Discount Rate
सस्ती मुद्रा नीति	:	Cheap Money Policy
रेपो दर	:	Repo Rate
तरलता प्रभाव	:	Liquidity Effect
सन्निकट मुद्रा	:	Near Money

6.8 सन्दर्भ सूची

R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chapt : 1
A. K. Basu	:	Fundamentals of Banking Theory and Practice
G. Crowther	:	An Outline of Money, Chapt : 2
R. P. Kent	:	Money and Banking Chapt : 9
G. N. Halm	:	Economics of Money and Banking
M. L. Jhingan	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र
M. C. Vais	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र

इकाई 06
भारतीय रिजर्व बैंक
(Reserve Bank of India)

रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 बैंक का प्रबन्धन
6.3 रिजर्व बैंक के विभाग
6.4 रिजर्व बैंक के कार्य
6.5 रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य
6.6 भारतीय रिजर्व बैंक की प्रमुख सफलताएं
6.7 भारतीय रिजर्व बैंक की असफलताएं
6.8 मौद्रिक नीति की आवश्यकता
6.9 मौद्रिक नीति के उद्देश्य
6.10 मौद्रिक नीति के उपकरण
6.11 मौद्रिक नीति की सीमाएं
6.12 सारांश
6.13 बोध प्रश्न
6.14 शब्दावली
6.15 सन्दर्भ सूची

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत भारतीय रिजर्व बैंक के बारे में विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है। भारत में निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना की गई।

1. देश में साख व मुद्रा की मात्रा को उसी कुल मांग के अनुरूप बनाये रखना।

2. देश में बैंकिंग संकट को रोकने एवं मुद्रा बाजार में लोच पैदा करने के लिए सभी बैंकों से नकद कोष प्राप्त कर एक दृढ़ केन्द्रीय कोष का निर्माण करना।

3. रुपये के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्यों में स्थिरता लाना।

4. सरकार के बैंकर के रूप में सरकार की तरफ से ऋण प्राप्त करना, विदेश विनिमय का लेन–देन करना तथा सम्बन्धित विषय पर सरकार को सलाह देना।

5. भारतीय मुद्रा एवं साख व्यवसाय तथा बैंकिंग व्यवसाय आदि से सम्बद्ध अनेक विषयों पर ऑकड़े एकत्रित कर उसे प्रकाशित करना।

6. विदेशों से मौद्रिक सम्बन्ध स्थापित करना।

7. कृषि साख सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए प्रत्यक्ष सहायता देना।

8. मुद्रा और साख की मात्रा में परिवर्तन का आर्थिक नीति पर क्या प्रभाव पड़ता है?

9. मौद्रिक नीति का नियमन कौन करता है?

10. मौद्रिक नीति के उद्देश्य क्या होते हैं?

11. मौद्रिक उपकरणों के द्वारा नीति निर्धारण में कहाँ तक सफलता मिलती है?

6.1 प्रस्तावना

केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति तथा हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने 1934 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट पास किया जिसके अनुसार 1 अप्रैल 1935 को रिजर्व बैंक

ऑफ इण्डिया (The Reserve Bank of India) की स्थापना की गई। प्रारम्भ में इस बैंक की स्थापना अंशधारियों के बैंक के रूप में हुई थी जिसकी अंश–पूँजी 5 करोड़ रुपये थी और जिसे 100-100 रुपये के मूल्य के पूर्ण प्रदत्त अंशों (Fully paid up shares) में विभक्त किया गया था। परन्तु 1 जनवरी 1949 में रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तथा सरकार ने बैंक से अंशधारियों को 118 रुपये प्रति अंश की दर पर छतिपूर्ति का भुगतान करके, बैंक पर प्रभुत्व स्थापित करने का अधिकार प्राप्त कर लिया।

6.2 बैंक का प्रबन्धन

भारतीय रिजर्व बैंक का प्रबन्धन निदेशक मण्डल द्वारा किया जाता है जिसके 20 सदस्य होते हैं। सफल संचालन हेतु सम्पूर्ण देश को चार भागों में बांटा गया है– उत्तरी क्षेत्र, दक्षिणी क्षेत्र, पूर्वी एवं पश्चिमी क्षेत्र। इस तरह प्रत्येक क्षेत्र के लिए पांच सदस्यों का एक स्थानीय बोर्ड होता है। निदेशक मण्डल के 20 सदस्यों का चयन निम्न प्रकार होता है–

(i) गवर्नर– रिजर्व बैंक के गवर्नर की नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है, जिसका कार्यकाल पांच वर्ष का होता है। वर्तमान में भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर शक्ति कान्त दास हैं।

(ii) डिप्टी गवर्नर– डिप्टी गवर्नर की नियुक्ति भी केन्द्र सरकार द्वारास पाँच वर्षों के लिए की जाती है। इस समय चार डिप्टी गवर्नर हैं।

(iii) निदेशक– केन्द्र सरकार द्वारा 4 संचालक चारों स्थानीय वोर्डों के लिए तथा 10 अन्य संचालकों की भी नियुक्ति चार वर्षों के लिए की जाती है।

(iv) सरकारी अधिकारी– भारत सरकार द्वारा सरकारी प्रतिनिधि के रूप में एक सरकारी अधिकारी की नियुक्ति की जाती है जो प्रायः भारत सरकार का वित्त सचिव होता है।

रिजर्व बैंक का मुख्य कार्यालय मुम्बई में स्थित है किन्तु सफल संचालन हेतु स्थानीय प्रधान कार्यालयों की स्थापना चारों क्षेत्रों (दिल्ली, कोलकाता, मुम्बई एवं चेन्नई) में की गयी है।

भारतीय रिजर्व बैंक में केन्द्रीय मण्डल के अतिरिक्त चार स्थानीय मण्डल भी भारत सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं जिनका कार्यकाल चार वर्ष का होता है और जिनका मुख्य कार्य केन्द्रीय मण्डल को सलाह देना होता है।

6.3 रिजर्व बैंक के विभाग

विभिन्न कार्यों को सम्पादित करने के लिए रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के प्रमुख विभाग निम्नलिखित हैं–

1. निर्गमन विभाग– भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा जिन नोटों का निर्गमन किया जाता है, उनका सम्पादन बैंक के इसी विभाग द्वारा किया जाता है। नोटों की आवश्यकता पड़ने पर यह विभाग उसकी व्यवस्था करता है। इस कार्य को सम्पादित करने के लिए निर्गमन विभाग के दस कार्यालय (मुम्बई, कोलकाता, बंगलौर, वामकुला, हैदराबाद, कानपुर, चेन्नई, नागपुर, नई दिल्ली तथा पटना) तथा चार कार्यालय (जयपुर, गोहाटी, भुवनेश्वर, अहमदाबाद) हैं जो निर्गमन विभाग को कागजी मुद्रा की पूर्ति का कार्य सम्पन्न करते हैं।

2. बैंकिंग विभाग– बैंकों का बैंक होने के कारण बैंकों के कार्यों की देख–रेख भारतीय रिजर्व बैंक के बैंकिंग विभाग द्वारा किया जाता है। इसकी स्थापना 1950 में की गयी थी। इसका मुख्य कार्य बैंकों की जमा पूँजी का एक निश्चित भाग अपने पास जमा करवाना है। इसके अतिरिक्त सरकार के लिए ऋण की व्यवस्था करना तथा अन्य प्रकार के लेन–देन का कार्य भी यह विभाग करता है।

3. सांख्कीय विश्लेषण विभाग– भारतीय रिजर्व बैंक के इस विभाग का कार्य बैंकिंग तथा अन्य आर्थिक क्षेत्रों से सम्बन्धित वित्तीय आंकड़े एकत्रित करना होता है। ये ऑकड़े वर्गीकरण करने के बाद प्रकाशित किये जाते हैं। रिजर्व बैंक का प्रमुख प्रकाशन "Report on Curency and Finance" है।

4. आर्थिक विश्लेषण विभाग– भारतीय रिजर्व बैंक ने इस विभाग द्वारा देश की आर्थिक समस्याओं का अनुसन्धान एवं सर्वेक्षण किया जाता है। इस विभाग के 9 उपविभाग हैं जिसमें एक–एक निदेशक होता है। इस विभाग द्वारा जारी किये गये अनुसंधानों का प्रकाशन बैंक की मासिक पत्रिका द्वारा होता है।

5. निरीक्षण विभाग– भारतीय रिजर्व बैंक का यह विभाग समय–समय पर रिजर्व बैंक की शाखाओं का निरीक्षण करवाता है। परिणामस्वरूप विद्यमान अनियमिततओं का सुधार किया जाता है।

6. औद्योगिक एवं निर्यात ऋण विभाग– यह विभाग निर्यात ऋण एवं औद्योगिक वित्त सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिए नीतियाँ तय करता है। इन समस्याओं के लिए समय–समय पर अनुसंधान एवं उसका प्रकाशन होता रहता है।

7. कम्पनी विभाग– मार्च 1966 में इस विभाग की स्थापना की गयी। इसका मुख्य कार्यालय कोलकाता में बनाया गया। भारतीय रिजर्व बैंक का यह विभाग गैर बैंकिंग कम्पनियों द्वारा स्वीकार की गई जामाओं पर नियन्त्रण करता है।

8. विदेशी मुद्रा नियन्त्रण विभाग– रिजर्व बैंक के इस विभाग द्वारा विदेशी विनिमय लेन–देन सम्बन्धी क्रियाओं का नियन्त्रण किया जाता है तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी सरकारी कार्यों के लिए विदेशी मुद्रा की व्यवस्था की जाती है।

9. आन्तरिक ऋण प्रबन्धन विभाग– 1 अक्टूबर 1992 को आन्तरिक ऋण प्रबन्धन नीतियों के सफल संचालन हेतु रिजर्व बैंक द्वारा आन्तरिक ऋण प्रबन्धन कक्ष की स्थापना की गयी।

10. स्वर्ण प्रबन्धन विभाग– वर्ष 1992 में ही आर्थिक समायोजन में स्वर्ण को सम्भावित उपयोग तथा जनता से स्वर्ण प्राप्त कर विकास को सुनिश्चित करने के लिए रिजर्व बैंक द्वारा इस विभाग की स्थापना की गयी।

11. मानव संसाधन विकास विभाग– भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा 1995 में इस विभाग की स्थापना इस उद्देश्य से की गई कि इसके द्वारा सेमिनार के जरिए रिजर्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन किया जायेगा तथा यह जानने का भी प्रयास होगा कि इसके कर्मचारियों को अपने कार्यों से कितना संतोष प्राप्त होता है।

6.4 रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्य
(Main Functions of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक होने के कारण कई प्रकार के कार्य सम्पन्न करता है। इन कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य।

(ख) साधारण बैंकिंग कार्य।

इन कार्यों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

(क) केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी कार्य

1. कागजी मुद्रा (नोटों) का निर्गमन– एक रुपये के नोट को छोड़कर अन्य सभी मूल्यांकन के नोटों की निकासी करने का रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को एकमात्र अधिकार प्राप्त है। बैंक का निकासी विभाग अपनी परिसम्पत्ति के आधार पर (जिसमें स्वर्ण सिक्के और धातु, विदेशी प्रतिभूतियाँ, भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियाँ तथा भारत में भुगतान होने वाले विनिमय विपत्र सम्मिलित होते हैं) नोटों

की निकासी करता है। 1956 तक नोटों की निकासी आनुपातिक कोष प्रणाली के आधार पर की जाती थी, परन्तु बैंक अधिनियम में 1956 और 1957 में हुये संशोधन के अनुसार अब नोटों की निकासी आनुपातिक कोष प्रणाली के आधार पर की जाती है। इस व्यवस्था के अनुसार रिजर्व बैंक अपने पास 115 करोड़ रुपये के स्वर्ण सिक्के और धातु तथा 85 करोड़ रुपये की प्रतिभूतियों (कुल मिलाकर 200 करोड़ रुपये का न्यूनतम कोष) का न्यूनतम कोष रखकर आवश्यक परिमाण में नोटों की निकासी कर सकता है।

2. साख का नियन्त्रण (Control of Credit)- रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का एक प्रमुख कार्य साख कर नियमन करना है। देश में साख के नियमन का वैधानिक आधार रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट (1934) और भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट (1949) हैं। इन दोनों कानूनों के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को साख मुद्रा के नियमन सम्बन्धी अनेक प्रत्यक्ष एवं परोक्ष शक्तियाँ प्राप्त हैं। साख नियन्त्रण के द्वारा रिजर्व बैंक मौद्रिक नीति के तीन महत्वपूर्ण उद्देश्यों (विनिमय स्थिरता, मूल्य स्थिरता और आर्थिक स्थिरता) को प्राप्त करने का प्रयास है।

3. सरकार का बैंक– रिजर्व बैंक भारत सरकार तथा राज्य सरकारों का बैंकर है। इस प्रकार यह सब सरकारों के समस्त बैंकिंग सम्बन्धी कार्य करता है, यथा–

(i) रिजर्व बैंक भारत सरकार तथा राज्य सरकारों की ओर से धन वसूल करता है और उनके आदेशानुसार इसका भुगतान भी करता है। ध्यान रहे, सरकारी जमाराशियों पर रिजर्व बैंक ब्याज नहीं देता है।

(ii) भारत सरकार तथा राज्य सरकारें रिजर्व बैंक के माध्यम से ही सार्वजनिक ऋण प्राप्त करती हैं। रिजर्व बैंक भारत सरकार एवं राज्य सरकारों को अल्पकालीन ऋण भी देता है।

(iii) सरकार का बैंकर होने के नाते रिजर्व बैंक सरकारी कोषों का स्थानान्तरण भी करता रहता है।

(iv) रिजर्व बैंक भारत सरकार एवं राज्य सरकारों के लिए विदेशी–विनिमय की व्यवस्था भी करता है।

(v) रिजर्व बैंक भारत सरकार तथा राज्य सरकारों को मुद्रा, साख तथा अन्य आर्थिक समस्याओं के विषय में समय–समय पर निःशुल्क परामर्श भी देता रहता है जिससे इन सरकारों को आर्थिक नीतियों के निर्माण में बहुत सहायता मिलती है।

4. बैंकों का बैंकर– केन्द्रीय बैंक होने के कारण रिजर्व बैंक बैंकों का बैंक है, इसलिए आवश्यकता के समय यह अनुसूचित बैंकों को आर्थिक सहायता भी देता है। रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों द्वारा सृजित की गई साख पर नियन्त्रण रखता है और विभिन्न उपायों द्वारा समय–समय पर उसका विनिमय करता रहता है। रिजर्व बैंक चाहे जब, किसी भी अनुसूचित बैंक का निरीक्षण कर सकता है। यदि किसी बैंक की कार्यविधि में त्रुटियाँ पाई जाती हैं, तो उनको दूर करने के लिए सुझाव दे सकता है। नई बैंक स्थापित करने के लिए लाइसेन्स प्रदान करता है। पुराना बैंक नये स्थानों पर रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति लेकर ही अपनी शाखाएँ स्थापित कर सकता है। दुर्बल आर्थिक स्थिति वाले बैंक को बन्द करने के लिए आदेश दे सकता है।

5. रुपये की विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखना– यह रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। इसके लिए रिजर्व बैंक प्रारम्भ से ही निश्चित दरों पर विदेशी विनिमय का क्रय–विक्रय करता रहा है।

6. कृषि साख की व्यवस्था करना– रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग कृषि साख से सम्बन्धित समस्याओं के विषय में अनुसंधान करता है। कृषि साख का विकास करने के लिए भारत सरकार, राज्य सरकारों तथा सरकारी बैंकों को समय–समय पर परामर्श भी देता है। यह विभाग राज्य सरकारों तथा भारत सरकार को देश के विभिन्न क्षेत्रों में गोदामों की स्थापना करने के लिए आर्थिक सहायता तथा सहयोग प्रदान करता है।

7. समाशोधन गृह का कार्य करना– केन्द्रीय बैंक होने के कारण रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों के लिए समाशोधन गृह का कार्य भी करता है। इस प्रकार की सुविधा देकर रिजर्व बैंक सदस्य बैंकों में रुपये के स्थानान्तरण को सुविधाजनक बनाता है।

8. आर्थिक ऑकड़ों का एकत्रीकरण व प्रकाशन– रिजर्व बैंक मुद्रा, साख बैंकिंग वित्त, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन आदि से सम्बन्धित ऑकड़ें एकत्रित करता है और उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्षों को रिपोर्टों के रूप में प्रकाशित भी करता है।

(ख) साधारण बैंकिंग कार्य

1. रिजर्व बैंक भारत सरकार और राज्य सरकारों से निक्षेप (Deposits) स्वीकार करता है।

2. रिजर्व बैंक भारत में लिखे गये व्यापारिक एवं वाणिज्य बिलों व प्रतिज्ञा–पत्रों का क्रय–विक्रय करता है और उनकी पुनर्कटौती (Rediscounting) भी करता है किनतु इस प्रकार के बिल 90 दिनों की अवधि से अधिक के नहीं होनी चाहिए। इस समय पुनर्कटौती की दर 9% है।

3. रिजर्व बैंक भारत में लिखे गये कृषि बिलों का भी क्रय–विक्रय तथा पुर्नकटौती करता है। इस प्रकार के बिल 15 महीनों की अवधि से अधिक के नहीं होने चाहिए।

4. रिजर्व बैंक भारत सरकार तथा राज्य सरकारों की दैनिक कार्यों के संचालन हेतु ऋण भी देता है। यह स्वीकृत प्रतिभूतियाँ, सोने, चाँदी तथा बिलों व प्रतिज्ञा पत्रों की जमानत पर ही दिया जा सकता है। यह ऋण किसी भी स्थिति में 90 दिनों से अधिक की अवधि के लिए नहीं दिया जा सकता।

5. रिजर्व बैंक, यदि चाहे तो किसी भी अनुसूचित बैंक से या हिसी विदेशी केन्द्रीय बैंक से ऋण ले सकता है, जो 30 दिन की अवधि से अधिक का नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का ऋण रिजर्व बैंक की अंश–पूँजी से भी अधिक नहीं होना चाहिए।

6. रिजर्व बैंक अपने कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए विश्व बैंक तथा अन्य विदेशी केन्द्रीय बैंकों में अपना खाता खोल सकता है और विदेशों में अपने एजेण्ट बैंकों को भी नियुक्त कर सकता है।

7. **(i)** हीनार्थ प्रबन्ध की व्यवस्था केन्द्रीय बैंक के माध्यम से की जाती है।

(ii) यह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की प्रतिभूतियों का क्रय–विक्रय भी करता है।

(iii) सरकार का बैंकर, बैंकों का बैंक तथा विदेशी विनिमय का प्रबन्धक होने के साथ–साथ केन्द्रीय बैंक देश के विकास के लिए वित्तीय साधन भी जुटाता है।

(iv) रिजर्व बैंक अर्द्ध–विकसित देशों में अपनी नीति द्वारा मुद्रा बाजार को नियन्त्रित भी करता है।

(v) यह अनुसूचित बैंकों के कम से कम एक लाख रूपये के स्टर्लिंग का क्रय–विक्रय भी कर सकता है।

6.5 रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य
(Prohibited Business of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार इस बैंक के वर्जित कार्य निम्नलिखित हैं–

(i) रिजर्व बैंक व्यापार, वाणिज्य या उद्योग में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं ले सकता और न प्रत्यक्ष रूप में आर्थिक सहायता ही प्रदान कर सकता।

(ii) रिजर्व बैंक अपने या किसी अन्य बैंक अथवा व्यापारिक कम्पनी के शेयर नहीं खरीद सकता और न इनकी प्रतिभूति पर ऋण ही प्रदान कर सकता है।

(iii) रिजर्व बैंक अचल सम्पत्ति की आड़ पर न तो ऋण दे सकता है और न अपने व्यावसायिक कार्यालयों के अतिरिक्त इस प्रकार की सम्पत्ति खरीद ही सकता है।

(iv) रिजर्व बैंक अपने पास जमा धन पर ब्याज नहीं दे सकता।

(v) रिजर्व बैंक प्रतिभूति रहित ऋण (Unsecured Loans) प्रदान नहीं कर सकता।

(vi) रिजर्व बैंक माँग पर शोधनीय होने वाले विपत्रों को न तो लिख सकता है और न भुना ही सकता है।

6.6 भारतीय रिजर्व बैंक की प्रमुख सफलताएँ (Main achievements of Reserve Bank)

एक केन्द्रीय बैंक होने के कारण भारतीय रिजर्व बैंक ने अनेक ऐसे महत्वपूर्ण कार्य किये हैं जिससे देश की अत्याधिक प्रगति हुयी है। रिजर्व बैंक के कुछ कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। इन्हें ही रिजर्व बैंक की सफलता कहते हैं जो निम्न प्रकार हैं–

1. सरकारी बैंकर– देश का केन्द्रीय बैंक होने के कारण भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी बैंकर होने के कारण समय–समय पर भारतीय रिजर्व बैंक ने सरकार की तरफ से न्यूनतम ब्याज दरों पर अस्थायी ऋण का भी प्रबन्ध किया है। रिजर्व बैंक ने आवश्यकता पड़ने पर अल्पकालीन सहायता भी सरकार को उपलब्ध करायी है।

2. पत्र मुद्रा का निर्गमन– भारतीय रिजर्व बैंक को अपनी स्थापना के समय से ही मुद्रा के निर्गमन का एकाधिकार मिला हुआ है। सन् 1956 से पूर्व देश में पत्र के निर्गमन की आनुपातिक कोष प्रणाली प्रचलन में थी किन्तु देश के विकास को गति देने के लिए 1956 में इस प्रणाली को परित्याग कर न्यूनतम जमा प्रणाली अपनाई गई। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में पत्र मुद्रा का निर्गमन करके रिजर्व बैंक ने उद्योग और व्यापार की मात्रा को काफी विस्तृत किया है।

3. साख नियन्त्रण– केन्द्रीय बैंकिंग अधिनियम के अनुसार भारतीय बैंक ने समय पर साख की मात्रा पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित किया है जिससे देश की मुद्रा में पर्याप्त स्थिरता बनी रहेगी।

4. बैंकों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान– केन्द्रीय बैंक होने के कारण भारतीय रिजर्व बैंक बैंकों के भी बैंक के रूप में कार्य करता है तथा मार्गदर्शन में महत्वपूर्ण योगदान देता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व देश में 'बैंकिंग' विकास न के बराबर था, किन्तु अपनी स्थापना के बाद से लेकर आज तक भारतीय रिजर्व बैंक ने देश में एक स्वस्थ बैंकिंग परम्परा का विकास किया है। बैंकों के कर्मचारियों एवं अधिकारियों को प्रशिक्षण देने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक ने समय–समय पर प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की है।

5. सरकारी आर्थिक सलाहकार– स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही रिजर्व बैंक सरकारी आर्थिक सलाहकार के रूप में कार्य करता रहा है। भारतीय रिजर्व बैंक के विशेषज्ञ भारत सरकार के आदेश पर समय–समय पर विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, एशियाई विकास बैंक, कृषि संगठन जैसी आर्थिक संस्थाओं में परामर्श के लिए जाते रहें हैं। भारतीय रिजर्व बैंक के विशेषज्ञों की सहायता से भारत में अनेक निगमों की स्थापना की गयी है। भारत में ही भारतीय जीवन बीमा निगम, यूनिट ट्रस्ट, औद्योगिक विकास बैंक, अनेक राज्य सहकारी बैंक एवं वाणिज्य बैंक आदि भारतीय आर्थिक समस्याओं में भी भारतीय रिजर्व बैंक के विशेष प्रकार कार्य कर रहे हैं।

6. मौद्रिक एवं बिल बाजार के विकास में योगदान– भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद भी काफी दिनों तक भारत में बिल बाजार का अभाव बना हुआ था, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वर्ष 1952 में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा एक बिल बाजार योजना लागू की गयी। वर्ष 1963 में निर्यान विल साख योजना लागू करने का भारतीय रिजर्व बैंक का उद्देश्य अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर अपने ढांचे में बिना किसी प्रकार का परिवर्तन किये अधिक वित्त प्राप्त करना तथा मन्दी के समय उसे लौटाना है। परिणामस्वरूप देश की साख व्यवस्था को लोचपूर्ण बनाया जा सकता है।

7. कृषि वित्त में योगदान– एक कृषि प्रधान राष्ट्र होने के कारण भारतीय रिजर्व बैंक का कृषि वित्त में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। देश में कृषि की उन्नति के लिए भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सहकारी बैंकों को समय–समय पर उदारतापूर्वक ऋण प्रदान किये गये हैं। कृषि वित्त की उन्नति के लिए भारतीय रिजर्व बैंक समय–समय पर केन्द्र सरकार व राजय सरकारों को सहायता एवं परामर्श देता रहा

है। देश के किसानों को सरल बैंकिंग सुविधा उपलब्ध कराने के लिए रिजर्व बैंक की सहायता से क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की भी स्थापना की गयी है। ग्रामीण एवं कृषि का विकास करने के लिए रिजर्व बैंक ने नाबार्ड की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

8. समाशोधन गृहों का संचालन– भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा देश में समाशोधन गृहों की भी व्यवस्था की गयी है। देश में लगभग 853 केन्द्रों पर समाशोधन की व्यवस्था है समाशोधन की व्यवस्था से देश में चेकों के प्रयोग में वृद्धि हुई है क्योंकि इसमें चेकों के माध्यम से ही लेन–देन होता रहता है। समाशोधन की व्यवस्था की आधुनिक बनाने में इसका अधिक से अधिक कार्य कम्प्यूटर से जोड़ दिया गया है। देश के चारों महानगरों में तो पहले से ही कम्प्यूटर के माध्यम से कार्य हो रहा है, वर्तमान में 9 और केन्द्रों में कम्प्यूटर की व्यवस्था कर दी गयी है।

9. विनिमय दरों में स्थायित्व– देश का केन्द्रीय बैंक होने के कारण भारतीय रिजर्व बैंक काफी संकट के समय में रुपये की विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने में सफल रहा है। विदेशी विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी अपना सम्बन्ध बनाये हुए है। वर्तमान समय में मांग–पूर्ति शक्तियों द्वारा विनिमय दर निर्धारित करने एवं उसमें स्थिरता बनाये रखने में रिजर्व बैंक सदैव योगदान देता रहता है।

10. औद्योगिक वित्त में योगदान– रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व देश में औद्योगिक विकास नहीं हुआ था। देश का औद्योगिक विकास करने के लिए औद्योगिक विकास बैंक, औद्योगिक विकास बैंक, औद्योगिक वित्त निगम एवं राज्य वित्त निगम की स्थापना में रिजर्व बैंक का सराहनीय योगदान रहा है। छोटे उद्योगों का विकास करने के लिए भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना की गयी है जिसमें उद्योगों के लिए लगभग 3400 करोड़ रुपये जमा किया जा चुका है।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भारतीय केन्द्रीय बैंक ने भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है परन्तु इसके द्वारा किये गये कुछ कार्य ऐसे भी हैं जहां इसे पूर्ण सफलता नहीं मिल पायी जिसके कारण इसकी कुछ आलोचना भी की जाती है।

6.7 भारतीय रिजर्व बैंक की असफलताएं (Failures of Reserve Bank of India)

1. भारतीय रिजर्व बैंक की सबसे बड़ी सफलता यह बताई जाती है कि योजनाकाल से मुद्रा पूर्ति तेजी से बढ़ गई है। इस बढ़ती हुई मुद्रा पूर्ति ने देश में मुद्रा––स्फीति की समस्या उत्पन्न की है। इस वृद्धि के लिए अकेले भारतीय रिजर्व बैंक को दोषी ठहराना ठीक नहीं है क्योंकि योजना काल में सरकार द्वारा भारी मात्रा में घाटे के बजट बनाये गये जिनमें मुद्रा प्रसार हुआ और जनता को कष्ट हुआ।

2. भारतीय रिजर्व बैंक की असफलता की दूसरी बात यह है कि वह भारतीय रुपये के विदेशी मूल्य को स्थिर रखने में सफल नहीं हुआ है। यही कारण है कि देश में भारतीय रुपए का तीन बार अवमूल्यन किया गया। डालर में भारतीय रुपए का मूल्य उत्तरोत्तर घटते हुए वर्तमान में 1 डालर = 80 रुपये के ऊंचे स्तर को भी पार कर चुका है।

3. भारतीय रिजर्व बैंक के अथक प्रयासों के बावजूद भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अभी भी लोगों का पर्याप्त मात्रा में बैंकिंग सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। भारत में वर्तमान में 16,000 की आबादी पर एक बैंक शाखा है जिसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

4. भारतीय मुद्रा बाजार में जब तक देशी बैंकर का प्रभुत्व बना हुआ है तब तक भारतीय रिजर्व बैंक की मुद्रा या साख नीति सफल नहीं हो सकती। भारतीय रिजर्व बैंक देशी बैंकरों को अपने नियन्त्रण में लाने में सफल नहीं हो सका। इसलिए बैंकिंग तथा मौद्रिक नीतियों का पालन कराने में समर्थ नहीं है।

5. हम यह तो नहीं कह सकते कि पहले की तुलना में आज हमारे देश का मुद्रा बाजार विकसित नहीं है, किन्तु जितना संगठित मुद्रा बाजार एव ंबिल बाजार देश होना चाहिए उतना नहीं हो पाया है। इस दिशा में भारतीय रिजर्व बैंक को और अधिक प्रयास करने की आवश्यकता है।

6. विगत दशक में शेयर बाजार के हर्षद मेहता एवं केतन पारिख द्वारा बड़ी धनराशि का घोटाला जो कुछ व्यापारिक बैंकों की मिली भगत से किया गया, उसने हमारी बैंकिंग व्यवस्था और भारतीय रिजर्व बैंक की नियन्त्रण क्षमता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। प्रतिभूति घोटाले में सबसे बड़ा पूंजी निवेश देश के ही एक बड़े बैंकिंग समूह ने किया। भारतीय रिजर्व बैंक ने न तो प्रमुख बैंकों की आडिट रिपोर्ट का अध्ययन किया और न ही घोटाले के प्रारम्भिक प्रभावों को रोकने के लिए समय पर कदम उठाये। जो भी निर्देश भारतीय रिजर्व बैंक ने जारी किये अनेक बैंकों ने उनका उल्लंघन किया।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा जो कार्य विभिन्न दिशाओं में किये गये हैं, वे पर्याप्त नहीं हैं। एक विकासशील राष्ट्र का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को मुद्रा–व्यवस्था तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति सुधारने की दिशा में भागीरथ प्रयत्न करने होंगे।

6.8 मौद्रिक नीति की आवश्यकता
(Needs of Monetary Policy)

पिछले तीस वर्षों में संसार की आर्थिक नीतियों तथा परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन हो गए हैं जिनके कारण मौद्रिक नीति की उपयोगिता निरन्तर बढ़ती जा रही है। परन्तु उसकी सफलता के मार्ग में अत्यधिक कठिनाइयां भी उत्पन्न हो गई हैं जो निम्न हैं–

1. यह सत्य है कि कुछ देशों में गत वर्षों में बेरोजगार व्यक्यिों की संख्या में वृद्धि हुई है। परन्तु इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि इन प्रयत्नों के बिना बेरोजगारों की संख्या और अधिक होती। वस्तुतः गत वर्षों में काम दिलाने के अनेक नए क्षेत्र निकाले गए हैं।

2. रोजगार की स्थिति में सुधार होने तथा उत्पादन की नई पद्धतियों का प्रयोग होने का कारण प्रायः सभी देशों की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है जिससे लोगों के रहन–सहन, उपभोग के स्तर, बचत करने की शक्ति तथा विनियोग करने की प्रवृत्ति में व्यापक वृद्धि हुई है। इन सब क्रियाओं से स्फीतिक वातावरण की उत्पत्ति हुई है। इस स्फीति को रोकने के लिए उचित मौद्रिक नीति आवश्यक है।

3. द्वितीय युद्ध के पश्चात् विकसित तथा अविकसित सभी देशों में मुद्रा–स्फीति अधिक बढ़ी है अतः मुद्रा अधिकारियों के लिए मुद्रा मूल्यों में स्थिरता बनाए रखकर आर्थिक विकास करने तथा बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने की समस्या लगभग स्थाई हो गई है।

4. गत वर्षों में अधिकांश देशों में भुगतान सन्तुलन निरन्तर प्रतिकूल रहने की प्रवृत्ति रही है क्योंकि उनमें आर्थिक विकास की योजनाओं के कारण आयातों की राशि में निरन्तर वृद्धि हुई है और भविष्य में वृद्धि होने की सम्भावना है। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की समस्या का गम्भीर हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। मुद्रा अधिकारियों के लिए यह समस्या भी गम्भीर है जिसे हल करने के लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति की आवश्यकता है।

6-9 मुद्रा नीति के उद्देश्य
(Objectives Of Monetary Policy)

मौद्रिक नीति के विभिन्न उद्देश्य होते हैं और एक देश के लिए प्राथमिकता के क्रम में इन उद्देश्यों का चुनाव करना होता है। इसका कारण यह है कि इन उद्देश्यों में कभी–कभी संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। अतः यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि कोई भी मौद्रिक नीति चाहे वह कितनी भी सुविचारित (Well thought) हो अथवा कुशलता से कार्यन्वित की जाय, विभिन्न परस्पर विरोधी उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकती।

सामान्य रूप से मौद्रिक नीति के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए।

(I) रोजगार की स्थाई एवं उच्चस्तरीय स्थिति बनाए रखना
(Maintenance Of A High And Stable Level Of Employment)

पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना मौद्रिक नीति का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य है। मन्दी (depression) के युग में प्रायः सभी देशों में बेरोजगार की स्थिति व्याप्त हो गई और कीन्स के

रोजगार सिद्धान्त में इस बात का प्रबल समर्थन किया गया कि रोजगारी के स्तर को बनाए रखने के लिए मौद्रिक नीति का प्रयोग किया जाना चाहिए।

यदि केन्द्रीय बैंक ब्याज की दर में कमी कर साख सस्ती कर दे तो व्यापारिक बैंक अधिक उधार देने लगेंगे। पुरानी औद्योगिक इकाइयों में ब्याज दर कम हो जाने से लागत में कुछ कमी आ जाएगी जिससे वे अपने यहां काम करने वाले व्यक्तियों का रोजगार बनाए रख सकेंगे। इसके अतिरिक्त सस्ती पूंजी उपलब्ध हो जाने के कारण नई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना में प्रोत्साहन मिलता है जिससे नए व्यक्तियों को रोजगार मिलता है।

मौद्रिक नीति द्वारा एक ओर तो रोजगार का स्तर ऊंचा बनाए रखने में सहायता मिल सकती है, दूसरी ओर मन्दी से उत्पन्न आर्थिक अवासद को दूर करने में सहयोग मिल सकता है। कीन्स ने रोजगार का उच्च स्तर बनाए रखने के लिए प्रभावी मांग (effective demand) पर बहुत बल दिया। प्रभावी मांग का स्तर ऊंचा बनाए रखने के लिए जनता की आय का स्तर ऊंचा रखा जाना आवश्यक है। मौद्रिक नीति इस कार्य में महत्वपूर्ण योग दे सकती है।

एक तो पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त करना और दूसरे, अर्थव्यवस्था को उस स्तर पर बनाए रखना। प्रो. कीन्स के अनुसार विनियोग में वृद्धि कर रोजगार को बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विनियोग से अर्थव्यवस्था में उस बिन्दु तक स्फीति को कोई खतरा उपस्थित नहीं होता जब तक कि सम्पूर्ण अप्रयुक्त साधनों का प्रयोग न कर लिया जाय। जब अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की सन्तुलन अवस्था में पहुंच जाती है तो विनियोग और बचत में भी सन्तुलन होना आवश्यक है। इस स्थिति के बाद विनियोग की मात्रा बचत से अधिक नहीं होनी चाहिए अन्यथा अर्थव्यवस्था में मुद्रा–स्फीति की दशा उत्पन्न हो जायगी। **प्रो. क्राउथर** के अनुसार, "मौद्रिक नीति का स्पष्ट उद्देश्य पूर्ण रोजगार बिन्दु पर बचत और विनियोग में सन्तुलन स्थापित करना होना चाहिए।" यह सन्तुलन ब्याज की दर के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है जो मौद्रिक नीति का आवश्यक अंग है।

(II) मूल्य में स्थायित्व बनाए रखना
(Maintenance Of Price Stability)

कीमतों में स्थिरता को भी मौद्रिक नीति का उद्देश्य माना जाता है। मुद्रा–स्फीति से कुछ वर्गों को लाभ होता है तथा कुछ वर्गों को काफी हानि होती है। इस दृष्टि से कीमतों में स्थिरता से मुद्रा का मूल्य स्थिर रहता है। उसके साथ ही स्थिर कीमतों से चक्रीय उच्चावचनों को दूर किया जा सकता है, आर्थिक स्थिरता प्राप्त की जा सकती है, आय एवं सम्पत्ति की असमानता दूर की जा सकती है तथा सामाजिक न्याय स्थापित कर आर्थिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है।

अर्थव्यवस्था में साधनों का उचित आबण्टन करने के लिए भी कीमतों में भेदात्मक (Differential) परिवर्तन आवश्यक है। उत्पादन लागत में परिवर्तन होने पर भी कीमतों में परिवर्तन आवश्यक है। इस अर्थ में कीमतों में होने वाला मामूली परिवर्तन कीमतों के स्थायित्व के समकक्ष ही होगा। प्रो. सैम्युलसन एवं प्रो. कीन्स ने भी मत व्यक्त किया है कि दो प्रतिशत वार्षिक मुद्रा–स्फीति उद्यमियों को प्रोत्साहित करने तथा उच्चस्तरीय रोजगार की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

स्थिर कीमतों की नीति के पालन में कुछ कठिनाइयां सामने आती हैं। पहली समस्या तो यह है कि किस प्रकार की कीमत स्तर में स्थिरता लाई जाय? फुटकर या थोक कीमतों में स्थिरता लाई जाय, उपभोक्ता कीमतों को स्थिर किया जाय या उत्पादक वस्तुओं को, सामान्य कीमतों को स्थिर किया जावे अथवा सापेक्षिक कीमतों को।

उपरोक्त विवरण का निष्कर्ष यह है कि शब्दिक अर्थ में स्थिर कीमतों की नीति वांछनीय नहीं है। कीमतों में कुछ वृद्धि आर्थिक विकास की दृष्टि से आवश्यक है। **प्रो० हेयक** ने भी यह मत स्पष्ट किया है कि मूल्य स्थिरता की धारणा एक गतिशील अर्थव्यवस्था के अनुकूल नहीं है।

(III) विनिमय–स्थिरता
(Exchange Stability)

जब स्वर्णमान प्रचलन में था, उस समय विनिमय दर में स्थिरता बनाए रखना मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य था। किन्तु 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के बाद विनिमय दर का महत्व कम हो गया एवं

मूल्य–स्थिरता को अधिक महत्व दिया गया। यह अनुभव किया गया कि यदि सब देशों में मूल्य स्थिर रहते हैं तो विनिमय दरों में भी उच्चावचन नहीं होते।

मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय दर में स्थिरता होना चाहिए, इसके पक्ष में निम्न तर्क दिए जाते हैं–

1. यदि विनिमय दरों में अस्थिरता रहती है तो अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय एवं व्यापारिक सम्बन्धों को आघात लगता है और देशों में अपेक्षित सहयोग स्थापित नहीं हो पाता, अतः आवश्यक है कि विनिमय दरों में स्थिरता रहे।

2. यदि विनिमय दरों में अस्थिरता रहती है तो विदेशी विनिमय बाजार में सट्टेबाजी की क्रियाएं उत्पन्न होने लगती हैं जिसका अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी और साख पर विपरीत प्रभाव पड़ता है, अतः विनिमय दरों में स्थिरता रहती चाहिए।

3. यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तो वहां विदेशी विनिमय का संकट उपस्थित हो जाता है एवं ऐसे देश को आवश्यक आयातों में कठिनाई पैदा हो जाती है। इसका देश के आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़ता है अतः यह आवश्यक है कि देश में भुगतान सन्तुलन की स्थिति विद्यमान रहनी चाहिए। इस दृष्टि से मौद्रिक नीति का प्रयोग भुगतान सन्तुलन को ठीक स्तर पर बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद विनिमय दरों में स्थिरता का दायित्व मुद्रा कोष को सौंपा गया एवं मौद्रिक नीति का लक्ष्य आन्तरिक कीमतों में स्थिरता रखा गया। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि निम्न देशों की अर्थव्यवस्था में विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण स्थान है, उन्हें विनिमय दरों में स्थिरता रखने के लिए मौद्रिक नीति का अपेक्षित अधिक प्रयोग करना चाहिए।

(IV) आर्थिक विकास
(Economic Growth)

अर्थव्यवस्था का द्रुत गति से आर्थिक विकास करना वर्तमान में मौद्रिक नीति का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य हो गया है। आर्थिक विकास "एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक देश की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय दीर्घकालीन अवधि में बढ़ती है।" अर्थिक विकास का माप इस बात से होता है कि देश में पैदा की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में किस गति से वृद्धि हो रही है।

कुछ वर्ष पूर्व तक यह समझा जाता था कि पूर्ण रोजगार से आर्थिक विकास में सहायता मिलती है और बेरोजगारी आर्थिक विकास में बाधक है। अतः जो कदम पूर्ण रोजगार प्राप्ति के लिए उठाए जाएंगे उनसे आर्थिक विकास में सहायता मिलेगी किन्तु वर्तमान युग में स्वीकार कर लिया गया है कि कुछ परिस्थितियों में यह सही नहीं है। उदाहरण के तौर पर, कुछ विशेष परिस्थितियों में पूर्ण रोजगार का उत्पादन की लागत तथा मूल्यों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जो आर्थिक विकास में सहायक नहीं है।

नीति के प्रयोग में बाधाएं व कठिनाइयां

ब्याज की ऊंची दरें भी आर्थिक विकास में एक हद तक बाधक हो सकती हैं क्योंकि इससे लागत में वृद्धि हो जाती है और लागत वृद्धि हो जाने से उत्पादन का क्रम बिगड़ जाने का भय रहता है। किन्तु ब्याज की दरें एक ओर तो आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न करती हैं, दूसरी ओर बचतों को प्रोत्साहित करती हैं जिससे देश में पूंजी का निर्माण अधिक होता है।

मुद्रा–स्फीति और आर्थिक विकास

पूर्ण रोजगार और आर्थिक विकास में एक विरोधाभास वहां उत्पन्न होता है जहां नई तकनीकों का प्रयोग करने के लिए अधिक पूंजी तो लगाई जाती है, किन्तु उत्पादन में वृद्धि के साथ–साथ मजदूर संगठनों द्वारा अधिकाधिक मजदूरी तथा अन्य आर्थिक सुविधाओं की मांग की जा सकती है जिसके फलस्वरूप रोजगार तो ऊंचे स्तर पर रहता है, किन्तु आर्थिक विकास की गति पर्याप्त तीव्र नहीं हो पाती।

(V) तटस्थ मुद्रा
(Neutral Money)

तटस्थ मुद्रा का अर्थ यह है कि मुद्रा को इस प्रकार नियन्त्रित किया जाय कि चलन में उसकी मात्रा कीमतों को प्रभावित न करे। प्रारम्भ में यह विचार अर्थशास्त्री **विकस्टीड** (Wicksteed) ने प्रस्तुत किया एवं **प्रो. हेयक** तथा **रॉबर्टसन ने** ने इसका समर्थन किया। इनका विचार था कि तटस्थ मुद्रा से अर्थव्यवस्था में स्थायित्व रहेगा क्योंकि अधिकांश अच्चावचन मौद्रिक परिवर्तनों के कारण पैदा होते हैं। इस दृष्टि से उचित मूल्य स्तर बनाए रखने के लिए मुद्रा की मात्रा स्थिर रखना आवश्यक है। **प्रो. हेयक** के अनुसार तटस्थ मुद्रा के अभाव में ही मुद्रा और संकुचन की दशाएं उत्पन्न होती हैं जिसके अनेक दुष्प्रभाव होते हैं, अतः मुद्रा तटस्थ होनी चाहिए।

किन्तु तटस्थ मुद्रा की विचारधारा उपयुक्त नहीं है। यदि एक विकासशील अर्थव्यवस्था में तटस्थ मुद्रा की नीति अपनाई जाय तो मुद्रा संकुचन की स्थिति पैदा हो जायगी एवं आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। तटस्थ मुद्रा की नीति एक स्थैतिक समाज में ही लागू हो सकती है। किन्तु हम एक गतिशील समाज में रहते हैं जहां निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, अतः तटस्थ मुद्रा की नीति आर्थिक विकास में सहायक नहीं है।

6.10 मौद्रिक नीति के उपकरण
(Instruments Of Monetary Policy)

मौद्रिक नीति केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाए गए साख–नियंत्रण उपायों से सम्बन्ध रखती है। ये दो प्रकार के होते हैं–

(i) मात्रात्मक (quantitative)- सामान्य अथवा अप्रत्यक्ष नियंत्रण।

(ii) गुणात्मक (qualitative)- चयनात्मक अथवा प्रत्यक्ष नियंत्रण।

प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत बैंक दर में परिवर्तन खुले बाजार के प्रचालन तथा परिवर्तनशील आरक्षण आवश्यकताएं सम्मिलित रहती हैं। उनका उद्देश्य कामर्शियल बैंकों के माध्यम से अर्थव्यवस्था में साख के सम्पूर्ण स्तर का नियमन करना है। इनमें परिवर्तनशील सीमा आवश्यकताएं तथा उपभोक्ता साख का नियमन शामिल रहते हैं।

(1) बैंक दर नीति (Bank Rate Policy)-बैंक दर केन्द्रीय बैंक द्वारा उधार देने की वह न्यूनतम दर है जिस पर वह विनिमय की प्रथम श्रेणी हुण्डियों तथा कामर्शियल बैंक द्वारा धारित सरकारी प्रतिभूतियों को पुनः बट्टा (rediscount) करता है। जब केन्द्रीय बैंक देखता है कि अर्थव्यवस्था के भीतर स्फीतिकारी दबाव प्रकट होने शुरू हो गए हैं, तो वह बैंक–दर बढ़ा देता है। केन्द्रीय बैंक से उधार लेना महंगा हो जाता है और कामर्शियल बैंक उससे अपेक्षाकृत कम उधार लेंगे। कामर्शियल बैंक आगे व्यापारियों को उधार देने की अपनी दरें बढ़ा देते हैं। इस कारण उधार लेने वाले कामर्शियल बैंक आगे व्यापारियों को उधार देने की अपनी दरें बढ़ा देते हैं। इस कारण उधार लेने वाले कमर्शियल बैंकों से कम अधार लेंगे। साख का संकुचन होता है और कीमतें और आगे बढ़ने से रुक जाती हैं। इसके विपरीत, जब कीमतें गिर जाती हैं, तो केन्द्रीय बैंक अपनी बैंक दर घटा देता है। कामर्शियल बैंकों को केन्द्रीय बैंक से उधार लेना सस्ता रहता है, तब कामर्शियल बैंक भी अपनी उधार देने की दरें घटा देते हैं। इससे व्यापारियों को अधिक उधार लेने को प्रोत्साहन मिलता है। निवेश को प्रोत्साहन मिलता है। उत्पादन, रोजगार आय तथा मांग बढ़ना शुरू करती है और कीमतों का गिरना रूक जाता है।

(2) खुले बाजार के प्रचालन (Open Market Operations)- खुले बाजार के प्रचालन मुद्रा बाजार में केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय संबंध रखते हैं। जब कीमतें बढ़ने लगती हैं और उन्हें रोकने की जरूरत होती है तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां बेचता है। कामर्शियल बैंकों के आरक्षण (reserve) घट जाते हैं और वे व्यापारी वर्ग को और उधार देने की स्थिति में नहीं रह जाते। आगे निवेश हतोत्साहित होता है और कीमतों में वृद्धि रुक जाती है। इसके विपरीत, जब अर्थव्यवस्था में सुस्ती (recession) की शक्तियां शुरू होती हैं, तो केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां खरीदता है। कामर्शियल बैंकों के आरक्षण बढ़ जाते हैं। वे अधिक उधार देते हैं, निवेश, उत्पादन, रोजगार तथा मांग बढ़ जाती हैं और कीमतों का गिरना रुक जाता है।

(3) रिजर्व अनुपातों में परिवर्तन (Changes in Reserve Ratios)- इस औजार का सुझाव प्रो0 केन्स ने अपनी पुस्तक Treatise on Money में दिया था और संयुक्त राज्य अमरीका पहला देश था जिसने इसे मौद्रिक तरीके के रूप में अपनाया। कानून के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी कुल जमा का कुछ प्रतिशत अपने तहखानों में रिजर्व कोष में और कुछ प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास रखना पड़ता है। जब कीमतें बढ़ने लगती हैं तो केन्द्रीय बैंक रिजर्व अनुपात बढ़ा देता है। बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास अधिक राशि रखनी पड़ती है। उनके आरक्षण घट जाते हैं और वे कम उधार देते हैं। निवेश, उत्पादन घटाया जाता है, तो कामर्शियल बैंकों के आरक्षण बढ़ जाते हैं। वे अधिक उधार देते हैं और आर्थिक क्रिया पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(4) चयनात्मक साख नियन्त्रण (Selective Credit Control)- विशिष्ट उद्देश्यों से विशेष प्रकार की साख को प्रभावित करने के लिए चयनात्मक साख नियन्त्रण काम में लाये जाते हैं। अर्थव्यवस्था के भीतर सट्टा क्रियाओं को नियंत्रित करने के लिए वे सामान्यतः परिवर्तनशील सीमा आवश्यकताओं (changing margin requirements) का रूप ले लेते हैं। जब अर्थव्यवस्था में अथवा विशिष्ट क्षेत्रों में कुछ वस्तुओं में तेज सट्टा क्रिया होती है और कीमतें बढ़ना शुरू हो जाती हैं, तो केन्द्रीय बैंक उन पर सीमा आवश्यकता बढ़ा दी जाती है। उदाहरणार्थ, सीमा आवश्यकता को बढ़ा कर 60 प्रतिशत कर देने का अर्थ है कि 10,000 रु. मूल्य की प्रतिभूतियों के प्राधिदाता (pledger) को उनके मूल्य का 40 प्रतिशत (4,000 रु.) ऋण के रूप में दिया जाएगा। विशिष्ट क्षेत्रों में सुस्ती की स्थिति में, केन्द्रीय बैंक सीमा आवश्यकताएं उधार ग्रहण को प्रोत्साहन देता है।

प्रभावशाली विश्लेषणात्मक मौद्रिक नीति के लिए आवश्यक है कि बैंक दर, खुले बाजार के प्रचालन, रिजर्व अनुपात तथा विशिष्ट नियन्त्रण उपायों को एक ही साथ अपनाया जाए। परन्तु सभी मुद्रा सिद्धांतकारों ने स्वीकार किया है कि–

(i) मन्दी में जब व्यापार विश्वास अपनी क्षीणतम दशा में होता है, तब मौद्रिक नीति की सफलता शून्य होती है, और

(ii) स्फीति के विरुद्ध वह सफल रहती है।

मुद्रावादियों का कहना है कि राजकोषीय नीति के मुकाबले मौद्रिक नीति में अपेक्षाकृत अधिक लचीलापन होता है। उसे शीघ्र क्रियान्वित किया जा सकता है।

आर्थिक मन्दी और मौद्रिक नीति– मौद्रिक अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मन्दी के समय केन्द्रीय बैंक सस्ती मुद्रा नीति का अनुसरण कर व्यापारिक बैंकों के रिजर्व में वृद्धि कर सकता है। प्रतिभूतियों को क्रय करके भी केन्द्रीय बैंक देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ा सकता है, किन्तु मन्दी का अनुभव यह बताता है कि जब चारों ओर व्यापारिक एवं उद्यमियों में निराशा फैली रहती है, तो उक्त मौद्रिक नीति अर्थव्यवस्था में प्राणों का संचार नहीं कर सकती। जब व्यापारिक क्रियाएं लगभग शून्य होती हैं तो ऐसी स्थिति में उद्यमी, व्यापारिक क्रियाओं को बढ़ाने में जरा भी रुचि नहीं लेते तथा दीर्घकालीन ऋण भी नहीं लेते। जहां तक उपभोक्ताओं का प्रश्न है, वे भी मन्दी के समय बेरोजगार होते हैं तथा उनकी आय भी कम होती है, अतः वे भी बैंक ऋण लेकर कोई टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएं खरीदना पसन्द नहीं करते। इस प्रकार यद्यपि बैंक सस्ती साख तो उपलब्ध कर सकते हैं पर उद्यमियों को ऋण लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकते।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मन्दी के समय मौद्रिक नीति की कोई उपयोगिता ही नहीं होती। उचित मौद्रिक नीति को अपनाकर मन्दी की स्थिति को और खराब होने से बचाया जा सकता है। मन्दी के समय उदार मौद्रिक नीति अपनाई जानी चाहिए।

मुद्रा–स्फीति एवं मौद्रिक नीति– अर्थशास्त्रियों का विचार है कि मौद्रिक नीति के द्वारा मांग–प्रेरित मुद्रा प्रसार को नियन्त्रित किया जा सकता है न कि लागत–प्रेरित मुद्रा प्रसार को। 1930 एवं 1940 के दशकों में आर्थिक–स्थिरता को प्राप्त करने के साधन के रूप में मौद्रिक नीति बिल्कुल अप्रभावशील रही है। प्रो. केन्स के अनुसार मन्दी के समय अत्यधिक लोचपूर्ण तरलता अधिमान के कारण मौद्रिक नीति महत्वहीन हो जाती है। युद्ध के समय जो मुद्रास्फीति होती है, वह लागत प्रेरित होती है अतः महंगी मुद्रा नीति (ब्याज की ऊंची दर) से मांग में कमी नहीं होगी और न ही मुद्रास्फीति नियन्त्रित होगी। अतः

कीन्स का विचार था कि मन्दी एवं मुद्रास्फीति दोनों ही स्थितियों में राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) अधिक उपयुक्त होगी।

यदि मुद्रास्फीति मांग–प्रेरित (Demand Pull) है तो मुद्रा नीति के द्वारा उसे नियन्त्रित किया जा सकता है। केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियां बेचकर एवं ब्याज दर बढ़ाकर व्यापारिक बैंकों की रिजर्व की मात्रा घटा सकता है। साथ ही मार्जिन की मात्रा बढ़ाकर एवं उपभोक्ता साख को नियन्त्रित कर मुद्रा की पूर्ति को कम कर सकता है एवं इस प्रकार मुद्रास्फीति को नियन्त्रित किया जा सकता है।

6.11 मौद्रिक नीति की सीमाएं
(Limitations of Monetary Policy)

किसी देश में मुद्रा स्फीति की सफलता प्रायः संदिग्ध रहती है क्योंकि इन देशों का आर्थिक ढांचा बेलोचदार होता है और सरकार या केन्द्रीय बैंक की नीति को जनता व्यवसाय तथा औद्योगित क्षेत्र का पूरा समर्थन नहीं मिल पााता। ऐसे में मौद्रिक नीति के कुछ निम्नलिखित सीमाएं हैं–

1. विभिन्न देशों में जनसंख्या का एक भाग अपना लेन–देन मुद्रा में नहीं कर पाता इस प्रकार के लेन–देन पारस्परिक विनिमय के आधार पर होते हैं अतः उनके लिए मुद्रा का कोई महत्व नहीं होता और मौद्रिक नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

2. कुछ देशों में सम्पूर्ण साख व्यवस्था बैंकिंग क्षेत्र द्वारा नहीं की जाती या कुछ क्षेत्रों में बैंकिंग साख व्यवस्था की पहुंच नहीं है वहां देशी बैंकरों द्वारा बहुत अधिक मात्रा में रकमें उधार दी जाती हैं। इन वर्गों कि क्रियाओं पर प्रायः सरकार या केन्द्रीय बैंक की नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और मौद्रिक नीति को वांछनीय सफलता प्राप्त नहीं होती है।

3. विभिन्न देशों में प्रायः सुव्यवस्थित स्कन्ध विनिमय भी नहीं होते यहां सरकारी अथवा अर्ध सरकारी प्रतिभूतियों का नियमित लेन–देन होता हो, अतः इन देशों में केन्द्रीय बैंक अथवा सरकार को प्रतिभूतियां खरीदने और बेचने में भी असुविधा होती है और मुद्रा तथा साख की उचित मात्रा चलन में रखना कठिन होता है।

4. कुछ देशों या क्षेत्रों में केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक के सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ नहीं होते हैं इन देशों में सभी क्षेत्रों के लिए धन की व्यवस्था करने वाले शक्तिशाली बैंकों का अभाव रहता है। अतः मौद्रिक नीति को जो स्वाभाविक सफलता मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पाती है।

6.12 सारांश

इस प्रकार साख के परिमाणात्मक तथा गुणात्मक नियन्त्रण के लिए केन्द्रीय बैंक अनेक रीतियों काप्रयोग आवश्यकतानुसार कर सकता है। यह कहना बहुत कठिन है कि कौन सी रीति अधिक उपयुक्त है और कौन–सी कम। वास्तव में, यह देश की आर्थिक व्यवस्था तथा समस्याओं के स्वरूपा पर निर्भर करता है कि कौनसी रीति किसी देश के लिए अधिक प्रभावपूर्ण हो सकती है। व्यवहार में, केन्द्रीय बैंक प्रायः साख–नियन्त्रण की परिमाणात्मक रीतियों के साथ–साथ गुणात्मक नियन्त्रण की रीतियों को भी आवश्यकतानुसार समुचित एवं सन्तुलित प्रयोग करने का प्रयास करता है। कोई एक नीति चाहे कितनी ही प्रभावपूर्ण क्यों न हो, अकेले साख का नियन्त्रण नहीं कर पाती। यह प्रभावपूर्ण तभी होती है जब इसे अन्य रीतियों का भी सहयोग प्राप्त हो। सामान्यतः ऐसा देश जिसमें मुद्रा–प्रसार तथा मुद्रा–संकुचन के कुप्रभावों को दूर करना हो, वहाँ परिमाणात्मक साख–नियन्त्रण का सापेक्षिक महत्व अधिक होता है। इसके विपरीत, यदि किसी देश में योजनाबद्ध आर्थिक विकास करना है तो वहाँ गुणात्मक साख–नियन्त्रण को विशेष महत्व देना आवश्यक हो जाता है।

आज के युग में केवल चलन की मात्रा नियन्त्रित करके ही विकास एवं स्थिरिता समबिन्धत वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति संभव नहीं हो पाती है। साख की मात्रा को भी आवश्यकता अनुसार नियन्त्रित करना अनिवार्य होता है। देश का केंद्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक को साख नियन्त्रण के विस्तृत अधिकार प्राप्त थे और यह इनका प्रयोग भी करता था। किन्तु अब यह कार्य देश की मौद्रिक नीति समिति के द्वारा किया जाता है। इसके अंतर्गत बैंक दर में परिवर्तन करने, खुले बाजार की क्रियायें करने तथा बैंकों के नकद कोषों की मात्रा में परिवर्तन करने के अधिकार प्राप्त हैं। ऐसे में मौद्रिक नीति समिति द्वारा मौद्रिक उपकरणों का सफलता पूर्वक संचालन सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

6.13 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- साख नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2- केन्द्रीय बैंक की परिमाणात्मक तथा गुणात्मक साख–नियन्त्रण रीतियों का वर्णन कीजिए। इनमें कौन सी रीति सर्वश्रेष्ठ है?

प्रश्न 3- साख नियन्त्रण की आवश्यकताओं का विवेचन कीजिए तथा यह बताइए कि साख को नियन्त्रित करने में केन्द्रीय बैंक को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है?

प्रश्न 4- मौद्रिक नीति से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5- मौद्रिक नीति के प्रमुख उपकरणों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 6- मौद्रिक नीति की क्या सीमाएं हैं? एक अल्प विकसित देश के लिए इसके महत्व की विवेचना कीजिए।

6.14 शब्दावली

विनिमय स्थिरता	:	Stability of Exchange
कटौती दर	:	Discount Rate
सस्ती मुद्रा नीति	:	Cheap Money Policy
रेपो दर	:	Repo Rate
तरलता प्रभाव	:	Liquidity Effect
सन्निकट मुद्रा	:	Near Money
कठोर मौद्रिक नीति	:	Hard Monetary Policy
सुलभ मौद्रिक नीति	:	Cheap Monetary Policy
तटस्थ मुद्रा	:	Neutral Money
साम्य दर	:	Equilibrium Ratte
मूल्य स्थिरता	:	Price Stability

6.15 सन्दर्भ सूची

R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chapt : 1
A. K. Basu	:	Fundamentals of Banking Theory and Practice
G. Crowther	:	An Outline of Money, Chapt : 2
R. P. Kent	:	Money and Banking Chapt : 9
G. N. Halm	:	Economics of Money and Banking
M. L. Jhingan	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र
M. C. Vais	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र
Kurihara	:	Monetary Theory and Public Policy
Hansen	:	Monetary Theory and Fiscal Policy Chap. 11-12
Halm	:	Monetary Theory Chap. 10
Coulborn	:	A Discussion on Money
श्रीधर पांडेय	:	मुद्रा और बैंकिंग
एम. एल. सेठ	:	मौद्रिक अर्थशास्त्र

खण्ड 3
विदेशी विनिमय, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

इकाई–1
विदेशी विनिमय बाजार, विनिमय दर का निर्धारण एवं विनिमय नियंत्रण आशय तथा उद्देश्य

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 विनिमय दर का निर्धारण
1.3 विनिमय दर के प्रकार
1.4 विनिमय नियंत्रण
1.5 विनिमय नियंत्रण की विशेषताएं
1.6 विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य
1.7 विनिमय नियंत्रण की विधियां
1.8 विनिमय नियंत्रण के दोष
1.9 भारत में विनिमय नियंत्रण
1.10 सारांश
1.11 बोध प्रश्न
1.12 शब्दावली
1.13 सन्दर्भ सूची

1.0 उद्देश्य

विभिन्न देशों में विभिन्न मुद्राओं का प्रचलन है जिनका नियंत्रण वहां के केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। विदेशी व्यापार में सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि विदेशी भुगतान के लिए कौन सी मुद्रा प्रयोग में लायी जाए। स्वर्णमान के दिनों में यह समस्या अधिक जटिल न था, क्योंकि विदेशी भुगतान स्वर्ण के माध्यम से किया जा सकता था। परन्तु वर्तमान युग में जब प्रत्येक देश अपनी मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलना चाहता है, विदेशी दायित्वों को चुकाना एक जटिल समस्या है जिसका विस्तृत अध्ययन करना इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है।

1.1 प्रस्तावना

विभिन्न देशों में विभिन्न मुद्राओं का प्रचलन होता है, जैसे भारत में रुपया एवं अमरीका में डालर और जब ऐसे दो देशों में व्यापार होता है तो विनिमय दर की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, जब भारत का व्यापारी अमरीका से आयात करता है तो उसे डालर में भुगतान करना पड़ेगा अतः यह जानना आवश्यक है कि रुपया और डालर की विनिमय दर क्या है।

सरल शब्दों में, हम कह सकते हैं कि विनिमय दर वह दर है जिस पर किसी देश की मुद्रा की एक इकाई का दूसरे देश की मुद्रा की इकाइयों से विनिमय किया जाता है, जैसे यदि एक डालर प्राप्त करने के लिए 80 रुपए लगते हैं तो डालर और रुपए की विनिमय दर एक डालर = 80 रुपए होगी। यहां हम विनिमय दर की कुछ परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

क्राउथर के अनुसार, "विनिमय दर उस सीमा का माप है जिसके अनुसार किसी देश की मुद्रा की एक इकाई के बदले, दूसरे देश की इकाइयां प्राप्त की जाती हैं।"

ऐशर के अनुसार, "विनिमय दर एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में व्यक्त मूल्य है।"

टामस के शब्दों में, "जिस दर पर किसी दिए हुए समय में मुद्रा की एक इकाई दूसरे देश की मुद्रा में बदल जाती है, उसे विनिमय दर कहते हैं और इसे एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में व्यक्त मूल्य कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"

सेयर्स के अनुसार, "चलन मुद्राओं की पारस्परिक कीमतों को विनिमय दर कहते हैं।"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विदेशी विनिमय दर, विभिन्न विदेशी मुद्राओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय लागत एवं कीमत की तुलना सम्भव हो जाती है। इस दृष्टि से विदेशी व्यापार की मात्रा एवं दिशा निर्धारित करने में विदेशी विनिमय दर की महत्वपूर्ण भूमिका है।

1.2 विनिमय दर का निर्धारण
(Determination of Exchange Rate)

विनिमय दर के निर्धारण में मांग और पूर्ति का महत्वपूर्ण हाथ होता है। विदेशी मुद्रा की मांग उन लोगों द्वारा की जाती है जो विदेशों से वस्तुओं का आयात चाहते हैं अथवा विदेशी सेवाओं के लिए भुगतान करना चाहते हैं। विदेशी मुद्रा की पूर्ति भी उन लोगों द्वारा की जाती है, जो विदेशों को वस्तुओं एवं सेवाओं का निर्यात करते हैं अथवा पूंजी का आयात करते हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है।

स्वतन्त्र विश्व अर्थव्यवस्था में दो देशों की विनिमय दर सदैव स्थिर नहीं रहती वरन् विश्व में उस मुद्रा की मांग और पूर्ति में होने वाले परिवर्तन उसकी विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। किसी वस्तु के मूल्य के समान, विनिमय दर का निर्धारण भी उस बिन्दु पर होता है, जहां विदेशी मुद्रा की कुल मांग, उसकी कुल पूर्ति के बराबर हो जाती है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मुद्रा की मांग बढ़ती है एवं उसकी पूर्ति स्थिर रहती है तो मुद्रा के मूल्य के बढ़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और इसके विपरीत स्थिति में उसे मूल्य में कमी होने लगती है।

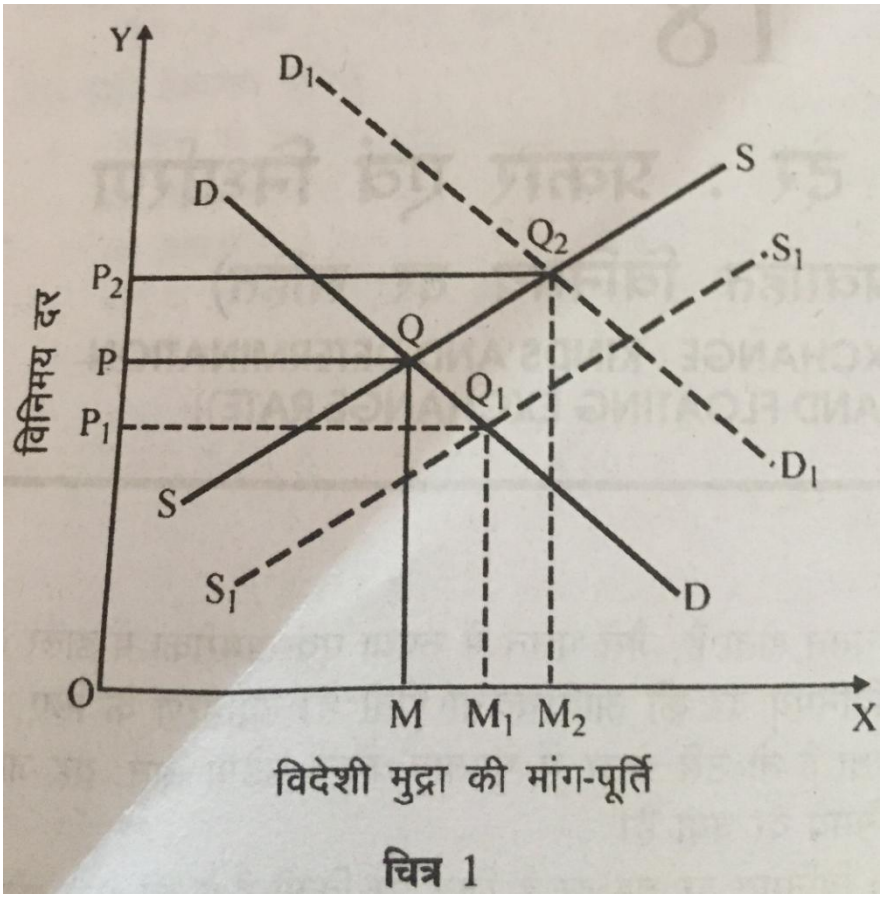

विदेशी मुद्रा की मांग-पूर्ति

चित्र 1

रेखाचित्र में OX-अक्ष पर विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति तथा OY-अक्ष पर विनिमय दर को स्पष्ट किया गया है। DD वक्र विदेशी मुद्रा का मांग वक्र तथा SS वक्र विदेशी मुद्रा का पूर्ति वक्र हैं। ये दोनों वक्र एक–दूसरे को Q बिन्दु पर काटते हैं, अतः विनिमय दर OP अथवा MQ होगी। अब विदेशी मुद्रा की मांग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है एवं विदेशी मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहती है, अतः विनिमय दर में वृद्धि हो जायेगी जिसे रेखाचित्र में OP_2 द्वारा दिखाया गया है। अब यदि विदेशी मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है, जिसे रेखाचित्र में S_1S_1 रेखा द्वारा दिखाया गया है, किन्तु उसकी मांग स्थिर रहती है, तो विनिमय दर गिरकर OP_1 हो जाती है।

यदि मांग एवं पूर्ति दोनों साथ–साथ बढ़े अथवा घटे तो विनिमय दर में परिवर्तन नहीं होता।

1.3 विनिमय दर के प्रकार
(Types of Exchange Rate)

विदेशी विनिमय दर दो विभिन्न राष्ट्रों की चलन इकाइयों के बीच विनिमय अनुपात को सूचित करती है अर्थात् किसी देश की विनिमय दर उस देश की चलन इकाई का किसी दूसरे देश की चलन इकाई के रूप में स्पष्ट किया गया बाह्य मूल्य होता है। इस प्रकार विदेशी विनिमय वह रीति है जिसके द्वारा दो राष्ट्रों (जिनमें विभिन्न प्रकार की मुद्रायें चलन में होती हैं) के बीच भुगतानों का निबटारा किया जाता है। स्मरणीय है कि विदेशी विनिमय दर सदैव के लिये स्थिर नहीं रहती अपितु विदेशी विनिमय सम्बन्धी माँग पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण विदेशी विनिमय दर में भी समय–समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। अर्थशास्त्रियों के बीच इस प्रश्न पर काफी मतभेद है कि स्थिर अथवा लचीली विनिमय दर में से कौन सी विदेशी विनिमय दर उत्तम है चूंकि किसी देश की आन्तरिक मौद्रिक नीति और विदेशी व्यापार उस देश की विनिमय दर पर बहुत आधारित होती है, इसलिये इस समस्या का उचित समाधान खोजना सर्वथा उचित है। यह स्मरणीय है कि विभिन्न कालों में विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनी परिस्थितियों के अनुरूप स्थिर अथवा लोचदार विनिमय दर की नीति को अपनाया गया है। निम्नोक्त में स्थिर एवं परिवर्तनशील विदेशी विनिमय दरों के सापेक्ष गुण–दोषों का विवेचन किया गया है।

स्थिर विनिमय दर के गुण

1. चूंकि स्थिर विदेशी विनिमय दर में मुद्रा एवं वस्तुओं के मूल्य में शीघ्र परिवर्तन नहीं हो पाता, इसलिये आयात–निर्यात व्यापार पर भी दीर्घकाल तक कोई पर्याप्त प्रभाव नहीं पड़ता है अर्थात् देश की आन्तरिक एवं बाह्य अर्थव्यवस्था में स्थिरता रहती है।

2. स्थिर विदेशी विनिमय दर के द्वारा वस्तुओं एवं मुद्रा के मूल्य में कोई परिवर्तन न हो सकने के कारण सट्टेबाजी जैसी कुप्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता।

3. लचीली विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत सटोरिये पूँजी को तरल रूप में रखना अधिक पसन्द करते हैं जिससे लाभ–संकुचन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार साख–संकुचन के ब्याज की दर में वृद्धि होती है ब्याज की दर का विनियोजन की मात्रा पर और अन्ततः देश में बेकारी को जन्म देती है। इसके विपरीत, स्थिर विदेशी विनिमय के अन्तर्गत सटोरिये पूँजी को तरल रूप में रखना अधिक पसन्द करते हैं जिससे लाभ–संकुचन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार साख–संकुचन से ब्याज की दर में वृद्धि होती है ब्याज की दर का विनियोजन की मात्रा पर और अन्ततः रोजगार की मात्रा पर प्रभाव पड़ता अर्थात लचीली विनिमय दर अन्ततः देश में बेकारी को जन्म देती है। इसके विपरीत, स्थिर विदेशी विनिमय के अनतर्गत सटोरिये पूंजी को तरल रूप में रखना पसन्द नहीं करते जिसने साख प्रसार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार साख प्रसार से ब्याज की दर में कमी होती है जिससे विनियोजन की मात्रा में और अन्ततः रोजगार की मात्रा में अभिवृद्धि होती है।

4. चूँकि स्थिर विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत वस्तुओं एवं मुद्रा के मूल्य में अपेक्षाकृत कम परिवर्तन होते हैं, इसीलिये विनियोगकर्ता देश को विदेशी विनियोजन की मात्रा और किस्म के विषय में निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह स्थिर विदेशी विनिमय दर के द्वारा दीर्घकालीन विदेशी विनियोजन को प्रोत्साहन मिलता है।

स्थिर विदेशी विनिमय दर के दोष

1. स्थिर विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत एक राष्ट्र की अभिवृद्धि, मन्दी आदि दशाओं का प्रभाव दूसरे राष्ट्र की अर्थ–व्यवस्था को मुक्त करने के लिये विनिमय दर में परिवर्तन नहीं कर सकता। इस स्थिर विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत सम्बन्धित राष्ट्रों की आर्थिक स्वतन्त्रता का हनन होता है।

2. चूँकि स्थिर विदेशी विनिमय दर में आवश्यकतानुसार नहीं कर सकता, इसलिये वह उत्पादन, मूल्य एवं रोजगार के स्तरों में स्थायित्व लाने में भी असफल रहता है, जो कि वर्तमान युग में किसी राष्ट्र की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य है।

3. लोचदार विदेशी विनिमय दर के अनतर्गत कोई राष्ट्र अपनी चलन इकाई के अधिमूल्यन अथवा अवमूल्यन के द्वारा आवश्यकतानुसार आयात–निर्यात की मात्रा घटा–बढ़ा सकता है। इसके विपरीत, स्थिर विदेशी विनिमय के अनतर्गत कोई राष्ट्र अपनी चलन इकाई का अतिमूल्यन या अधिमूल्यन नहीं कर पाता और इसलिये वह आवश्यकतानुसार आयात–निर्यात की मात्रा में कमी–वृद्धि नहीं कर सकता।

4. विदेशी विनिमय दर का एक प्रमुख दोष भुगतानशेष की प्रतिकूलता को समाप्त करके उनमें सन्तुलन स्थापित करना होता है। चूँकि विनिमय दर में समयानुसार आवश्यक परिवर्तन किये बिना असन्तुलित शोधनाशेष में समायोजन करना कठिन है, इस दृष्टिकोण से भी स्थिर विदेशी विनिमय दर दोषपूर्ण ठहराती है।

5. स्थिर विदेशी विनिमय दर के निर्धारण में आर्थिक जगत का प्रमुख सिद्धान्त अर्थात माँग पूर्ति का सिद्धान्त लागू नहीं होता है।

परिवर्तनशील विदेशी विनिमय के गुण

1. चूँकि लोचदार विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत एक राष्ट्र की अभिवृद्धि या मन्दी की दशाओं का दूसरे सम्बन्धित राष्ट्र की अर्थव्यवस्था पर कोई प्रभव नहीं पड़ता, इसलिये इस दर के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र अपनी आर्थिक नीति के निर्धारण में सफल होता है। इस तरह लोचदार विदेशी विनिमय दर सुगमतापूर्वक परिवर्तित हो जाने के कारण आर्थिक उथल–पुथल के प्रभावों से वंचित रह जाती है।

2. वर्तमान युग में किसी राष्ट्र की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य उत्पादन मूल्य एवं रोजगार के स्तरों में स्थायित्व लाना होता है जो कि लोचादर विदेशी विनिमय द्वारा ही सम्भव है क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी देश की सरकार अपनी अतिरिक्त नीति के अनुसार विनिमय दर में घटा–बढ़ी करने में सफल हो जाती है।

3. लोचदार विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत किसी राष्ट्र की सरकार अपनी आयात–निर्यात व्यापार को घटाने–बढ़ाने के उद्देश्य से चलन इकाई का अतिमूल्यन करने में सफल होती है।

4. अर्थ विज्ञान का प्रसिद्ध सिद्धान्त अर्थात् माँग पूर्ति का सिद्धान्त लोचदार विनिमय दर के निर्धारण में पूर्णरूपेण कार्यशील होता है।

5. जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि विदेशी विनिमय दर का प्रमुख कार्य किसी राष्ट्र के भुगतान शेष की प्रतिकूलता को समाप्त करके उसमें सन्तुलन स्थापित करना होता है और भुगतान शेष सन्तुलन तभी स्थापित हो सकता है जबकि विदेशी विनिमय दर में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना सम्भव हो। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक को 12वीं रिपोर्ट के अनुसार, "मौद्रिक सन्तुलन का आश्वासन प्रदान करने वाली पुरानी पद्धतियों की क्षमता के विषय में बढ़ता हुआ विचार कभी–कभी हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि किसी विदेशी रखते से सम्बन्धित मौद्रिक असन्तुलन के निवारणार्थ विनिमय दरों में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रतापूर्वक समायोजन करना अधिक आवश्यक है।

लोचदार विदेशी विनिमय दर के दोष

1. प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हॉम के मतानुसार, लोचदार विदेशी विनिमय दर के अनतर्गत (विनिमय दर में समय–समय पर परिवर्तन करने के कारण) सम्बन्धित राष्ट्रों की आन्तरिक अर्थव्यवस्थाओं में

अस्थिरता रहती है। इसके अतिरिक्त विनिमय दर सम्बन्धी परिवर्तन आयात–निर्यात व्यापार की वस्तुओं के मूल्य में भी परिवर्तन पैदा कर देता है।

2. लोचदार विदेशी विनिमय दर का दूसरा महत्वपूर्ण दोष सम्बन्धित राष्ट्रों के मूल्यों में अस्थिरता लाना है, क्योंकि विनिमय दर में परिवर्तन करने से यदि एक राष्ट्र की चलन इकाई का मूल्य बढ़ता है तो सम्बन्धित राष्ट्र की चलन इकाई का मूल्य घटता है अर्थात् एक देश को लाभ होने से दूसरे देश को हानि निश्चित रूप से होती है।

3. लोचदार विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत वस्तुओं एवं चलन इकाई के मूल्य में घटा–बढ़ी रहने के कारण सट्टे की प्रवृत्ति को अधिक बढ़ावा मिलता है।

4. लोचदार विदेशी विनिमय दर के अनतर्गत चलन इकाई के मूल्य में कमी या वृद्धि होने के कारण सटोरियों को अधिक लाभ प्राप्त होता है जिसके कारण ये अपनी बचत को तरल रूप में रखना अधिक पसन्द करते हैं। सटोरियों की इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप साख का संकुचन होता है जिससे ब्याज की दर में वृद्धि होने से विनियोजन एवं रोजगार की मात्रा में ह्रास होता है। इस प्रकार लचीली विदेशी विनिमय दर देश में बेकारी की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन प्रदान करती है। इस सन्दर्भ में हॉम ने लिखा है कि, "यह एक ऐसा प्रमाण है जिससे यह सिद्ध होता है कि लचीली विनिमय दर के परिणामों से आन्तरिक अर्थव्यवस्था का पृथक् नहीं रखा जा सकता।"

5. लोचदार विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत दीर्घकालीन विदेशी विनियोजन हतोत्साहित होता है, क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत ऋणी देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था का न्यूनाधिक प्रभाव ऋणदाता देश की पूँजी विनियोजन सम्बन्धी नीति पर निश्चयात्मक रूप से पड़ता है और विनिमय दर में सामाजिक परिवर्तन होने के कारण ऋणदाता देश को विनियोजन की मात्रा व किस्म का ठीक प्रकार से ज्ञान नहीं होता है।

निष्कर्ष

स्थिर एवं लचीली विदेशी विनिमय दरों के गुण–दोषों के विवेचन के उपरान्त निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय दर सन्तुलित होनी चाहिये अर्थात् विनिमय दर उस बिन्दु पर स्थित होनी चाहिये जहाँ सम्बन्धित देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर कोई दबाव भी न पड़े तथा विनिमय दर में थोड़े परिवर्तन के द्वारा ही कोई राष्ट्र अपने असन्तुलित भुगतान शेष को ठीक कर सके। प्रो. रेगनर नर्कसे, ने सन्तुलित दर की परिभाषा देते हुये लिखा है कि, "सन्तुलित दर वह है जो कि एक निश्चित काल तक अन्तर्राष्ट्रीय चलन कोष में कोई परिवर्तन किये बिना ही भुगतान शेष में सन्तुलन कायम करती है।" प्रो. हॉम के मतानुसार, "सन्तुलित दर को 'तटस्थ दर' की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि यह कृत्रिम निर्यात की लाभ–हानियों का निर्माण नहीं करती है" यह स्मरणीय है कि सन्तुलित विनिमय दर का निर्धारण भुगतान शेष के सन्तुलन द्वारा होता है। यदि किसी देश का भुगतान शेष असन्तुलित होता है तो विनिमय दर में परिवर्तन करना आवश्यक होता है। अर्थात प्रतिकूल भुगतान शेष की दशा में देश की चलन इकाई के विनिमय मूल्य में वृद्धि करना वांछनीय होता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद सदस्य राष्ट्रों के बीच संतुलित विनिमय दरों का निर्धारण सम्भव हो सकता है।

1.4 विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)

एक स्वतंत्र विनिमय–बाजार में जहाँ विदेशी मुद्रा की माँग तथा पूर्ति के आधार पर विनिमय–दर का निर्धारण होता है, विनिमय–दर में निरन्तर उच्चावचन होते रहते हैं। बदलती हुई विनिमय–दर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनिश्चितता और जोखिम को बढ़ा देती है, जिससे व्यापार तथा साख दोनों ही हतोत्साहित होते हैं। आज की नियोजित अर्थव्यवस्था के युग में प्रत्येक सरकार का यह उद्देश्य होता है कि विनिमय–बाजार में हस्तक्षेप द्वारा विनिमय–दरों में अनियन्त्रित रूप से परिवर्तन न होने दिये जायें। वर्तमान सरकारें विनिमय–नियन्त्रण के प्रयोग द्वारा विनिमय–दरों में स्थिरता बनाये रखने का प्रयत्न करती हैं।

विनिमय–नियन्त्रण का अभिप्राय सरकार द्वारा अपनाये गये उपायों से है जिनका उद्देश्य विदेशी विनिमय–बाजार को नियन्त्रित करके विनिमय–दर को प्रभावित करना होता है। मुद्राशास्त्रियों ने 'विनिमय–बाजार' में किये गये सरकारी हस्तक्षेप को विनिमय–नियन्त्रण कहा जा सकता है। प्रो. हैबरलर के शब्दों में, "विनिमय–नियन्त्रण उस सरकारी हस्तक्षेप को कहते हैं जो विदेशी विनिमय–बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करने देता।"

वर्तमान समय में विनिमय–नियन्त्रण शब्द का प्रयोग अधिकतर संकुचित अर्थ में ही किया जाता है। इस अर्थ में विनिमय–नियन्त्रण का आशय केवल उन हस्तक्षेपों तथा प्रतिबन्धों से होता है जो विनिमय–व्यवहारों के सम्बन्ध में किये जाते हैं। इस प्रकार विनिमय–नियन्त्रण तथा विनिमय–प्रतिबन्ध में अधिक अन्तर नहीं किया जाता है। विदेशी विनिमय का रूप कुछ भी हो, विनिमय–नियन्त्रण से तात्पर्य यह है कि समस्त विदेशी मुद्रा सरकार के हाथ में होती है तथा विदेशी विनिमय का कार्य सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा अधिकृत बैंक अथवा व्यक्ति ही कर सकते हैं।

1.5 विनिमय–नियन्त्रण की विशेषताएँ

विनिमय–नियन्त्रण की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं–

1. विदेशी विनिमय–बाजार पर सरकार का पूर्ण अधिकार होता है।
2. विदेशी–विनिमय का कार्य सरकार द्वारा नियुक्त बैंक या लाइसेन्स–प्राप्त व्यक्ति ही कर सकते हैं।
3. विदेशों में माल भेजने के पूर्व निर्यात लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक होता है।
4. निर्यात अथवा अन्य किसी प्रकार से प्राप्त होने वाले विदेशी विनिमय की सम्पूर्ण राशि सरकार अथवा नियन्त्रण अधिकारी के हाथ में रहती है।
5. देश में आयातों पर नियन्त्रण रखा जाता है तथा विदेशी विनिमय का वितरण आयात के महत्व के आधार पर किया जाता है।
6. पूँजी के निर्यात पर प्रतिबन्ध रहता है।
7. विदेशी विनिमय–दर सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है।

1.6 विनिमय–नियन्त्रण के उद्देश्य

विनिमय–नियन्त्रण का प्रयोग विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है जिनमें से प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. व्यापार–सन्तुलन की स्थिति में सुधार करना– देश का भुगतान–सन्तुलन विपरीत होना देश के हित में नहीं होता। ऐसी स्थिति में विनिमय–नियन्त्रण का उद्देश्य आयात का संकुचन तथा निर्यात में वृद्धि करना होता है, ताकि व्यापार–सन्तुलन के भुगतान–सन्तुलन की स्थिति को सुधारा जा सके।

2. राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों से बचाना– रैगनर नर्क्स के अनुसार, "विनिमय–नियन्त्रण एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा कोई भी देश स्वतन्त्र रूप से, मन्दी की सृष्टि को रोकता है अथवा आर्थिक व्यवस्था को मन्दी के प्रभाव से मुक्त करता है। विनिमय–नियन्त्रण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के बीच एक प्रकार की आय की सृष्टि कर स्वतन्त्र मौद्रिक एवं आर्थिक नीति के अनुसरण में सहायक होता है।"

3. नियोजित अर्थ–नीति को सफल बनाना– आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए सफलता के लिए देश के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को नियंत्रित करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में विदेशी विनिमय तथा विनिमय–दर को बाजार की शक्तियों के अधीन नहीं छोड़ा जा सकता। नियोजित अर्थ–नीति को सफल बनाने के उद्देश्य से विनिमय–नियन्त्रण आवश्यक होता है।

4. पूँजी के निर्यात पर रोक– तीसे (1930) की महान मन्दी तथा द्वितीय महायुद्ध–काल के बीच पूँजी के बहिर्प्रवाह पर रोक लगाने के उद्देश्य से जर्मनी, डेनमार्क, अर्जेण्टाइना आदि देशों ने

विनिमय–नियन्त्रण को अपनाया था। यदि पूँजी के असाधारण निर्यात को न रोका जाये तो इससे देश के विदेशी मुद्रा–कोष में कमी होने लगती है और विनिमय–दर पर भी प्रभाव पड़ सकता है। मन्दी के समय पूँजी के बाहर जाने के और भी दुष्परिणाम होते हैं, क्योंकि इसके कारण आय तथा रोजगार में कमी आती है तथा कीमतें और अधिक गिर जाती हैं। अतः विनिमय–नियन्त्रण के प्रयोग का उद्देश्य पूँजी के निर्यात को रोकना भी हो सकता है।

5. उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना– देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिए विनिमय–नियन्त्रण द्वारा कुछ वस्तुओं के आयातों को रोका अथवा कम किया जा सकता है। विकासशील देशों में औद्योगिक विकास के लिए तुलनात्मक रूप से कम सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना आवश्यक होता है। संरक्षण की नीति को प्रभावपूर्ण बनाने के उद्देश्य से विनिमय–नियन्त्रण की नीति अपनायी जाती है।

6. व्यापारिक भेदभाव की नीति को सफल बनाना– विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्धों को अनुकूल बनाये रखने के उद्देश्य से कोई देशा व्यापारिक भेदभाव की नीति अपना सकता है, जिसके अन्तर्गत कुछ देशों के आयात–निर्यात पर विशेश प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और अन्य देशों को कुछ रियायतें दी जाती हैं। इस नीति का अनुसरण करने के उद्देश्य से विनिमय–नियन्त्रण का प्रयोग किया जाता है।

7. विदेशी विनिमय की पर्याप्त व्यवस्था करना– स्वर्ण, विदेशी प्रतिभूतियों तथा विदेशी मुद्राओं की बचत करके उन्हें आवश्यक कार्यों के लिए उपयोग में लाने के उद्देश्य से भी विनिमय–नियन्त्रण किया जाता है। आवश्यक वस्तुओं के आयात पर होने वाले विदेशी मुद्राओं के व्यय पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं।

8. अन्य महत्वपूर्ण देशों की मुद्राओं से विनिमय–दर स्थायी रखना– प्रायः ऐसा भी हुआ है कि विनिमय–नियन्त्रण का प्रयोग इस उद्देश्य से किया गया है कि अन्य महत्वपूर्ण देशों की मुद्राओं के साथ अपनी मुद्रा के सम्बन्ध को स्थिर रखा जा सके। उदाहरण के लिए 1931 में ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान का परित्याग कर देने पर स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों ने इंगलैण्ड के साथ अपनी विनिमय–दर स्थायी रखने के उद्देश्य से विनिमय–नियन्त्रण की कार्यवाही की थी। इसी प्रकार, 1949 में ब्रिटेन द्वारा पौण्ड का अवमूल्यन कर देने पर अन्य कुछ देशों ने, जिनमें भारत भी था, अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया था।

9. युद्धकालीन उद्देश्य– युद्ध–काल में विनिमय–नियन्त्रण का प्रयोग अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है, जैसे शत्रु द्वारा क्रय–विक्रय के प्रयोग की रोकथाम, विदेशी विनिमय के साधनों की सुरक्षा, सरकार की आय में वृद्धि इत्यादि। विनिमय–नियन्त्रण का प्रयोग 'जुबानी कार्यवाही' के लिए भी किया जाता है, अर्थात् जब कोई देश ऐसे पन्नतिबन्ध लगाता है कि किसी देश का माल वहाँ न आने पाये तो दूसरे देश को भी यही कार्यवाही करने के लिए विनिमय–नियन्त्रण का प्रयोग करना पड़ता है।

1.7 विनिमय–नियन्त्रण की विधियां (Methods of Exchange Control)

विदेशी विनिमय की मांग तथा पूर्ति को नियंत्रित करने के अनेक तरीके हैं पॉल ऐंजिंग ने विनिमय नियन्त्रण की 41 विधियों की विवेचना की है। इनमें से कुछ प्रमुख विधियों के अध्ययन के लिए इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. विनिमय नियन्त्रण की प्रत्यक्ष विधि– प्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण विधि दो प्रकार का होता है–

(i) हस्तक्षेप (Intervention)- विनिमय–बाजार में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा सरकार अपनी मुद्रा की विनिमय–दर को एक निश्चित स्तर पर बनाये रखने का प्रयास करती है। हस्तक्षेप का प्रमुख साधन

दर की कीलना (स्थिरीकरण) (pegging) है। विनिमय–दर में परिवर्तन को रोकने के लिए विनिमय सामानीकरण (exchange equalization) अथवा स्थिरीकरण कोषों का निर्माण भी किया जा सकता है।

(a) विनिमय का कीलन या स्थिरीकरण (Pegging of Exchange)- जब सरकार अपने हस्तक्षेप द्वारा स्वाभाविक रूप से निर्धारित होने वाली विनिमय–दर से भिन्न दर निर्धारित करना चाहे और उसे निश्चित स्तर से घटने–बढ़ने न दे तो इसे विनिमय का कीलन कहते हैं। किसी ऊँचे स्तर पर विनिमय–दर बनाये रखने के उद्देश्य से किया गया हस्तक्षेप ऊँचा उच्च कीलन (pegging down) कहलाता है। जब विनिमय–दर को किसी नीचे स्तर पर निर्धारित किया जाये तो उसे निम्न कीलन (pegging down) कहते हैं। साधारणतः पेगिंग के द्वारा विनिमय–दर को ऊँचा रखा जाता है अर्थात् 'पेगिंग अप' ही होता है, परन्तु कभी–कभी अवमूल्यन के उद्देश्य से 'पेगिंग डाउन' की नीति भी अपनायी जा सकती है।

कीलन पद्धति के अन्तर्गत सरकार (अथवा केन्द्रीय बैंक) विनिमय–बाजर में विदेशी मुद्राओं के बदले में अपनी मुद्रा का क्रय–विक्रय करती है, और उसकी मांग तथा पूर्ति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। यदि सरकार का उद्देश्य 'पेगिंग अप' करना होता है तो सरकार प्रयत्नों द्वारा अपनी मुद्रा की मांग में वृद्धि तथा पूर्ति में कमी कर देती है। इसके विपरीत, 'पेगिंग डाउन' के लिए सरकार को अपनी मुद्रा की पूर्ति बढ़ानी होती है।

(b) विनिमय समानीकरण खाता (Exchange Equalisation Account)- स्वर्ण मान के पतन के पश्चात 1932 में इंगलैण्ड में विनिमय समानीकरण खाता अथवा विनिमय स्थिरीकरण कोष की स्थापना की गयी थी।

इस रीति के अन्तर्गत देश के केन्द्रीय बैंक के पास स्वर्ण, विदेशी मुद्रा और देशी मुद्रा का कोष बना दिया जाता है, जिसका प्रयोग विदेशी विनिमय के क्रय–विक्रय के लिए किया जाता है, और इस प्रकार विनिमय–दर को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया जा सकता है। इन कोषों का उपयोग दीर्घकालीन अथवा स्थायी प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करने के उद्देश्य से नहीं किया जाता, बल्कि इनका उद्देश्य विनिमय–दर में होने वाले अस्थायी परिवर्तनों को रोकना होता है।

इस प्रकार के कोष के प्रभावशाली होने के लिए इसमें यथेष्ट मात्रा में विदेशी तथा देशी मुद्रा का होना आवश्यक होता है। इसकी वास्तविक शक्ति विदेशी मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करती है। साथ में पर्याप्त मात्रा में देशी मुद्रा का होना इसलिए आवश्यक होता है ताकि विदेशी मुद्राएँ खरीदी जा सकें। सफलता के लिए आवश्यक है कि कोष स्थापित करने वाले विभिन्न देशी पारस्परिक साहयोग की भावना से प्रेरित हों।

(ii) विनिमय–प्रतिबन्ध (Exchnage Restriction)

द्वितीय महायुद्ध–काल में यह अनुभव किया जाने लगा कि प्रत्यक्ष विनिमय–नियन्त्रण के लिए हस्तक्षेप की नीति बहुत अधिक प्रभावपूर्ण नहीं होगी। अतएव एक अधिक प्रबल युक्ति के रूप में विनिमय–प्रतिबन्ध का प्रयोग किया जाने लगा। विनिमय–प्रतिबन्ध के अन्तर्गत विदेशी विनिमय–बाजार में देशी मुद्रा की पूर्ति अनिवार्य रूप से कम कर दी जाती है, और इस प्रकार विनिमय–बाजार में लेन–देन को कम कर दिया जाता है।

इस प्रकार विनिमय–प्रतिबन्ध की नीति के अन्तर्गत दो प्रकार के कार्यक्रमों की आवश्यकता है–

1. अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी एवं स्वर्ण के आवागमन पर नियन्त्रण।
2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियमन।

विनिमय–प्रतिबन्ध के प्रमुख तरीके ये हैं–

(a) अवरुद्ध खाते (Blocked Account)- इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार यह प्रतिबन्ध लगा देती है कि विदेशी अपनी पूँजी अथवा सम्पत्ति देश के बाहर नहीं ले जा सकते। ऋणदाता देशों के ऋण तथा ब्याज के भुगतान बन्द कर दिये जाते हैं। विदेशी पूँजी तथा विदेशी भुगतानों की रोकी हुई कुल राशि केन्द्रीय बैंक के पास 'अवरुद्ध खाते' में जमा कर दी जाती है। कभी–कभी विदेशियों को सुविधा दे दी जाती है कि वे इस पूँजी का उसी देश में उपयोग कर सकते हैं। इन खातों के द्वारा

विदेशी भुगतान बन्द करने का परिणाम यह होता है कि विदेशी विनिमय चुकाने का भार कुछ समय के लिए कम हो जाता है और विनिमय–दर को गिरने से बचाया जा सकता है।

(b) विदेशी विनिमय की राशनिंग (Rationing of Foreign Exchange)- इस प्रणाली के अन्तर्गत विदेशी विनिमय का स्वतन्त्र क्रय–विक्रय समाप्त कर दिया जाता है। निर्यातकों को उपलब्ध होने वाली विदेशी मुद्राएँ सरकार को सौंप दी जाती हैं। विदेशी विनिमय के वितरण के लिए आयातों की आवश्यकता के अनुसार राशनिंग किया जाता है। आयात के लिए एक प्राथमिकता क्रम निर्धारित कर लिया जाता है और उसी के अनुसार विदेशी विनिमय के भुगतान की राशित निर्धारित की जाती है। इस प्रकार इस प्रणाली का प्रयोग आयात की मात्रा को कम करके भुगतान–सन्तुलन की स्थिति को सुधारने के लिए किया जाता है।

(c) अभ्यंश प्रणाली (Quota System)- जिस प्रकार विदेशी विनिमय की राशनिंग प्रणाली का उद्देश्य अलग–अलग वस्तुओं के आयात की मात्रा निश्चित करना होता है, अभ्यंश प्रणाली का उद्देश्य भिन्न–भिन्न देशों से आयात के परिमाण को निश्चित करना होता है। आयात एवं निर्यात की मात्रा सन्तुलि करने के लिए उन देशों से आयात कम कर दिया जाता है जिनको निर्यात कम किये जाते हैं।

(d) बहुमुखी विनिमय–दरें (Mulitple Exchange Rates)- इस रीति के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के आयात–निर्यात तथा विभिन्न उद्देश्यों के लिए विदेशी विनिमय के लेन–देन के लिए भिन्न–भिन्न विनिमय–दरें अपनायी जाती है। आयातों को कम करने तथा निर्यातों को बढ़ाने के उद्देश्य से एक विनिमय–दर को न अपनाकर अनेक विनिमय–दरों को अपनाया जाता है। यह प्रणाली भुगतान–सन्तुलन को ठीक बनाये रखने के लिए विकासशील देशों द्वारा अपनायी जा सकती है, परन्तु व्यावहारिक रूप में यह एक जटिल प्रणाली है और इसका संचालन करना कठिन है।

(e) समाशोधन समझौते (Clearing Agreements)- मुख्यतः दो देशों के पारस्परिक भुगतान केन्द्रीय बैंकों के माध्यम से सन्तुलि रखने के लिए समाशोधन समझौते किये जाते हैं। इन समझौतों के अनुसार दोनों देशों में आयातकर्ता अपने देश की मुद्रा में ही देश के केन्द्रीय बैक अथवा अन्य अधिकृत बैंकों को भुगतान करते हैं। इसी प्रकार निर्याकर्ता अपने माल का भुगतान अपने देश की मुद्रा में केन्द्रीय बैंक अथवा अधिकृत बैंकों से प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मुद्राओं का एक देश से दूसरे देश को हस्तान्तरण हुए बिना दोनों देशों में भुगतान हो जाता है। दोनों देशों के आयात तथा निर्यात बराबर होने की दशा में भुगतानाशेष को चुकाने की रीति भी समझौते में निर्धारित कर ली जाती है और प्रायः इसके लिए भी विदेशी मुद्रा का प्रयोग नहीं किया जात। दोनों सरकारें समझौते द्वारा विनिमय की दर निश्चित कर लेती है।

(f) भुगतान समझौते (Payments Agreements)- इस प्रकार के समझौतों के अन्तर्गत एक प्रकार से विनिमय की राशनिंग की व्यवस्था की जाती है। इसका मुख्य रूप से उद्देश्य यह होता है कि ऐसी व्यवस्था की जाय कि ऋणी देश ऋणदाता को मूलधन तथा ब्याज आदि चुका सके। इसके अन्तर्गत ऋणदाता देश ऋणी देश से आयातों को यथासम्भव बिना किसी प्रतिबन्ध के ही स्वीकार करता है। इसके विपरीत, ऋणी देश ऋणदाता देशे से आने वाले आयातों को यथासम्भव कम रखता है और उसे भेजे जाने वाले निर्यातों को बढत्राने के प्रयास करता है। केवल इस प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होने पर ही ऋणी देश अपने पुराने विदेशी ऋणों को चुका पाता है।

(g) यथास्थिर समझौते (Standstill Agreements)- इन समझौतों का मुख्य उद्देश्य दो देशों के बीच पूंजी के आवागमन पर प्रतिबन्ध लगाना होता है ताकि ऋणी देश अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर सकें। पूँजी के आवागमन को रोकने के उद्देश्य की पूर्ति को दो प्रकार से की जा सकती है–प्रथम, विदेशी भुगतान एकमुश्त न करके धीरे–धीरे किस्तों में किये जाते हैं; अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों में बदला जा सकता है।

(h) क्षतिपूर्ति समझौता (Compensation Agreements)- यह विदेशी व्यापार के क्षेत्र में एक प्रकार से वस्तु–विनिमय अपनाने के लिए एक समझौता होता है। इसके अनतर्गत आयात का भुगतान निर्यात के द्वारा किया जाता है भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा का प्रयोग किया ही नहीं जाता।

(i) विलम्बकाल हस्तान्तरण (Transfer Moratoria)- इस नीति के अन्तर्गत आयात तथा विदेशी पूंजी पर ब्याज एवं लाभांश आदि का भुगतान तत्काल न करके कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया जाता है। आयातकर्ता द्वारा विदेशी मुद्रा में ही केन्द्रीय बैंक के पास भुगतान जमा कर दिया जाता है और इसी राशि का केन्द्रीय बैंक निश्चित अवधि के पश्चात् विदेशी मुद्राओं में निर्यातकर्ता अथवा ऋणदाता को भुगतान कर देता है।

इस प्रकार विनिमय–प्रतिबन्ध के अनेक तरीके हैं, और इन सभी का उद्देश्य विनिमय–बाजार में देश की मुद्रा की पूर्ति को नियन्त्रित करना होता है। कुछ परिस्थितियों में तो विनिमय–प्रतिबन्ध की इच्छा न रहते हुए भी इसे अपनाना अनिवार्य हो जाता है। हस्तक्षेप की तुलना में विनिमय–प्रतिबन्ध एक अधिक कठोर, प्रत्यक्ष एवं सार्थक नीति है। जर्मनी के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि विनिमय–प्रतिबन्ध की नीति के द्वारा कोई भी देश ऐसी विनिमय–दर को बनाये रख सकता है जो उसके आर्थिक विकास में सहायक हो सकती है।

2. विनिमय–नियन्त्रण की परोक्ष रीतियाँ

हस्तक्षेप तथा प्रतिबन्ध के प्रत्यक्ष तरीकों के अतिरिक्त विनिमय–नियन्त्रण के कुछ परोक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके भी हैं। इनमें आयात–नियन्त्रण नीति तथा ब्याज–दर में परिवर्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय है–

आयात–नियन्त्रण नीति–देश के भुगतान–सन्तुलन की स्थिति प्रतिकूल होने की दशा में सरकार आयात–कर लगाकर देश के आयातों को गुणात्मक तथा परिमाणात्मक दृष्टि से सीमित कर देती है। इसी प्रकार विभिन्न आयातों की मात्रा (quota) निश्चित करके भी इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। कभी–कभी उन देशों के नाम भी निश्चित कर दिये जाते हैं जिनसे वस्तुओं का आयाता किया जा सकता है। विदेशी व्यापार के द्वारा विनिमय की स्थिति सुधारने के लिए निर्यातों को प्रोत्साहन देना उतना ही आवश्यक होता है जितना आयातों को सीमित करना। इसके लिए निर्यातों पर करों में छूट अथवा अधिदान (bounty) दिया जाता है। निर्यात की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को अनेक प्रकार से आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है और देश के बजट में इसकी व्यवस्था की जाती है। आर्थिक भाषा में इसे 'बाजार पाटने' (Dumping) की नीति कहते हैं। आयात सीमित करने तथा निर्यात बढ़ाने के लिए किये गये इन कार्यों के परिणामस्वरूप विदेशों में देश की मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है, परन्तु उसकी माँग बनी रहती है और विनिमय–दर ऊँची बनाये रखी जा सकती है।

ब्याज–दर–ब्याज की दरों अथवा बैंक–दर में परिवर्तन द्वारा भी देश की मुद्रा की मांग तथा पूर्ति को प्रभावित किया जा सकता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पूँजी के विनिमय पर कोई रुकावटें न हों तो ब्याज–दर बढ़ाने पर विदेशी पूँजी देश में आने लगती है। इसके परिणामस्वरूप देश में मुद्रा की माँग बढ़ जाती है, भुगतान–सन्तुलन पक्ष में हो जाता है, और विनिमय–दर ऊँची होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। ब्याज की दर कम होने का प्रभाव इसके विपरीत होता है। इस प्रकार सामान्यतः ऊँची बैंक–दर विनिमय–दर को ऊँची रखने तथा नीची बैंक–दर विनिमय–दर को नीची रखने में सहायक होती है। इस प्रकार विनिमय–नियन्त्रण के उद्देश्यों को विभिन्न परोक्ष तरीकों से भी प्राप्त किया जा सकता है। प्रायः यह देखा गया है कि प्रत्यक्ष तरीकों की तुलना में परोक्ष तरीके कम कठोर होते हैं और उनका प्रभाव भी कम होता है। वास्तव में, व्यापार–नीति तथा ब्याज–दर में सीमित मात्रा में ही परिवर्तन सम्भव होते हैं, क्योंकि अधिक परिवर्तन होने की दशा में अन्य देशों द्वारा प्रतिक्रिया का भय रहता है। इसलिए विनिमय–नियन्त्रण की परोक्ष रीतियों को बहुत सावधानी से अपनाना पड़ता है।

1.8 विनिमय–नियन्त्रण के दोष

विनिमय नियंत्रण का मूल उद्देश्य देश के भुगतान संतुलन की असाम्यावस्था को दूर कर अर्थव्यवस्था का सही सस्ता ढंग से संचालन करना है। इस अर्थ में यह नीति सभी देशों के लिए एक महत्वपूर्ण और प्रभावी अस्त्र है। विशेषकर उन देशों के लिए तो यह और भी लाभदायी है जो विकास कार्यक्रमों के लिए आयोजना की नीति अपनाए हुए हैं। अल्प विकसित देशों के लिए तो इसकी और भी अधिक उपादेयता है। परन्तु इसमें अनेक दोष हैं–

1. अधिकांश स्थितियों में यह नीति अपने मूल उद्देश्य से हट जाती है और विभिन्न देशों में विनिमय अनयंत्रण प्रणाली को अपनाने, इसे अधिक व्यापक तथा कड़ा बनाने की होड़ सी लग जाती है। ऐसा कभी–कभी मात्र प्रतिशोध की भावना से भी हो सकता है अथवा नीति निर्धारण में सही निर्णय के अभाव के कारण।

2. विनिमय नियंत्रण नीति उपर्युक्त कारणों से अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक होती है जिससे विनिमय नियंत्रण करने वाले देश की भी क्षति पहुंचती हैं।

3. यह नीति उत्पादन तथा उपभोग के रूप–ढाँचे में गड़–बड़ी उत्पन्न कर देती है।

4. विनिमय–नियंत्रण साधनों के कुशल आवंटन तथा कुशल उपयोग पर हानिप्रद प्रभाव डालते हैं। उत्पादन अधिकतम नहीं हो पाता।

5. ये देश में लागत–मूल्य ढाँचे को गलत रूप में परिवर्तित कर देते हैं जिससे वस्तुएँ सही ढंग से सहीं मूल्यों पर प्राप्त नहीं हो पाती हैं।

6. ये वस्तुओं तथा सेवाओं के पूर्ति–मूल्य को प्रभावित कर अर्थव्यवस्था में स्फीतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं।

7. विनिमय नियंत्रण उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों दोनों की बचतों को कम कर देते हैं और उनकी चयन–स्वतंत्रता को समाप्त कर देते हैं।

8. विनिमय नियंत्रण अन्तरराष्ट्रीय आधार पर आर्थिक राष्ट्रीयतावाद तथा प्रतिशोध की संकुचित भावना को जन्म देते हैं जिससे अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक सहयोग को चोट पहुँचती है।

9. विनिमय नियंत्रण अत्यन्त ही खर्चीली पद्धति है। इसे कार्यान्वित करने के लिए व्यापक भारी–भरकम यंत्र–व्यवस्था आवश्यक होती है।

10. यह व्यवस्था बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार को जन्म देती है। पक्षपात, बेईमानी, घूसखोरी इसके स्वाभाविक परिणाम हैं।

11. यह नीति गलत निर्णयों की सारी संभावनाओं से परिपूर्ण है। इसे सही ढंग से कार्यान्वित करना कठिन है।

1.9 भारत में विनिमय नियंत्रण (Exchange Control in India)

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर सितम्बर 1939 में भारत में विनिमय–नियन्त्रण की नीति को अपनाया गया। भारत सुरक्षा नियमों के अन्तर्गत विनिमय–नियन्त्रण की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया को सौंप दी गयी। रिजर्व बैंक ने इस कार्य के लिए 'विनिमय–नियन्त्रण विभाग' की स्थापना की। द्वितीय युद्ध–काल में विनिमय–नियन्त्रण के उद्देश्य से समस्त ब्रिटिश साम्राज्य को एक मुद्रा–इकाई में संगठित किया गया और इसे 'स्टर्लिंग क्षेत्र' कहा गया। सामान्य नीति यह थी कि स्टर्लिंग क्षेत्र की मुद्राओं का लेन–देन तथा इस क्षेत्र के कोषों का स्थानान्तरण तो विनिमय–नियन्त्रण के कार्यक्षेत्र से मुक्त रहा, परन्तु इस क्षेत्र से बाहर के देशों को किये जाने वाले भुगतानों पर प्रतिबन्ध लगा दयि गये। सन् 1947 का विदेशी विनिमय–नियमन अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act, 1947) 25 मार्च, 1947 को लागू किया जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक को विनिमय–नियन्त्रण के स्थायी अधिकार प्राप्त हो गये। विनिमय–नियन्त्रण की नीति का कार्यक्षेत्र अब और अधिक व्यापक हो गया था। जुलाई 1947 से स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों से होने वाले लेन–देन पर भी विनिमय–नियन्त्रण लागू कर दिया गया। 1947 के एक्ट के स्थान पर अब 1 जनवरी, 1974 से 1973 का विदेशी विनिमय–नियमन अधिनिमय (Foreign Exchange Regulation Act, 1973) लागू किया गया। इस नये अधिनियम का मूल स्वरूप 1947 के

अधिनियम के समान ही थे, किन्तु उसमें कुछ नये उपबन्ध सम्मिलित किये गये और पुराने अधिनियम के कुछ उपबन्धों में संशोधन किया गया।

जुलाई 1991 में घोषित व्यापार नीति के अन्तर्गत अनेक आयातों को निर्यातों से सम्बद्ध किया गया। इन आयातों के लिए सम्पूर्ति (replenishment) प्रमुख साधन था। सम्पूर्ति लाइसेन्स प्रणाली को 'Exim Scrips' का नाम दिया गया। पुनर्भरण के रूप में अब निर्यातकर्ताओं को उनके निर्यातों के मूल्य के 30 प्रतिशत के बराबर Exim Scrips दिये जाने की व्यवस्था की गयी। 1992-93 में इस व्यवस्था को समाप्त करके रुपये की आंशिक परिवर्तनशीलता (partial convertibility) आरम्भ की गयी। प्राप्त किये गये विदेशी विनिमय का 40 प्रतिशत अधिकृत विनिमय–दर पर रुपयों में बदला जा सकता था और शेष 60 प्रतिशत भाग बाजार में निर्धारित विनिमय–दर पर बदला जा सकता था। 1 मार्च, 1993 से विनिमय–दरों के निर्धारण की दोहरी व्यवस्था के स्थान पर बाजार में माँग और पूर्ति पर आधारित विनिमय–दरों का निर्धारण होता है।

1993 में रुपये की व्यापार खाते में परिवर्तनशीलता आरम्भ की गयी थी। 1994-95 के बजट में चालू खाते में परिवर्तनशीलता की घोषणा की गयी। 20 अगस्त, 1994 से रुपया चालू खाते में पूर्णतया परिवर्तनशील हो गया है। इस प्रकार भारत ने अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा–कोष की धारा 8 की शर्तों को पूरा कर लिया है। परिस्थितियाँ अुनकूल होने पर बाद में पूँजी खाते में भी रुपया परिवर्तनशील हो सकता है। पूँजी खाते में परिवर्तनशीलता का अभिप्राय बिना प्रतिबन्ध के विदेशों के साथ वित्तीय परिसम्पत्तियों का लेन–देन करना है। वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत विदेशी निवेशक और अनिवासी भारतीय भारत में प्रत्यक्ष तथा पोर्टफोलियो निवेश कर सकते हैं। रिजर्व बैंक की तारापोर समिति द्वारा 30 मई, 1997 को प्रस्तुत की गयी रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत में पूँजीगत खाते में परिवर्तनशीलता लागू करने की दिशा में कदम उठाये जा सकते हैं। सामान्य परिस्थितियों में पूँजी खाते में परिवर्तनशीलता के परिणामस्वरूप अधिक मात्रा में विदेशी पूँजी प्राप्त करने, वित्तीय साधनों के उचित तथा कुशल उपयोग, वित्तीय बाजार के विकास तथा अनुशासित मेक्रो–आर्थिक नीतियों के संचालन की सम्भावना रहती है, परन्तु यह तभी सम्भव है जब अर्थ–व्यवस्था में आवश्यक परिस्थितियाँ मौजूद हों।

1 जून, 2000 से फेमा लागू किया गया है। यह चालू खाते में परिवर्तनशीलता को व्यावहारिक रूप देने के लिए दी गयी रियायतों तथा छूटों को स्पष्ट करता है। पूँजी खाते में भुगतानों के लिए उदार नीति लागू करने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक को व्यापक अधिकार देता है। विदेशी निवेश के लिए शर्तों की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। फेमा एक सिविल अधिनियम है जिसके अन्तर्गत गिरफ्तारी कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकती है। इसे लागू करने वाले अधिकारियों के अधिकार फेरा के अधिकारियों की तुलना में काफी कम हैं। इसके अन्तर्गत अपील अधिकरण (tribunal) स्थापित करने की व्यवस्था की गयी है। यह अधिनियम अनिवासीय भारतीयों पर लागू नहीं होता है।

1.10 सारांश

विनिमय नियंत्रण के अन्दर वे सभी उपाय सम्मिलित किये जा सकते हैं जो विनिमय बाजार को स्थिर करने की दिशा में निर्देशित होते हैं परन्तु विदेशी विनिमय को नियंत्रित तभी किया जा सकता है जब देश की सरकार अपने देश के निवासियों द्वारा प्राप्त विदेशी विनिमय की लेन–देन एक विशेष रूप में करने के लिए अथवा विभिन्न विदेशी भुगतानों के लिए देश के निवासियों के लिए जो विदेशी विनिमय आवश्यक हो उसका विशिष्ट कसौटियों के आधार पर उनके बीच आवंटन करने के लिए अथवा दोनों ही के लिए हस्तक्षेप करे। विनिमय नियंत्रण मात्र हस्तक्षेप नीति की अपेक्षा बहुत अधिक गहराई तक जाता है क्योंकि यह व्यक्तियों द्वारा विदेशी विनिमय की लेन–देन सम्बन्धी कार्यों की स्वतंत्रता को सीमित करता है। इसका अर्थ विदेशी विनिमय व्यवसाय में सरकारी एकाधिकार की व्यवस्था है। देशवासियों को जो भी विदेशी विनिमय प्राप्त होता है वह सब विनिमय नियंत्रक अधिकारी के पास जमा कर देना पड़ता है जो अतिआवश्यक अथवा वांछित कार्यों के लिए ही उनके प्रयोग की छूट देता है। विनिमय नियंत्रण करने वाला देश सामान्यतः अपने निर्यातकों और विदेशों में अपने निवेशकर्ताओं के लिए यह व्यवस्था करता है कि वे सभी विदेशी विनिमय को सरकार के एक अभिकरण के पास जमा कर दें जो उन्हें देशी मुद्रा में बदलने में प्राप्त होता है।

1.11 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- विदेशी विनिमय क्या है? इसका निर्धारण कैसे होता है?

प्रश्न 2- विदेशी विनिमय का अर्थ स्पष्ट कीजिए। विदेशी विनिमय की समस्या से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न 3- विदेशी विनिमय दर के प्रकार की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4- विनिमय नियंत्रण का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा इसके उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 5- विनिमय नियंत्रण की विभिन्न विधियों का उल्लेख कीजिए तथा भारत सरकार द्वारा अपनायी गई विनिमय प्रणाली की संक्षेप में विवेचना कीजिए।

1.12 शब्दावली

बाह्य तरलता	:	External Liquidity
द्विपक्षीय व्यापार समझौते	:	Bilateral Trade Agreement
हाजिर दर	:	Spot Rate
चल दर	:	Floating Rate
उचित विनिमय दर	:	Proper Rate of Exchange
अन्तरपणन	:	Arbitrage
अवमूल्यन	:	Devaluation

1.12 संदर्भ सूची

Crowther	:	An Outline of Money, Chap. 8.
Ellsworth	:	The International, Economy, Chap. 19.
Ellis	:	Exchange Control in Central Europe Chap. 1.
M.L. Jhingan	:	अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
G.N. Halm	:	Monetary Theory, Chap. 11-15.

इकाई– 02
क्रय शक्ति समता सिद्धान्त एवं भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त

रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की व्याख्या
2.3 क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनाएं
2.4 क्रय शक्ति समता सिद्धान्त का मूल्यांकन
2.5 भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त
2.6 भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की आलोचनाएं
2.7 सारांश
2.8 बोध प्रश्न
2.9 शब्दावली
2.10 सन्दर्भ सूची

2.0 उद्देश्य

विदेशी विनिमय दर में विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति की विभिन्न परिस्थितियों में बहुत ही अधिक अन्तर हो सकता है। विदेशी विनिमय दर में परिवर्तन होता रहता है इसलिए विनिमय की दर समनता से अधिक अथवा कम भी हो सकता है। विनिमय दर की यह समता विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार से निर्धारित होता है। आज के दौर में दुनिया के किसी भी देश में स्वर्णमान और रजतमान के आधार पर विनिमय का निर्धारण नहीं होता बल्कि पत्र मुद्रामान वाले देशों में विनिमय दर का निर्धारण प्रमुख माना जाता है। पत्र मुद्रामान वाले देशों की मुद्रायें किसी भी धातु से सम्बंधित नहीं होती हैं। दोनों ही देशों को पत्र मुद्रामान की अवस्था में होने पर विनिमय दर का निर्धारण इस इकाई के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है।

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त
(Purchasing Power Parity Theory)

2.1 प्रस्तावना

जब दो देशों में परिवर्तनशील पत्र–मुद्रा चलन में होती है तो उनमें विनिमय–दर का निर्धारण दोनों मुद्राओं की क्रय–शक्ति के अनुपात द्वारा होता है। क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त की अपूर्ण रूपरेखा 1802 में जॉन हीटले और 1810 में विलियम ब्लेक के लेखों में में मिलती है, जिसको डेविड रिकार्डो ने पुनः प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से वैज्ञानिक ढंग से विकसित करने का श्रेय स्वीडन के अर्थशास्त्री प्रो. गुस्टाव कैसल को है। क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त का विकास कैसल द्वारा प्रथम महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में किया गया जब स्वर्णमान त्याग देने से यूरोप के देशों में अति–स्फीति की समस्या गम्भीर हो गयी थी तथा विदेशी विनिमय–दरों में बड़े तीव्र परिवर्तन हो रहे थे। उन्होंने मुख्य रूप से समस्या के दो पहलुओं का अध्ययन किया–एक तो यह कि विनिमय–दर का निर्धारण किस प्रकार होता है; और दूसरे, विनिमय दर में परिवर्तन क्यों और कितने होते हैं?

क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार जो देश अपरिवर्तनीय पत्र–मुद्रामान पर होते हैं, उनके बीच 'उचित विनिमय–दर' (proper rate of exchange or equilibrium rate of exchange) इन देशों की मुद्रा की क्रय–शक्ति साम्य (purchansing power par) के आधार पर निर्धारित होती है। इसकी व्याख्या भिन्न–भिन्न लेखकों ने इस प्रकार की है।

स्वयं गुस्टाव कैसल के अनुसार, "दो मुद्राओं के मध्य विनिमय–दर आवश्यक रूप से इन मुद्राओं की आन्तरिक क्रय–शक्तियों के भजनफल पर निर्भर होनी चाहिए। यदि हम इस सत्य पर ध्यान दे तो यह सहज ही देखा जा सकता है कि जो मूल्य हम विदेशी मुद्रा में देते हैं वह ऐसा मूल्य है जिसका अन्तिम दशा में देशी बाजार में वस्तुओं के मूल्य से एक निश्चित सम्बन्ध होता है।"

2.2 क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की व्याख्या

क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त–निरपेक्ष और सापेक्ष, दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु सापेक्षिक रूप ही व्यावहारिक एवं महत्वपूर्ण है। निरपेक्ष रूप यह स्पष्ट करता है कि दो देशों में विनिमय दर सामान्य रूप से उनकी आन्तरिक क्रय शक्ति के अनुरूप होती है। निरपेक्ष स्वरूप इस मान्यता पर आधारित है कि विश्व में व्यापार द्वारा प्रत्येक देश में वस्तुओं की कीमतों में समानता स्थापित हो जाती है किन्तु यह व्यावहारिक नहीं है।

प्रो. कैसल ने क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त के इसी स्वरूप का प्रतिपादन किया। सापेक्षिक स्वरूप स्पष्ट करता है कि विनिमय की सन्तुलन दर में होने वाले परिवर्तन दो देशों की मुद्राओं की क्रय–शक्ति के अनुपात में होने वाले परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होते हैं। अतः जब दो देशों की मुद्राओं की आन्तरिक क्रय–शक्ति में परिवर्तन होता है तो विनिमय दर में भी परिवर्तन हो जाता है। इसे ज्ञात करने के लिए पूर्व की अवधि की दर को, जिससे तुलना करना है, सन्तुलन दर मान लिया जाता है। फिर दोनों की मुद्राओं की आन्तरिक क्रय–शक्ति में होने वाले परिर्वनों के आधार पर, सन्तुलन दर में होने वाले परिवर्तनों की गणना की जाती है। इसे निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

विनिमय दर = आधार वर्ष में विनिमय दर × आधार वर्ष में देश का कीमत सूचकांक / चालू वर्ष में देश की कीमत सूचकांक × चालू वर्ष में विदेशी कीमतों का सूचकांक / आधार वर्ष में विदेशी कीमतों का सूचकांक

चित्र 1

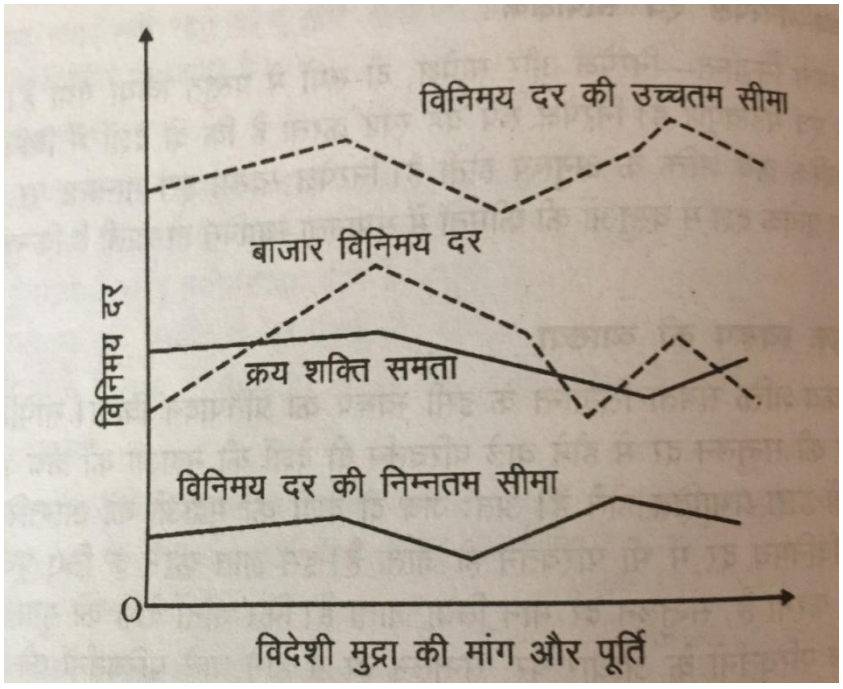

इसे हम अंकों का उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। मान लो आधार वर्ष 1951 में भारत और अमेरिका के बीच विनिमय दर 1 रुपया = 20 सेंट है। आधार वर्ष में दोनो देशों का कीमत सूचकांक 100 मान

लिया जाता है। अब चालू वर्ष 2001 में भारत में कीमतों का सूचकांक बढ़कर 500 हो जाता है तथा यह अमेरिका में बढ़कर 200 हो जाता है तो नई विनिमय दर निम्न प्रकार होगी–

$$1 \text{ रुपया} = 20 \text{ सेंट} \times \frac{100}{500} \times \frac{200}{100}$$

$$1 \text{ रुपया} = 20 \text{ सेंट} \times \frac{2}{5}$$

1 रुपया = 8 सेंट

उपर्युक्त सूत्र हल करने से ज्ञात होता है कि नई विनिमय दर 1 रुपया = 8 सेंट है क्योंकि भारत में चालू वर्ष की कीमतों का सूचकांक अमेरिका की तुलना में ढाई गुना हो गया है। यदि दोनों देशों के कीमत सूचकांक में समान परिवर्तन होता है तो विनिमय दर में कोई परिवर्तन नहीं होगा अर्थात् वह पहले की ही तरह 1 रुपया = 20 सेंट रहेगी।

विनिमय दर में परिवर्तन की सीमाएं

क्रय–शक्ति समता में परिवर्तन की सीमाएं इतनी निश्चित नहीं होती जितनी कि विनिमय की टकसाली दर के अन्तर्गत होती हैं। वास्तविक विनिमय दर जिसे बाजार की विनिमय दर भी कहते हैं, क्रय–शक्ति समता दर से कम या अधिक हो सकती है। विनिमय दर में किन सीमाओं तक परिवर्तन होंगे, यह वस्तुओं के परिवहन व्यय, प्रशुल्क, बीमा शुल्क, पैकिंग व्यय, आदि पर निर्भर रहता है। रेखाचित्र 1 में विनिमय दर के परिवर्तनों को स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित 1 में यह दर्शाया गया है कि बाजार विनिमय दर क्रय–शक्ति समता के आस–पास घूमती है तथा उसकी दीर्घकालीन प्रवृत्ति क्रय–शक्ति समता बिन्दु के समीप रहने की होती है। रेखाचित्र में विनिमय दर की उच्चतम और निम्नतम सीमा को भी स्पष्ट किया गया है। दीर्घकाल में विनिमय दर दो देशों की मुद्राओं की क्रय–शक्ति समता से निर्धारित होती है। किन्तु अल्पकालीन विनिमय दर अथवा बाजार विनिमय दर क्रय–शक्ति समता से कम अथवा अधिक हो सकती है।

2.3 क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनाएं

क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएं की गई हैं–

1. विनिमय दर पर अन्य तत्वों का प्रभाव– यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि विनिमय दर केवल क्रय–शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। किन्तु यह सही नहीं है। प्रो. केन्स के अनुसार विनिमय दर क्रय–शक्ति के अतिरिक्त अन्य तत्वों द्वारा भी प्रभावित होती है, जैसे–प्रशुल्क, पूंजी का प्रवाह, मांग की लोच, इत्यादि।

2. विनिमय दर का निर्धारण वस्तु मूल्य से न होकर मुद्रा की मांग–पूर्ति से होता है–आलोचकों के अनुसार विनिमय दन का निर्धारण वस्तुओं के मूल्यों से न होकर सम्बन्धित देशों को मुद्रा की मांग–पूर्ति द्वारा होता है। यदि किसी देश का मूल्य–स्तर कम है तो उसकी वस्तुओं की मांग विदेशों में बढ़ जाती है, जिससे भुगतान करने के लिए देश की मुद्रा की मांग बढ़ जाती है और विनिमय दर बढ़ने लगती है।

3. सूचकांकों की गणना में कठिनाई– क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त में कीमतों के परिवर्तन को मापने के लिए सूचकांकों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु सूचकांकों के कुछ कठिनाइयां एवं सीमाएं होती हैं। फिर दो देशों के सूचकांकों की तुलना करना भी सम्भव नहीं हो पात। कीमत सूचकांकों में ऐसी वस्तुओं को भी शामिल कर लिया जाता है जो विदेशी व्यापार से सम्बन्धित नहीं होती अतः ऐसे सूचकांकों के आधार पर विनिमय दर की वास्तविक तुलना नहीं की जा सकती।

4. वस्तुओं में भिन्नता– यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि दोनों देशों में वस्तुओं के समूहों में एकरूपता रहती है, किन्तु भौगोलिक श्रम–विभाजन के कारण देशों के उत्पादन में भिन्नता रहती है। ऐसी स्थिति में क्रय–शक्ति के आधार पर विनिमय दर का निर्धारण सम्भव नहीं है।

5. परिवहन लागत की उपेक्षा–यह सिद्धान्त परिवहन लागत की उपेक्षा करता है। वास्तव में, यह सिद्धान्त उसी समय लागू होता है जब दो देशों में वस्तुओं का स्वतन्त्र और बिना परिवहन लागत के प्रवाह हो। किन्तु यह मान्यता लागू नहीं होती क्योंकि वस्तुओं के परिवहन व्यय के आधार पर दो देशों की वस्तुओं के मूल्यों में भिन्नता होती है।

6. विनिमय दर का भी कीमत–स्तर पर प्रभाव पड़ता है–सिद्धान्त की यह मान्यता है कि कीमत–स्तर में होने वाले परिवर्तन विनिमय दर को प्रभावित करते हैं, किन्तु विनिमय दर के परिवर्तन, कीमत–स्तर को प्रभावित नहीं करते। यह मान्यता सही नहीं है, क्योंकि अनुभव से यह सिद्ध हुआ है कि विनिमय दर का भी कीमत–स्तरों पर प्रभाव पड़ता है। मौद्रिक अर्थशास्त्री प्रो. हॉम के शब्दों में, "राष्ट्रीय कीमत–स्तर, विनिमय दर का अनुसरण करता है न कि उसे प्रभावित करता है।"

7. स्वतन्त्र व्यापार में बाधाएं–सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि दो देशों में व्यापार बिना किसी प्रतिबन्ध के स्वतन्त्र रूप से होता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि दो देशों के बीच व्यापार में कई प्रकार की बाधाएं विद्यमान रहती हैं। अतः ऐसी स्थिति में क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त महत्वहीन हो जाता है।

8. मात्र दीर्घकालीन विवेचन– क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त विनिमय दरों की केवल दीर्घकालीन प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है तथा अल्पकाल में विनिमय दरों में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं करता। प्रो. केन्स के अनुसार, ऐसे सिद्धान्त का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है जो अल्पकाल में समस्या का समाधान नहीं करता। यह सत्य है कि अल्पकाल में अनेक तत्व विनिमय दर को प्रभावित करते हैं।

9. स्थैतिक स्थिति में ही प्रभावशील–इस सिद्धान्त का एक दोष यह भी है कि यह केवल स्थैतिक अर्थात गतिहीन दशाओं में ही लागू होता है तथा इसमें दो देशों में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों एवं गतिशीलता की अवहेलना की गई है।

10. मांग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों की अवहेलना–प्रो. नर्कसे के अनुसार यह सिद्धान्त केवन कीमतों के उतार–चढाव को ही विनिमय दर का निर्धारक मानता है तथा मांग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों की अवहेलना करता है। वास्तव में, व्यापार–चक्र के फलस्वरूप होने वाले परितर्वन विदेशी मुद्रा की मांग तथा विनिमय दर को प्रभावित करते हैं।

2.4 क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त का मूल्यांकन

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर इस सिद्धान्त को सारहीन कहना उचित नहीं होगा। भले ही इस सिद्धान्त में कुछ कमजोरियां हों, किन्तु कागजीमान के अन्तर्गत विनिमय दर को निर्धारित करने की दिशा में यह सिद्धान्त एक सार्थक स्पष्टीकरण है। यह सिद्धान्त भुगतान–सन्तुलन के निर्धारण की भी व्याख्या करता है।

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त, टकसाली समता सिद्धान्त पर एक महत्वपूर्ण सुधार है।

2.5 भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त
(Balance of Payment Theory of Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय दर का भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि निर्यात ही आयातों का भुगतान करते हैं। सन्तुलित विनिमय दर के लिए आवश्यक है कि एक देश के कुल निर्यातों का मूल्य कुल आयातों के मूल्य के बराबर हो। इससे स्पष्ट है कि विनिमय दर का निर्धारण देश की भुगतान सन्तुलन स्थिति द्वारा निर्धारित होता है। इसे विदेशी विनिमय का सन्तुलन भी कहते हैं।

सिद्धान्त का स्पष्टीकरण–एक देश का व्यापार शेष सदैव सन्तुलन में नहीं रहता क्योंकि ऐसे अनेक कारण रहते हैं जो भुगतान सन्तुलन को अनकूल अथवा प्रतिकूल बना देते हैं। जब एक देश की भुगतान सन्तुलन की स्थिति प्रतिकूल होती है तो उस देश में विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है जिससे वह पहले की तुलना में ज्यादा महंगी हो जाती है अर्थात देश की मुद्रा का मूल्य गिर जाता है। जब भुगतान सन्तुलन की स्थिति अनुकूल होती है तो ऐसे देश की मुद्रा का मूल्य विदेशों में बढ़ जाता है और विनिमय दर ऐसे देश के अनुकूल हो जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि एक देश की मुद्रा का विदेशी मुद्रा में मूल्य उस मुद्रा विशेष की मांग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा होता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त विदेशी विनिमय की सीमान्त मांग और पूर्ति का सिद्धान्त है।

यदि हम दो देशों की सन्तुलित विनिमय दर जानना चाहें, उदाहरण के लिए भारत और अमेरिका, तो हमें यह जानना होगा कि विभिन्न विनिमय दरों पर भारत, अमेरिका की मुद्रा अर्थात डालर की कितनी–कितनी मात्रा की मांग करता है। इसी प्रकार यह भी जाना जा सकता है कि विभिन्न विनिमय दरों पर अमेरिका, भारत की मुद्रा रुपया की कितनी मात्रा की मांग करता है। इन विभिन्न विनिमय दरों के आधार पर ऐसी विनिमय दर का पता लागाया जाता है जिस पर भारत और अमेरिका में डालर और रुपयों की मांग बराबर होती है। इसी विनिमय दर पर दोनों का भुगतान शेष सन्तुलन में होता है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण–भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त को रेखाचित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है–

चित्र 2

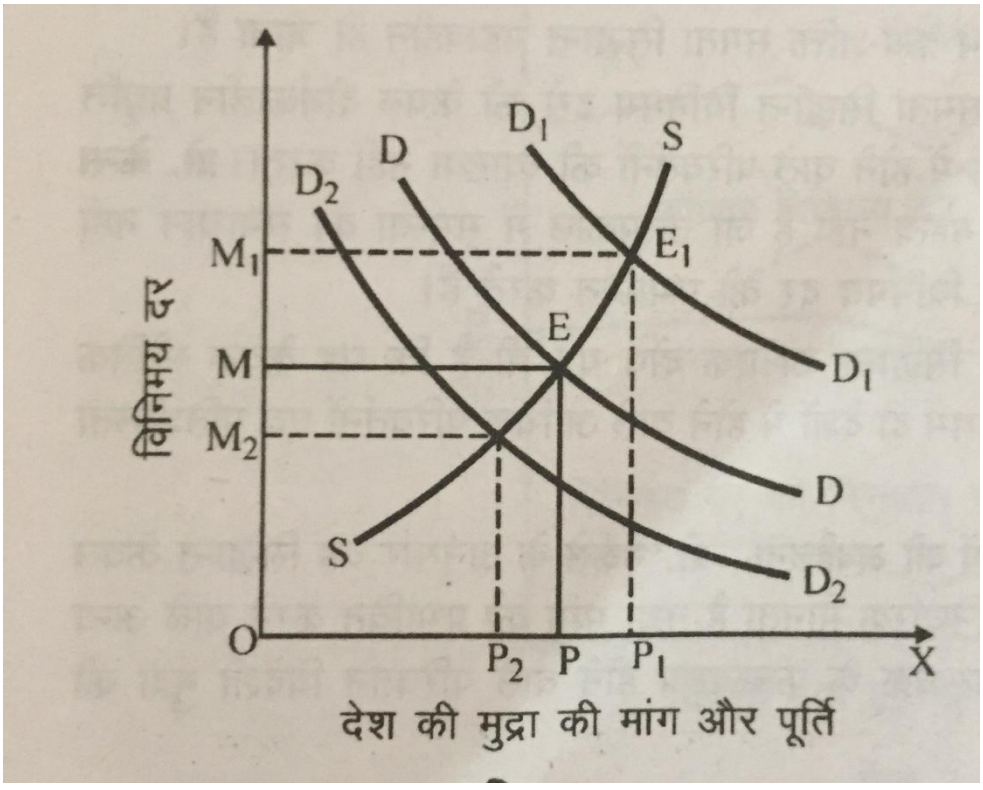

इस रेखाचित्र में OX अक्ष पर देश की मुद्रा की मांग और पूर्ति तथा OY पर विनिमयन दर को दिखाया गया है। SS वक्र पूर्ति वक्र है। जहां तक मांग वक्र का प्रश्न है, कई कारण ऐसे होते हैं जो एक देश की मुद्रा की विदेशों में मांग में परिवर्तन कर देते हैं। रेखाचित्र में मूल मांग वक्र DD पूर्ति वक्र

को E बिन्दु पर काटता है जहां मुद्रा की मांग और पूर्ति OP तथा साम्य विनिमय दर OM है। यदि इस देश का भुगतान–सन्तुलन अनुकूल हो जाता है तो विदेशों में इस देश की मुद्रा की मांग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है जिससे विनिमय दर बढ़कर OM_1 हो जाती है। इसके विपरीत, यदि इस देश का भुगतान–सन्तुलन प्रतिकूल हो जाता है तो विदेशों में इस मुद्रा की मांग घटकर D_2D_2 हो जाती है जिससे विनिमय दर घटकर OM_2 हो जाती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भुगतान–सन्तुलन की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता का विनिमय दर पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

2.6 आलोचनाएं

भुगतान–सन्तुलन सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएं की गई हैं–

1. अवास्तविक मान्यताएं–इस सिद्धान्त में विदेशों से आयात की जाने वाली अनेक वस्तुओं की मांग को बेलोचदार मान लिया गया है जिससे आयात करने वाले देश की विनिमय दर प्रतिकूल हो जाती है। किन्तु यह मान्यता सही नहीं है।

2. विनिमय दर का भुगतान–सन्तुलन पर प्रभाव–यह सिद्धान्त यह तो स्पष्ट करता है कि भुगतान–सन्तुलन से विनिमय दर प्रभावित होती है किन्तु इस बात की व्याख्या नहीं करता कि विनिमय दर में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव भुगतान–सन्तुलन पर भी पड़ता है।

3. देश की कीमतों का आयात–निर्यात पर प्रभाव–इस सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि देश की कीमतों में होने वाले परिवर्तन भी आयात–निर्यात को प्रभावित करते हैं और इस प्रकार विदेशी व्यापार में होने वाले परिवर्तन भुगतान–सन्तुलन को प्रभावित करते हैं।

4. विनिमय दर पर अन्य तत्वों का प्रभाव–विनिमय दर का निर्धारण केवल विदेशी मुद्रा की मांग पूर्ति द्वारा नहीं होता पर इस पर अन्य तत्वों का प्रभाव भी पड़ता है जैसे राजनीतिक दशाएं, बैंकों की क्रियाएं, चलन सम्बन्धी दशाएं, विदेशी सहायता, इत्यादि।

उपरोक्त दोषों के बावजूद भुगतान–सन्तुलन सिद्धान्त विनिमय दर के निर्धारण की सरल एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है।

2.7 सारांश

जहाँ तक भुगतान संतुलन सिद्धान्त बाजार विनिमय–दर की व्याख्या विदेशी विनिमय की चालू माँग और पूर्ति के रूप में करना चाहता है, यह एक सही सिद्धान्त है। फिर भी यह सिद्धान्त इस तथ्य को विचार में रखने में असफल है कि आयातों के लिए सर्वाधिक आवश्यक मांग के कारण भी वस्तुतः आयात नहीं किया जा सकेगा जब तक इनके लिए भुगतान नहीं किया जा सके। यह कल्पना कर लेना गलत है कि अन्तरराष्ट्रीय भुगतान संतुलन की विभिन्न मदें निश्चित और स्थिर राशियाँ हैं क्योंकि वे स्वयं ही विनिमय दर पर आश्रित होती हैं। इस प्रकार भुगतान संतुलन सिद्धान्त उस अवस्था में ठोसता के सिद्धान्त का प्रयोग करता है जहां तरलता के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाना अधिक उपयुक्त होगा। हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि व्यापार संतुलन, जो भुगतान संतुलन को निर्धारित करता है, देश और विदेशों के मूल्य स्तरों के सम्बन्धों पर भी निर्भर होता है क्योंकि शायद ही कोई वस्तु ऐसी होती है जिसके लिए माँग में कुछ–न–कुछ लोच न हो। इसके अतिरिक्त कालसिद्ध सिद्धान्त, जो बतलाता है कि मूल्यों और विनिमय–दों में एक क्रियात्मक सम्बन्ध होता है जिसके कारण बढ़ते हुए मूल्य और विनिमय अवमूल्यन साथ–साथ चलते हैं, विदेशी विनिमय का एक साम्य सिद्धान्त की मौलिक सैद्धान्तिक मान्यता के विरुद्ध एक तर्क के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसकी मान्यताएँ गलत हैं। मूल्य स्तर का आयात निर्यात की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है। यह भुगतान संतुलन के आधार पर विनिमय दर के निर्धारण की व्याख्या करता है। व्यवहार में स्वयं भुगतान संतुलन विनिमय–दरों से प्रभावित हो सकता है। विनिमय–दर का निर्धारण केवल विदेशी मुद्राओं की मांग और पूर्ति द्वारा ही नहीं

होता बल्कि चलन सम्बन्धी दशाओं, राजनीतिक दशाओं, सट्टेबाजी, बैंकिंग क्रियाओं, विदेशी आर्थिक सहायता और निवेश आदि भी विनिमय–दरों पर प्रभाव डालते हैं।

2.8 बोध प्रश्न

प्रश्न–1 क्रय–शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न–2 विदेशी विनिमय के भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा इसके कमियों को स्पष्ट कीजिए।

2.9 शब्दावली

अस्थिर दर	:	Moving Rate
साम्य विनिमय दर	:	Equilibrium Rate Exchange
थोक कीमतें	:	Wholesale Prices
व्यापार का रुख	:	Direction of Trade
भुगतान–सन्तुलन	:	Balance of Payments
प्रबंधित लचक	:	Managed Flexibility

2.10 सन्दर्भ सूची

श्रीधर पाण्डेय	:	अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र
Kindleberger	:	International Economics
Meade	:	Balance of Payments
J.M. Keynes	:	A Tract on Monetary Reform

इकाई– 3

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त : निरपेक्ष लाभ एवं तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त, हेक्शर–ओहलिन का सिद्धान्त

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 सिद्धान्त की व्याख्या
3.3 आलोचनात्मक मूल्यांकन
3.4 रिकार्डो का तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त
3.5 रिकार्डो के सिद्धान्त की मान्यताएं
3.6 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या
3.7 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
3.8 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत का सिद्धान्त
3.9 अवसर लागत सिद्धान्त की मान्यताएं
3.10 स्थिर अवसर लागत दशा में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार
3.11 बढ़ती अवसर लागत की दशा में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार
3.12 घटती अवसर लागत की दशा में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार
3.13 अवसर लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
3.14 अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का हैक्सर–ओहलिन का सिद्धान्त
3.15 हैक्सर–ओहलिन सिद्धान्त की मान्यताएं
3.16 हैक्सर–ओहलिन सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन
3.17 सारांश
3.18 बोध प्रश्न
3.19 शब्दावली
3.20 सन्दर्भ सूची

3.0 उद्देश्य

अर्थशास्त्र में आरम्भ से ही विश्व व्यापार की गतिविधियों को सर्वाधित महत्व दिया गया है क्योंकि विश्व के सभी देशों की आर्थिक एवं प्राकृतिक संरचना भिन्न रही है। ऐसे में प्रत्येक देश के लिए किन वस्तुओं का उत्पादन कम लागत पर करना और विश्व व्यापार में अपनी भागीदारी को बढ़ाना हमेशा से एक चुनौती रहा है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि आन्तरिक व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कुछ मौलिक अन्तर है जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता है। क्योंकि उत्पादन के साधनों के गतिशीलता, उत्पादन सम्बन्धी सुविधाओं में भिन्नता, विभिन्न मौद्रिक व्यवस्थायें एवं नीतियां, आर्थिक राष्ट्रवाद और आयात और निर्यात पर नियंत्रण तथा पूंजी एवं श्रम के अंतर्राष्ट्रीय प्रवाह का परिवहन व्यय इत्यादि। इस इकाई के अन्तर्गत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को समझना प्रमुख उद्देश्य है। साथ ही प्रो. हैबरलर के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धान्त तथा हेक्शर–ओहलिन के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त के बारे में समझना प्रमुख उद्देश्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
एडम स्मिथ का निरपेक्ष लाभ सिद्धान्त
(Classical Theories of International Trade)
(Adam Smith Theory of Absolute Advantage)

3.1 प्रस्तावना

1776 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations' में एडम स्मिथ ने वाणिज्यवादियों की राज्य शक्ति (State Power) की विचारधारा पर तीव्र प्रहार किया। एडम स्मिथ ने एक व्यक्तिवादी आर्थिक प्रणाली का निमार्ण किया जिसमें सरकारी नियन्त्रण को अनावश्यक बताया गया और प्रतिपादित किया गया कि अहस्तक्षेप नीति (Laissez faire) के अन्तर्गत ही सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। एडम स्मिथ ने यह कहकर वाणिज्यवादी प्रणाली की आलोचना की कि उसमें उपभोक्ता के हितों को तिलांजलि देकर उत्पादक के हितों की रक्षा की जाती थी। एडम स्मिथ ने वाणिज्यवादियों के अनुकूल व्यापार सन्तुलन, आयातों पर प्रतिबन्ध तथा निर्यात प्रोत्साहन की तीव्र निन्दा की।

एडम स्मिथ ने श्रम विभाजन के महत्व को प्रतिपादित किया और बताया कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के कारण ही विदेशी व्यापार से लाभ होता है। दो देशों के बीच व्यापार क्यों होता है, इसे समझाने के लिए उन्होंने निरपेक्ष लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। स्मिथ ने स्पष्ट किया कि यदि श्रम–विभाजन एवं विशिष्टीकरण का सहारा लिया जाय तो कार्यक्षमता में वृद्धि की जा सकती है और उत्पादन बढ़ाया जा सकता है।

स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि इससे प्रत्येक राष्ट्र ऐसी वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है जो वह सबसे कम लागत पर बना सकता है। जब एक देश दूसरे देश की तुलना में एक वस्तु को सस्ता तैयार कर सकता है, तो दूसरे देश के लिए यह लाभदायक होगा कि उस वस्तु का निर्माण अपने देश में न करे वरन् पहले देश से खरीद ले। इसी प्रकार पहला देश, दूसरे देश से उस वस्तु को खरीद ले जो वह तुलनात्मक रूप से सस्ती बना सकता है। इस प्रकार स्मिथ के अनुसार देशों में होने वाले व्यापार से विश्व के उत्पादन के साधनों का कुशलतम वितरण सम्भव हो जाता है जिससे व्यापार करने वाले देशों की वास्तविक आय बढ़ती है।

3.2 एडम स्मिथ का निरपेक्ष लाभ सिद्धान्त की व्याख्या

एडम स्मिथ के अनुसार दो देशों में व्यापार उस स्थिति में होता है यदि उनमें से एक देश को एक वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है तथा दूसरे देश को दूसरी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है। निरपेक्ष लाभ का अभिप्राय है कि एक देश दो वस्तुओं में से एक वस्तु को दूसरे देश की तुलना में निरपेक्ष रूप से कम लागत पर उत्पादित कर सकता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

तालिका 1 द्वारा एडम स्मिथ के निरपेक्ष लाभ सिद्धान्त को समझाया गया है। दो देश भारत और म्यांमार है जो जूट एवं चावल का उत्पादन करते हैं। दोनों देशों में प्रत्येक श्रमिक दस घण्टे कार्य करता है तथा जूट और चावल की निम्न इकाइयों का उत्पादन करता है–

तलिका 1
10 घण्टे श्रम का उत्पादन

देश	उत्पादन इकाइयां	
	जूट	चावल
भारत	10	5
म्यांमार	5	10

तालिका से स्पष्ट है कि 10 घण्टे के श्रम से भारत में जूट और चावल की क्रमशः 10 और 5 इकाइयां पैदा की जा सकती हैं तथा इतने ही श्रम से म्यांमार में जूट और चावल की क्रमशः 5 और 10 इकाइयां पैदा की जा सकती हैं। भारत में जूट और चावल की लागत का अनुपात 10 : 5 या 2 : 1 है जबकि म्यांमार में जूट और चावल का अनुपात भी ज्ञात किया जा सकता है। भारत में एक इकाई चावल को जूट की दो इकाइयों के बदले प्राप्त किया जा सकता है तथा म्यांमार में जूट की एक इकाई को चावल की दो इकाइयों के बदले प्राप्त किया जा सकता है। दोनों देशों का विनिमय अनुपात इस प्रकार होगा– भारत में जूट की एक इकाई = चावल की ½ इकाई, म्यांमार में जूट की एक इकाई = चावल की दो इकाइयां। तालिका 1 से स्पष्ट है कि भारत को म्यांमार की तुलना में जूट के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है तथा म्यांमार को भारत की तुलना में चावल के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ है। यदि भारत केवल जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तथा चावल के बदले भारत जूट खरीदे तो दोनों देशों को लाभ होगा। यदि यह मानकर चलें कि परिवहन लागत नहीं लगती तो भारत से जूट की दो इकाइयों का निर्यात करके म्यांमार से उसके बदले चावल की चार इकाइयां प्राप्त की जा सकती हैं जबकि भारत में जूट की 2 इकाइयों के बदले चावल की 1 इकाई ही प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार म्यांमार से चावल की 2 इकाइयों का निर्यात करके भारत से जूट को 4 इकाइयां प्राप्त की जा सकती हैं जबकि म्यांमार में चावल की 2 इकाइयों के बदले चावल की एक से अधिक इकाइयां पाप्त कर सकता है या जब तक म्यांमार चावल की 2 इकाइयों के बदले जूट की एक से अधिक इकाइयां प्राप्त कर सकता है, दोनों देशों के बीच व्यापार होगा तथा दोनों को लाभ होगा।

विशिष्टीकरण के पूर्व–जब दोनों देश बिना विशिष्टीकरण अपनाये दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करें तो कुल उत्पादन निम्नवत् होगा–

भारत = 10 इकाई जूट + 5 इकाई चावल
म्यांमार = 5 इकाई जूट + 10 इकाई चावल
कुल उत्पादन = 15 इकाई जूट + 15 इकाई चावल

विशिष्टीकरण के बाद–भारत केवल जूट तथा म्यांमार केवल चावल का उत्पादन करे तो कुल उत्पादन निम्नवत् होगा–

भारत = 20 इकाई जूट
म्यांमार = 20 इकाई चावल

यहां स्पष्ट है कि विशिष्टीकरण होने के बाद जूट और चावल के उत्पादन में 5-5 इकाई की वृद्धि हो गयी है। यही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ है।

3.3 आलोचनात्मक मूल्यांकन

व्यावहारिक दृष्टि से एडम स्मिथ का व्यापार का सिद्धान्त स्पष्ट है और विश्वसनीय नहीं है। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि एक देश को किसी न किसी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ होना चाहिए ताकि उसका निर्यात किया जा सके अर्थात् निर्यातक देश को दयि हुए श्रम और पूंजी की सहायता से अन्य देशों की तुलना में किसी भी वस्तु के उत्पादन में श्रेष्ठ न हो अर्थात् उसे निरपेक्ष लाभ न हो। ऐसा उदाहरण किसी पिछड़े हुए देश का हो सकता है जो अकुशल है, जिसकी उत्पादन विधियां पिछड़ी हुई हैं। क्या ऐसे देश को विदेशी व्यापार से लाभ प्राप्त होगा? अथवा विदेशी प्रतियोगिता के कारण उसके उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा? एडम स्मिथ का सिद्धान्त इस समस्या को हल नहीं कर सका। वास्तव में, एडम स्मिथ ने विदेशी व्यापार के कारणों तथा उसकी शर्तों को निर्धारित करने वाले तत्वों की कोई विस्तृत और सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। स्मिथ ने केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधार को ही प्रस्तुत किया जो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन के कारण होने वाला लाभ था। बाद में डेविड रिकार्डो ने 1817 में प्रकाशित होने पर अपनी पुस्तक 'Principles of Political Economy' में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को प्रस्तुत करके न केवल एडम स्मिथ के व्यापार के सिद्धान्त के दोष को दूर किया वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

3.4 रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त
(Ricardian Theory of Comparative Cost)

एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित निरपेक्ष लागत लाभ सिद्धान्त की अपूर्णता से असन्तुष्ट होकर डेविड रिकार्डो ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त (अथवा तुलनात्मक लाभ सिद्धान्त) प्रतिपादित किया। रिकार्डो का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त श्रम के मूल्य सिद्धान्त पर आधारित है। यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि वस्तुओं का मूल्य उसमें निहित श्रम से आंका जाता है और वस्तुओं का परस्पर विनिमय उन वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए श्रम के आधार पर होता है। जिन वस्तुओं का मूल्य समान होता है उनको बनाने में श्रम की समान मात्रा लगती है। इस प्रकार रिकार्डो ने वास्तविक लागत को श्रम के समय (labour time) के रूप में व्यक्त किया।

सरल शब्दों में, "जब दो देश वस्तुओं का उत्पादन सापेक्षिक रूप से विभिन्न श्रम लागत के आधार पर करते हैं तो यह प्रत्येक देश के लिए लाभदायक होगा कि वह उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे जिनकी लागत सापेक्षिक रूप से न्यूनतम है।"

3.5 रिकार्डो के सिद्धान्त की मान्यताएँ
(Assumptions of Ricardian Theory)

रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निम्न मान्यताओं के आधार पर की है–

1. व्यापार करने वाले केवल दो देश हैं जिनमें दो वस्तुओं का विनिमय होता है अर्थात् रिकार्डो का सिद्धान्त दो देश और दो वस्तुओं के सरल मॉडल पर आधारित है।
2. दानों ही देशों में दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है।
3. श्रम की उत्पत्ति का सबसे महत्वपूर्ण एवं उत्पादक साधन है तथा अन्य साधनों को श्रम में ही समाहित मान लिया गया है।
4. दोनों देशों में वस्तु विनिमय होता है तथा विनिमय में मुद्रा का प्रयोग नहीं किया जाता।
5. रिकार्डो के सिद्धान्त की अन्तिम मान्यता यह है कि कोई परिवहन लागत नहीं लगती।
6. इस सिद्धान्त में मूल्य के श्रम सिद्धान्त को माना गया है जिसे वास्तविक लागत का सिद्धान्त कहा जाता है। वस्तुओं का विनिमय इस आधार पर होता है कि उनके उत्पादन में कितने दिन का श्रम लगा है।
7. यह भी इस सिद्धान्त की मान्यता है कि दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त है। यह मान्यता प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के "पूर्ण रोजगार" के सिद्धान्त के अनुरूप है।
8. यह सिद्धान्त मानकर चलता है कि दोनों देशों में स्थिर लागत अनुपात के अन्तर्गत (उत्पादन समता नियम) उत्पादन होता है।
9. इस सिद्धान्त की यह भी मान्यता है कि देश में उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण गतिशीलता रहती है, किन्तु दो देशों के बीच इन उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का पूर्ण अभाव रहता है।
10. दो देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कोई रोक–टोक या व्यवधान नहीं होता अतः वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय स्वतन्त्रतापूर्वक होता है।

3.6 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की व्याख्या

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिए होता है कि विभिन्न देशों को भिन्न–भिन्न वस्तुओं के उत्पादन में अलग–अलग लाभ होता है। इन विभिन्न लाभों को निर्धारित करने में देश के आर्थिक साधनों का महत्वपूर्ण हाथ होता है, जैसे, अनुकूल जलवायु, अनुकूल भूमि, कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति एवं तकनीकी प्रगति के कारण अधिक कार्यकुशल श्रम शक्ति, इत्यादि।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

जब एक देश को दूसरे देश की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में श्रेष्ठता प्राप्त होती है यद्यपि एक वस्तु के उत्पादन में यह श्रेष्ठता अधिक तथा दूसरी वस्तु में कम रहती है तो इसे लागतों में

तुलनात्मक अन्तर कहते हैं। एडम स्मिथ ने निरपेक्ष लाभ को ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना था परन्तु रिकार्डो ने बताया कि लागतों में तुलनात्मक अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार माना था रिकार्डो ने बताया कि लागतों में तुलनात्मक अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पर्याप्त कारण है। एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में उसे तुलनात्मक रूप से अधिक लाभ है तथा उन वस्तुओं का आयात करेगा जिनमें उसे कम लाभ है। एक देश दूसरे देश की तुलना में हर वस्तु के उत्पादन में पूर्णरूप से अधिक कुशल हो सकता है तथा दूसरा देश सब वस्तुओं के उत्पादन में पूर्णरूप से अधिक अकुशल हो सकता है, किन्तु यदि दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक कुशलता भिन्न–भिन्न है, तो भी दोनों देशों में व्यापार होगा। इसे हम उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे। माना भारत और म्यांमार में प्रत्येक श्रमिक 10 घण्टे कार्य करता है तथा जूट और चावल की निम्न इकाइयों का उत्पादन करता है–

तलिका 2		
10 घण्टे श्रम का उत्पादन (इकाइयों में)		
देश	जूट	चावल
भारत	10	10
म्यांमार	4	8

तालिका 2 से स्पष्ट है कि भारत को म्यांमार की तुलना में जूट और चावल दोनों वस्तुओं के उत्पादन के निरपेक्ष लाभ है, किन्तु तुलनात्मक रूप से इसे चावल की तुलना में जूट के उत्पादन में अधिक लाभ है क्योंकि जहां जूट के उत्पादन में उसकी श्रेष्टता ढाई गुनी है, वहीं चावल के उत्पादन में केवल सवा गुनी है। जहां तक म्यांमार का प्रश्न है, उसे भारत की तुलना में दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष हानि है, किन्तु उसकी लागत की तुलनात्मक हानि जूट की तुलना में चावल से कम है। व्यापार न होने की स्थिति में दोनों देशों में दोनों वस्तुओं का निम्न विनिमय अनुपात होगा–

भारत में → 1 इकाई जूट = 1 इकाई चावल

म्यांमार में → 1 इकाई जूट = 2 इकाई चावल

परन्तु यदि दोनों देशों में व्यापार होता है तो उससे दोनों देश लाभान्वित होंगे। भारत जूट के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तथा म्यांमार चावल के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे तो दोनों देश व्यापार से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। हम यह मानकर चलें कि परिवहन लागत नहीं लगती तो भारत 1 इकाई जूट के बदले म्यांमार से 2 इकाई चावल प्राप्त कर सकता है (क्योंकि म्यांमार में जूट और चावल का विनिमय अनुपात 4:8 है) जबकि भारत में अपने देश में एक इकाई चावल के बदले भारत से 1 इकाई जूट प्राप्त कर सकता है (क्योंकि भारत में जूट और चावल का विनिमय अनुपात 10:10 है) जबकि म्यांमार अपने देश में एक इकाई चावल के बदले केवल आधा इकाई जूट प्राप्त कर सकता है। परिवहन लागत होने पर भी जब तक भारत एक इकाई जूट के बदले चावल की एक से अधिक इकाई प्राप्त कर सकता है एवं म्यांमार एक इाकई चावल के बदले जूट की आधे से अधिक इकाई प्राप्त कर सकता है तो दोनों देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होगा एवं दोनों को लाभ दोनों के हित में होगा कि भारत केवल जूट का उत्पादन करे तथा उसके बदले भारत से जूट का आयात करे।

उक्त विशिष्टीकरण से किस प्रकार कुल उत्पादन में वृद्धि होती है यह भी स्पष्ट किया जा सकता है।

(i) यदि दोनों देशों में विशिष्टीकरण और व्यापार न हो तो कुल उत्पादन इस प्रकार होगा–

भारत = 10 इकाई जूट + 10 इकाई चावल

म्यांमार = 4 इकाई जूट + 8 इकाई चावल

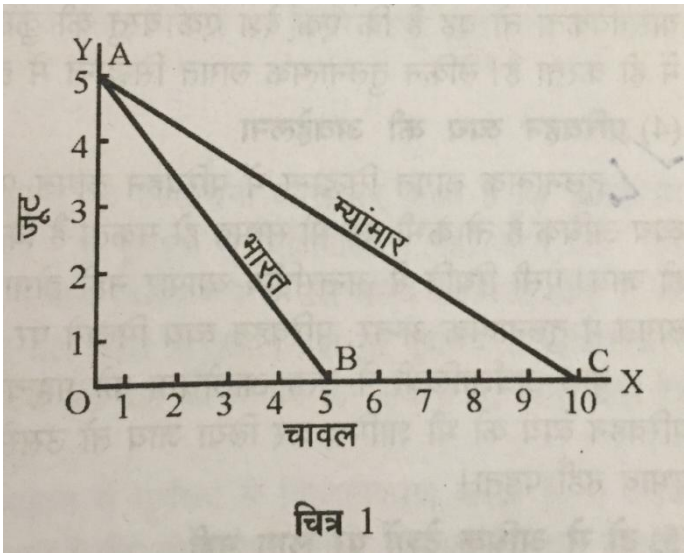

चित्र 1

(ii) यदि विशिष्टीकरण अपनाकर भारत केवल जूट एवं म्यांमार केवल चावल का उत्पादन करे तो–

भारत = 20 इकाई जूट

म्यांमार = 16 इकाई चावल

कुल उत्पादन = 20 इकाई जूट + 16 इकाई चावल

इस प्रकार विशिष्टीकरण से जूट की 6 इकाई अधिक का उत्पादन हुआ यद्यपित चावल में 2 इकाइयों की कमी हुई, किन्तु इस हानि की तुलना में जूट का उत्पादन बहुत अधिक है अतः कुल मिलाकर उत्पादन अधिक हुआ।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण–लागतों में तुलनात्मक अन्तर को अग्र रेखाचित्र 1 द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है।

रेखाचित्र 1 में AB भारत की उत्पादन सीमा रेखा है तथा AC म्यांमार की उत्पादन सीमा रेखा है जो इस आधार पर खींची गयी है कि भारत में जूट और चावल का विनिमय अनुपात 1 : 1 है तथा म्यांमार में यही विनिमय अनुपात 1 : 2 है। इन दोनों देशों में व्यापार होने से BC को अतिरेक लाभ प्राप्त होगा तथा विनिमय दर B व C के बीच कहीं भी निर्धारित होगी। यह ध्यान रहे कि उत्पादन सीमा रेखा स्थिर लागत के अन्तर्गत खींची गयी है।

किसी वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने का आधार केवल इतना ही नहीं है कि उसकी उत्पादन लागत न्यूनतम है। एक देश भले ही सारी वस्तुओं को कम लागत पर पैदा कर सकता है किन्तु उसके लिए यह लाभदायक होगा कि वह केवल कुछ ही वस्तुओं का उत्पादन करे एवं शेष को आयात करे। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त बताता है कि एक देश आवश्यक रूप से उन सब वस्तुओं का उत्पादन नहीं करता जिन्हें वह अन्य देशों की तुलना में सस्ते में पैदा कर सकता है वरन् उन वस्तुओं का उत्पादन करता है जिन्हें वह अधिकतम सापेक्षिक लाभ अर्थात् न्यूनतम तुलनात्मक लागत पर तैयार कर सकता है।

3.7 तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Comparative Cost Theory)

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का बहुत लोकप्रिय सिद्धान्त रहा है। प्रथम विश्व–युद्ध के समय तक इस सिद्धान्त की प्रायः कोई आलोचना नहीं की गयी तथा इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण स्वीकार किया गया, किन्तु इसके बाद भी इस सिद्धान्त में जो विकास किये गये उन्होंने उक्त सिद्धान्त के मूल स्वरूप को नष्ट नहीं किया, केवल उसके पूरक

सिद्धान्त ही विकसित किये। इस सिद्धान्त को विकसित करने का श्रेय ओहलिन, एल्सवर्थ तथा हेबरलर को है यद्यपि इन्होंने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना भी की है।

ओहलिन एवं ग्राहम सरीखे अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। आलोचना की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं–

1. मूल्य के श्रम सिद्धान्त की मान्यता दोषपूर्ण है– इस सिद्धान्त में श्रम को ही लागत का प्रमुख आधार माना गया है अर्थात् वस्तुओं का विनिमय श्रम लागत के अनुपात में ही किया जाता है, किन्तु कुल लागत में श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों को भी शामिल किया जाता है क्योंकि केवल श्रम की उत्पत्ति का अकेला साधन नहीं है। अतः विनिमय दर मौद्रिक लागत के आधार पर ही ज्ञात की जा सकती है और जहां तक मूल्य के श्रम–सिद्धान्त का प्रश्न है, वह स्वयं आवास्तविक मान्यताओं पर आधरित है।

2. श्रमिकों में समरूपता सम्भव नहीं– मूल्य के श्रम सिद्धान्त की निहित मान्यता यह भी है कि सब श्रमिक एकसमान होते हैं, किन्तु यह गलत है क्योंकि श्रमिकों में एकरूपता नहीं होती अतः श्रम के आधार पर लागत की तुलना नहीं की जा सकती। इस प्रकार तुलनात्मक लागत का आधार ही गलत है।

3. उत्पादन समता नियम की मान्यता अव्यावहारिक है– यदि व्यावहारिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के ढांचे को देखा जाये तो उत्पत्ति समता (स्थिर) नियम की मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती, किन्तु यदि हम इस मान्यता को अलग कर दे ंतो रिकार्डो का सिद्धान्त भी लागू नहीं होगा।

4. परिवहन व्यय की अवहेलना– तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में परिवहन लागत पर कोई ध्यान नहीं दिया गया, किन्तु यदि परिवहन व्यय अधिक है तो कभी यह भी सम्भव हो सकता है कि तुलनात्मक लागत के कारण होने वाला अन्तर समाप्त हो जाय। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस समय सम्भव होता है जब लागत में तुलनात्मक अन्तर, परिवहन व्यय मिलाने पर भी अधिक हो।

5. दो से अधिक देशों पर लागू नहीं– तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के निष्कर्ष उसी समय लागू होते हैं जब इसे केवल दो वस्तुओं और दो देशों पर लागू किया जाये। दो से अधिक देशों या दो से अधिक वस्तुओं पर लागू करने से इसका प्रयोग सीमित हो जाता है।

6. साधनों की गतिशीलता की मान्यता अव्यावहारिक– तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की एक आलोचना यह भी है कि वह एक देश के भीतर उत्पत्ति के साधनों को पूर्णरूप से गतिशील मानता है एवं दो देशों के बीच इस गतिशीलता को स्वीकार नहीं करता, किन्तु ओहलिन ने उक्त मत का खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में, उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ही विशेष लक्षण नहीं है वरन् एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलीता का अभाव पाया जाता है।

7. मांग की दशाओं की अवहेलना– आलोचकों का दृष्टिकोण है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त एकपक्षीय है क्योंकि यह केवल पूर्ति पक्ष पर विचार करता है तथा मांग पक्ष पर कोई ध्यान नहीं देता। यह सिद्धान्त यह तो बाताता है कि एक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में किन वस्तुओं को बेचेगा एवं किन वस्तुओं को खरीदेगा, किन्तु यह दृष्टिकोण केवल पूर्तिपक्ष पर आधारित होने के कारण अपूर्ण है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने स्थिर लागत की कल्पना की है एवं पूर्ति की दशाओं के आधार पर ही कीमत–लागत का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्लेषण किया है। उनकी दृष्टि में मांग कीमत को प्रभावित नहीं करती जो उत्पत्ति के पैमाने में परिवर्तन के बाजवजूद भी स्थिर रहती है।

8. लोचपूर्ण बाजार एवं स्थिर कीमतों की तथ्यहीन कल्पना– आलोचकों के अनुसार यह इस सिद्धान्त की कमजोरी है कि यह लोचपूर्ण बाजारों एवं स्थिर कीमतों को स्वीकार करके चलता है। एक

देश तुलनात्मक लाभों की कल्पना उसी समय कर सकता है जबकि देश यह चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र हो कि वह अपनी निर्यात बढ़ाये अथवा आयात प्रतिस्थापना करे, किन्तु निर्यातों के लिए मांग में लोच का आभाव होने से तुलनात्मक लाभों को पूर्णरूप से ज्ञात नहीं किया जा सकता एवं तुलनात्मक लाभ का विचार ही अव्यावहारिक हो जाता है। कीमतों में भी परिर्वतन होता है जिससे तुलनात्मक लाभ पर प्रभाव पड़ता है।

9. देशों में पूर्णरूप से विशिष्टीकरण का अभाव– प्रो. ग्राहम तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करने वाले दो देश विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में पूर्णरूप से विशिष्टीकरण नहीं करते अतः ऐसी स्थिति में उक्त सिद्धान्त महत्वहीन हो जाता है। ऐसी स्थिति विशेष रूप से उस समय उपस्थित होती है जब व्यापार करने वाले दो देशों में एक बड़ा तथा दूसरा देश छोटा हो।

10. पूर्ण रोजगार की मान्यता गलत– तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की एक मुख्य कमजोरी यह है कि यह पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है अर्थात् व्यापार करने वाले दोनों देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति विद्यमान रहती है, किन्तु केन्स ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की पूर्ण रोजगार की मान्यता को अवास्तविक सिद्ध कर खण्डित कर दिया है।

11. पूर्ण रोजगार की मान्यता गलत– तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल उन्हीं दशाओं में लागू हो सकता है जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र रूप से हो रहा हो तथा उसके मार्ग में कोई बाधाएं न हों, किन्तु तथ्य एवं वास्तविकता तो यह है कि वर्तमान में अधिकांश देश संरक्षण की नीति अपना रहे हैं तथा प्रशुल्क, कोटा प्रणाली, विनिमय नियन्त्रण, आदि कई बाधाएं स्वतन्त्र व्यापार में रुकावट पैदा करती हैं।

निष्कर्ष

यद्यपि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की काफी आलोचना की गयी है, किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि यह सिद्धान्त महत्वहीन है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रकृति को स्पष्ट करने में इस सिद्धान्त ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। यही कारण है कि सेम्युल्सन ने दोनों के बावजूद इस सिद्धान्त की प्रशंसा की हैं उनके ही शब्दों में, "यदि लड़कियों की भांति, सिद्धान्त भी सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में विजयी हो सके तो तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त उच्च स्थान प्राप्त करेगा क्योंकि इसका सुन्दर और तर्कपूर्ण ढांचा है।"

3.8 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत का सिद्धान्त (Opportunity Cost Theory of International Trade)

प्रो. हैबरलर ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक वैकल्पिक विचारधारा प्रस्तुत करते हुए अवसर लागत सिद्धान्त प्रस्तुत किया। एक दिये हुए उत्पादन की अवसर लागत वैकल्पिक उत्पादन की वह मात्रा है जिसे उन साधनों द्वारा उत्पादित किया जा सकता था अर्थात उत्पादन का दूसरा सर्वोत्तम विकल्प जिसका पहली वस्तु के उत्पादन करने के लिए परित्याग कर दिया गया है। इसे प्रतिस्थापन लागत भी कहते हैं। जैसे एक किसान अपने खेत में गेहूं या चना दोनों में से किसी एक का उत्पादन कर सकता है। यदि वह चना का उत्पादन करता है तो चना की अवसर लागत गेहूं की वह मात्रा है जिसका उत्पादन किया जा सकता था, किन्तु जिसका परित्याग चने का उत्पादन करने के लिए कर दिया गया। उत्पादन के क्षेत्र में अवसर लागत का प्रयोग आस्ट्रियन अर्थशास्त्रियों ने किया। यह इस तथ्य पर आधारित है कि उत्पादन के साधन सीमित होते हैं तथा उनका प्रयोग अनेक क्षेत्रों में किया जा सकता हैं सीमित होने के कारण जब उन्हें किसी एक उद्देश्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि उन्हें दूसरे उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता अर्थात इन उद्देश्यों का परित्याग करना पड़ता हैं स्टिगलर के अनुसार, "किसी एक वस्तु A का उत्पादन करने में उत्पत्ति के किसी साधन X की लागत अन्य वस्तुओं (B, C…….D) की वह अधिकतम मात्रा है जिसका उत्पादन X करता है।" अर्थात्

B की वह मात्रा, जिसका परितयाग वस्तु A का उत्पादन करने में कर दिया जाता है, A की अवसर लागत है।

हैबरलर के अनुसार विभिन्न देशों के उत्पत्ति के साधनों में भिन्नता होती है, किन्तु किसी एक देश में इनकी पूर्ति स्थिर रहती है तथा इन साधनों को कई तरह से प्रयुक्त किया जा सकता हैं इन्हें अविशिष्ट साधन कहते हैं। उत्पत्ति के कुछ साधन विशिष्ट होते हैं अर्थात् उन्हें किसी विशेष उद्देश्य के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है और यदि उन्हें अन्य प्रयोगो में स्थानान्तरित किया जाता है तो उनका उत्पादन घट जाता है। विशिष्ट साधनों की दशा में भी, हैबरलर के अनुसार, विनिमय अनुपात, प्रतिस्थापन की सीमान्त दर से निर्धारित होता है अर्थात् दूसरी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई की प्राप्त करने के लिए एक वस्तु की कितनी इकाइयों का परित्याग किया जाता हैं

हैबरलर ने दो वस्तुओं के बीच विनिमय अनुपात को अवसर लागत में व्यक्त किया है जैसे एक विभिन्न उत्पत्ति के साधनों को संयोग या तो 4X या 8X का उत्पादन कर सकात है तो 1Y का उत्पादन करने की अवसर लागत $\frac{1}{2}$**X** होगी। इस प्रकार दो वस्तुओं के बीच विनिमय अनुपात प्रतिस्थापन वक्र (Substitution Curve) अथवा उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility curve) द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। प्रतिस्थापन वक्र की आकृति उत्पादन के नियमों अर्थात् लागत दशाओं से प्रभावित होती है। हैबरलर ने तीनों लागत दशाओं में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावनाओं को अपने अवसर लागत सिद्धान्त में सम्मिलित किया है।

3.9 अवसर लागत सिद्धान्त की मान्यताएँ

हैबरलर ने अवसर लागत वक्र की व्याख्या निम्न मान्यताओं के अन्तर्गत की है–

1. उत्पत्ति के साधनों एवं वस्तु के बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान रहती है।
2. प्रत्येक वस्तु की कीमत उसकी सीमान्त (मौद्रिक) लागत के बराबर होती है।
3. किसी भी उत्पत्ति के साधन की इकाइयों, यदि वे गतिशील एवं प्रतिस्थापन करने योग्य हैं, की कीमत प्रत्येक रोजगार (उद्योग) में समान होती है।
4. उत्पत्ति के विभिन्न साधन पूर्ण रोजगार की स्थिति में रहते हैं तथा उत्पत्ति के प्रत्येक साधन की कीमत, प्रत्येक प्रयोग में सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है।
5. दी हुई तकनीकी स्थिति के अन्तर्गत, उपलब्ध साधनों से वस्तुओं का उत्पादन सर्वाधिक कुशलता से किया जाता है।
6. किसी देश में उपलब्ध साधनों की पूर्ति स्थिर रहती है।

3.10 स्थिर अवसर लागत दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade Under Constant Opportunity Cost Conditions)

यदि दो देश प्रत्येक वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत के अन्तर्गत कर रहे हैं तथा प्रत्येक देश के उत्पादन में, समान अनुपात में उत्पत्ति के साधनों का प्रयोग किया जा रहा है (दिये हुए साधन–मूल्य अनुपात पर) तो अवसर लागत वक्र अथवा उत्पादन सम्भावना वक्र एक सीधी रेखा होगी जिसका अर्थ यह होगा कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु से विनिमय करने की सीमान्त अवसर लागत स्थिर रहेगी। सीमान्त अवसर लागत दर के स्थिर रहने के कारण उत्पादन की सापेक्षिक लागतें भी स्थिर रहेंगी और मांग दशाओं से अप्रभावित रहेंगी।

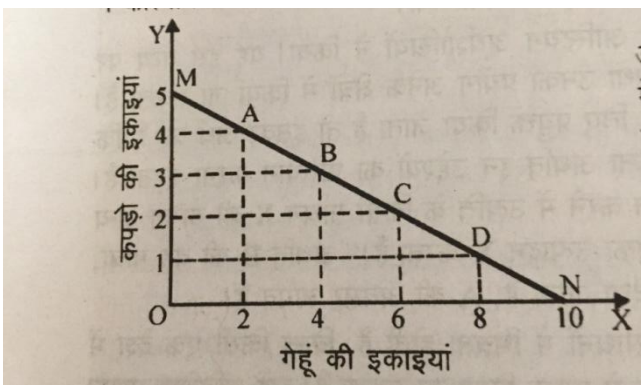

चित्र 2

स्थिर अवसर लागत दशा में उत्पादन वक्र (चित्र 2) एक सीधी रेखा के रूप में होगा। चित्र में काल्पनिक उदाहरण द्वारा भारत के उत्पादन सम्भावना वक्र को प्रदर्शित किया गया है।

संलग्न रेखाचित्र 2 से स्पष्ट है कि भारत यदि अपने उत्पत्ति के समस्त साधनों को कपड़े के उत्पादन में लगा दे तो 5 इकाइयों का उत्पादन कर सकता है तथा यदि कपड़े का बिल्कुल उत्पादन न करे तो गेहूं की 10 इकाइयां पैदा कर सकता है। इन दोनों सम्भावनओं के बीच यदि वह कपड़ा और गेहूं दोनों का उत्पादन करना चाहे तो उसके सामने चार समिावनाएं हैं–यदि MN उत्पादन सम्भावना रेखा पर A, B, C और D हैं। A पर वह कपड़े की चार इकाइयां तथा गेहूं की 2 इकाइयां पैदा कर सकता है। B, C तथा D पर वह इन्हीं वस्तुओं की क्रमशः 3 और 4, 2 और 6 तथा 1 और 8 इकाइयों का उत्पादन कर सकता है अर्थात् उसे गेहूं की 2 अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन करने के लिए हर बार कपड़े की एक इकाई का परित्याग करना पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि गेहूं की दो अतिरिक्त इकाइयों की अवसर लागत कपड़े की एक इकाई है। यहां चूंकि स्थिर लागत (उत्पादन समता नियम) के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है, गेहूं और कपड़े की प्रतिस्थापन दर, प्रत्येक उत्पादन सम्भावना पर 2 : 1 के रूप में स्थिर है।

चित्र 1 में चूंकि स्थिर लागत के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है, MN रेखा, सम्भावना रेखा के साथ कीमत रेखा (Price Line) भी है तथा इस रेखा का ढाल कपड़े और गेहूं के सापेक्ष मूल्य को भी स्पष्ट करता है अर्थात् $\frac{\mathbf{ON}}{\mathbf{OM}} = \frac{\mathbf{10}}{\mathbf{5}} = \mathbf{2 : 1}$ अर्थात् कपड़े का मूल्य गेहूं के मूल्य से दुगुना है।

रेखाचित्र 3 में यह दिखाया गया है कि स्थिर लागत दशा में अन्तर्गत दोनों देशों के उत्पादन सम्भावना वक्रों का ढाल अलग–अलग होने की दशा में दोनों देश कैसे लाभान्वित होते हैं?

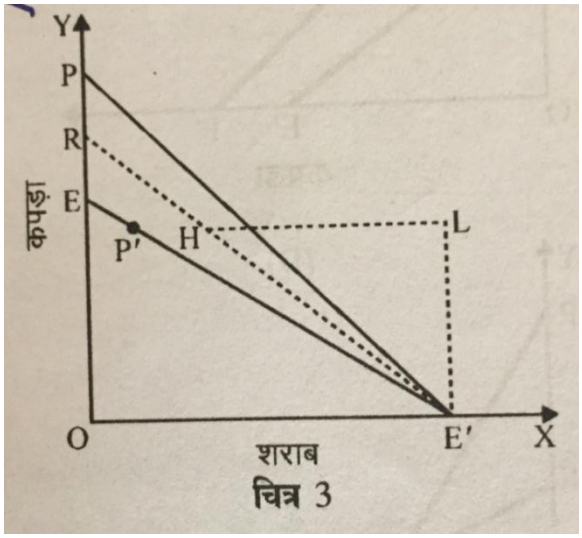

चित्र 3

संलग्न रेखाचित्र 3 में इंग्लैण्ड की उत्पादन सम्भावना रेखा EE' है तथा पुर्तगाल की उत्पादन सम्भावना रेखा PE' है (E' बिन्दु दोनों को समान है)। जब दोनों देशों में व्यापार नहीं होता तो इंगलैण्ड में उत्पादन का सन्तुलन बिन्दु P' है जहां वह कपड़ा और शराब दोनों वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा का उत्पादन एवं उपभोग कर रहा है। इंगलैण्ड में कपड़े के सन्दर्भ में शराब की कीमत OE/OE है। दोनों देशों में व्यापार प्रारम्भ होने पर नयी कीमत रेखा RE', दोनों देशों की व्यापार के पूर्व की घरेलू कीमतों EE' और PE' के बीच स्थित रहती है। दोनों देशों में व्यापार शुरू होने पर इंगलैण्ड कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है तथा OE' कपड़े का उत्पादन करता है किन्तु उसका उपयोग बिन्दु H है तथा वह कपड़े की HL मात्रा का निर्यात करता है तथा उसके बदले में शराब की LE' मात्रा का आयात करता है। अब वह सस्ती कीमत पर पुर्तगाल से शराब प्राप्त कर सकता है अर्थात् OE'/OR जबकि पहले यह कीमत OE'/OE थी। इस प्रकार इंगलैण्ड को व्यापार करने से लाभ होता है। इसी प्रकार पुर्तगाल को भी लाभ होता है। व्यापार के पहले, वह शराब की OP मात्रा का परित्याग कर कपड़े की OE' मात्रा प्राप्त कर सकता था, किन्तु व्यापार होने से अब वह शराब की मात्रा OR का परित्याग कर कपड़े की उतनी ही मात्रा प्राप्त कर सकता है। पुर्तगाल में शराब के सन्दर्भ में कपड़े की आंतरिक

कीमत (Domestic Price) OP/OE' है जो व्यापर शुरू होने के बाद विश्व कीमत OR/OE' से अधिक है। इस प्रकार पुर्तगाल को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होता है। व्यापार होने के बाद दोनों देशों में घरेलू कीमत वही होगी जो अन्तर्राष्ट्रीय कीमत है जो चित्र में RE' रेखा द्वारा दिखायी गयी है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विशिष्टीकरण और विनिमय का आधार अवसर लागत का अन्तर है।

3.11 बढ़ती अवसर लागत दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade Under increasing Opportunity Cost Conditions)

वास्तविक जगत में उत्पादनों के साधनों का संयोग अनुपात स्थिर नहीं रहता बल्कि साधनों में प्रतिस्थापन की सम्भावनाएं बनी रहती हैं। प्रत्येक उत्पादन में विशिष्ट एवं अविशिष्ट (Specific & Non-Specific) साधनों की आवश्यकता होती है। विशिष्ट साधनों के अतिरिक्त उत्पादन में अनेक अविशिष्ठ साधनों का भी प्रयोग होता है जो दूसरे उत्पादन में स्वतन्त्रापूर्वक स्थानान्तरित हो सकते हैं। जब विशिष्ट साधनों के साथ अविशिष्ट ससाधन बढ़ाये जाते हैं तब उत्पादन में ह्रास होता है अर्थात् प्रतिस्थापन लागत बढ़ने लगती है। ऐसी स्थिति में उत्पादन सम्भावना वक्र मूल बिन्दु की ओर नतोदर (Concave) होता है।

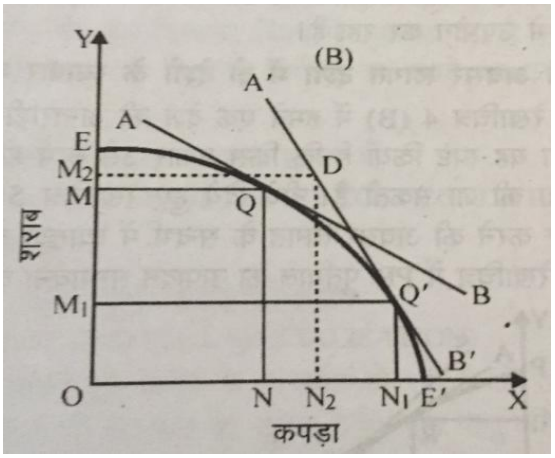

चित्र 4

रेखाचित्र 4 से यह स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड में चूंकि बढ़ती हुई लागत के अन्तर्गत उत्पादन हो रहा है। ऐसे में माना कि इंग्लैण्ड अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इंगलैण्ड के उत्पादन सम्भावना वक्र से स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ है। जब वह पुर्तगाल के साथ व्यापार शुरू करता है तो चूंकि पुर्तगाल, इंग्लैण्ड के कपड़े का आयात करता है, इंग्लैण्ड के कपड़े की मांग बढ़ जाती है तथा इंग्लैण्ड के घरेलू बाजार में, शराब की तुलना में कपड़े का मूल्य बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप उसकी कीमत–रेखा में परिवर्तन हो जाता है, अब नयी कीमत रेखा A'B' (चित्र 4) पहले की कीमत रेखा में AB की तुलना में अधिक ढाल वाली हो जाती है जिसका अर्थ यह है कि शराब की तुलना में कपड़े का मूल्य बढ़ गया है। अतः शराब के उत्पादन में से साधनों को कपड़े के उत्पादन में प्रवाहित किया जाएगा। नयी कीमत रेखा A'B' उत्पादन सम्भावना वक्र Q' बिन्द्र पर स्पर्श कर रही है जो इंग्लैण्ड का व्यापार के बाद उत्पादन का नया सन्तुलन बिन्दु है जहां वह OM_1 शराब की मात्रा तथा ON_1 कपड़े की मात्रा का उत्पादन कर रहा है। वह दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन कर रहा है। इससे स्पष्ट है कि उसे जिस वस्तु के उत्पादन (कपड़ा) में तुलनात्मक लाभ है उसमें पूर्ण विशिष्टीकरण न करके आंशिक विशिष्टीकरण (Partial Specialisation) कर रहा है। Q' बिन्दु पर उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल नई अन्तर्राष्ट्रीय कीमत रेखा A'B' के ढाल के बराबर है। अतः यहां इंग्लैण्ड का उत्पादन अधिकतम है।

नयी कीमत रेखा A'B' न केवल व्यापार की शर्तों को स्पष्ट करती है वरन् उस उपभोग सम्भावना वक्र को भी दिखाती है जो इंग्लैण्ड प्राप्त कर सकता है। व्यापार के पूर्व इंग्लैण्ड शराब की OM तथा

कपड़े की ON मात्रा का उपभोग कर रहा था, किन्तु व्यापार शुरू होने के बाद मांग और पूर्ति की शक्तियों के फलस्वरूप अब दोनों वस्तुओं के उपभोग का नया बिन्दु A'B' रेखा पर D बिन्दु पर होगा जहां इंगलैण्ड में शराब का उपभोग OM_2 तथा कपड़े का उपभोग ON_2 होगा जिससे स्पष्ट है कि व्यापार न होने की तुलना में अब व्यापार शुरू होने के बाद इंग्लैण्ड का दोनों वस्तुओं का उपभोग बढ़ गया है। यही व्यापार का लाभ है। रेखाचित्र 4 से यह भी स्पष्ट है कि कपड़े में आंशिक विशिष्टीकरण करने के बाद इंग्लैण्ड, कपड़े की N_2N_1 मात्रा का निर्यात कर रहा है तथा शराब की M_1M_2 का आयात कर रहा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यापार करने के बाद इंग्लैण्ड की स्थिति पहले से अच्छी है क्योंकि आंशिक विशिष्टीकरण करते हुए भी वह व्यापार करने के बाद दोनों वस्तुओं का अधिक मात्रा में उपभोग कर रहा है।

बढ़ती अवसर लागत दशा में देशों के व्यापार की व्याख्या

रेखाचित्र 4 में हमने एक देश की अंतर्राष्ट्रीय व्यापार होने पर, अवसर लागत की व्याख्या की है तथा यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार उसे लाभ होता है। इसी प्रकार, दूसरे देश के सन्दर्भ में भी उक्त व्याख्या की जा सकती है। नीचे दिये हुए रेखाचित्र 5 में दोनों देश इंग्लैण्ड और पुर्तगाल के आपस में व्यापार करने की अवसर लागत के सन्दर्भ में व्याख्या की गयी है–

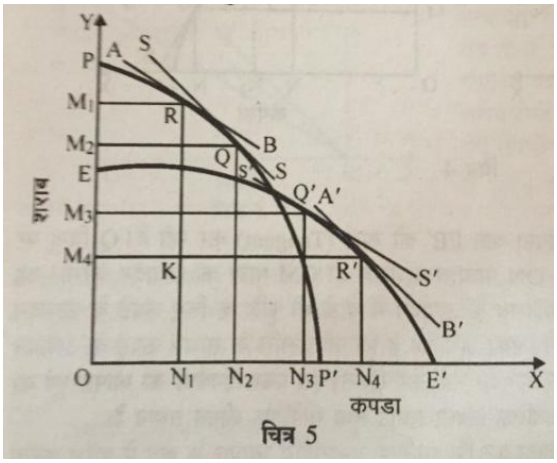

चित्र 5

रेखाचित्र में PP' पुर्तगाल का उत्पादन सम्भावना वक्र है तथा EE' इंगलैण्ड का उत्पादन सम्भावना वक्र (रूपान्तरण वक्र) है। दोनों देशों में व्यापार शुरू होने के पूर्व पुर्तगाल का उत्पादन का सन्तुलन बिन्दु कीमत रेखा SS पर Q है जहां वह शराब की OM_2 मात्रा तथा कपड़े की ON_2 मात्रा का उत्पादन कर रहा है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड का उत्पादन का सन्तुलन बिन्दु कीमत रेखा S'S' पर Q' है क्योंकि इसी बिन्दु पर S'S' रेखा सम्भावना वक्र को स्पर्श कर रही है। इस Q' पर इंग्लैण्ड कपड़े की ON_3 मात्रा तथा शराब की शराब की मात्रा OM_3 मात्रा का उत्पादन कर रहा है। यह स्पष्ट है कि तुलनात्मक रूप से इंग्लैण्ड में कपड़ा सस्ता है तथा पुर्तगाल में शराब सस्ती हें जब इन दोनों देशों में व्यापार होता है तो इंग्लैण्ड की कपड़े की मांग पुर्तगाल में बढ़ती है तथा पुर्तगाल की शराब की मांग इंगलैण्ड में बढ़ती है अतः इन दोनों की कीमतों में भी वृद्धि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि पुर्तगाल अपने साधनों को कपड़े के उत्पादन से निकाल कर शराब के उत्पादन में लगायेगा तथा इंग्लैण्ड अपने साधनों को शराब के उत्पादन से निकालकर कपड़े के उत्पादन में लगायेगा। पुर्तगाल में साधनों का स्थानान्तरण उस समय तक होगा जब तक कि शराब और कपड़े की अवसर लागत का अनुपात इन दोनों वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात के बराबर नहीं हो जाता। यह पुर्तगाल में R बिन्दु पर होता है क्योंकि इस बिन्दु पर नयी कीमत रेखा AB अवसर लागत वक्र PP ' को स्पर्श करती है। इंग्लैण्ड में भी इसी प्रकार साधनों का स्थानान्तरण होगा तथा नया सन्तुलन बिन्दु R' होगा जहां नयी कीमत रेखा A'B' अवसर लागत वक्र EE' को स्पर्श करती है। व्यापार शुरू होने के बाद नये सन्तुलन बिन्दु पर अब पुर्तगाल शराब की OM_1 मात्रा तथा कपड़े की ON_1 मात्रा का उत्पादन कर रहा है एवं इंग्लैण्ड कपड़े की ON_4 मात्रा तथा शराब की OM_4 मात्रा का उत्पादन कर रहा है।

रेखाचित्र 5 से यह स्पष्ट है कि व्यापार के बाद पुर्तगाल शराब की OM_1 मात्रा का उत्पादन कर रहा है, किन्तु देश में इसका उपभोग OM_4 है अतः अतिरिक्त शराब M_1M_4 (KR) का इंग्लैण्ड को निर्यात कर दिया जाता है, इंग्लैण्ड कपड़े की ON_4 मात्रा का उत्पादन कर रहा है, किन्तु देश में उसका उपभोग ON_1 है अतः अतिरिक्त कपड़ा N_1N_4 (KR') का पुर्तगाल को निर्यात कर दिया जाता है। यूंकि पुर्तगाल का निर्यात, इंग्लैण्ड का आयात है एवं इंगलैण्ड का निर्यात, पुर्तगाल का आयात है, दोनों देशों के निर्यात और आयात सन्तुलन की स्थिति (KR = KR') में है।

यद्यपि बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत दोनों देशों में अपूर्ण विशिष्टीकरण है, फिर भी व्यापार के कारण दोनों देशों को लाभ होता है। पुर्तगाल M_1M_4 शराब का निर्यात करता है, तथा N_1N_4 कपड़े का आयात करता है, इंग्लैण्ड N_1N_4 कपड़े का निर्यात करता है एवं M_1M_4 शराब का आयात करता है, व्यापार के बाद पुर्तगाल का कपड़े का उपभोग ON_2 से बढ़कर ON_4 हो गया है तथा शराब का उपभोग OM_2 से घटकर OM_4 रह गया है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड का शराब का उपभोग OM_3 से बढ़कर OM_1 हो गया है तथा कपड़े का उपभोग ON_3 से घटकर ON_1रह गया है। कुल मिलाकर विश्व में उत्पादन बढ़ा है क्योंकि व्यापार के बाद पुर्तगाल का शराब उत्पादन M_2M_1 बढ़ गया है तथा इंग्लैण्ड का कपड़े का उत्पादन N_3N_4 बढ़ गया है।

3.12 घटती अवसर लागत दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade Under Decreasing Opportunity Cost Conditions)

यदि एक देश में दोनों वस्तुओं का उत्पादन घटती हुई लागत के अन्तर्गत हो रहा है तो उत्पादन सम्भावना वक्र उद्गम स्थान के उन्नतोदर होगा जो इस बात का सूचक है कि एक वस्तु की तुलना में दूसरी वस्तु की सीमान्त अवसर लागत गिर रही है। हैबरलर के अनुसार विदेशी व्यापार के कारण किसी वस्तु की माग में वृद्धि होने से उत्पादन बढ़ता है एवं घटती हुई लागतें लागू होती हैं। बड़े पैमाने के उत्पादन में आन्तरिक और बाह्य बचतों के कारण जब उत्पादन बढ़ते हुए पैमाने पर होता है तो घटती हुई लागतें लागू होती हैं। घटती अवसर लागत दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने पर व्यापार से जुड़े देश पूर्ण विशिष्टीकरण (Full Specialisation) करते हैं। घटती लागत दशा में पूर्ण विशिष्टीकरण की इस प्रक्रिया को चित्र 6 में प्रदर्शित किया गया है।चित्र 6 में AB इंग्लैण्ड का उत्पादन सम्भावना वक्र है जो घटती लागत दशा के कारण मूल बिन्दु की ओर उन्नोदर (Convex) है। रेखा EE_1 देश में कीमत–अनुपात रेखा है जो AB को Q बिन्दु पर स्पर्श करती है जो उत्पादन सन्तुलन का बिन्दु है। इस बिन्दु पर इंग्लैण्ड कपड़े की OM मात्रा तथा शराब की ON मात्रा का उत्पादन कर रहा है। (यह ध्यान रहे कि आन्तरिक बचतों के कारण उत्पादन में वृद्धि होने से सन्तुलन बिन्दु Q स्थिर नहीं रहता।)घटती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पादन की निम्नलिखित दो सम्भावनाएं हैं–

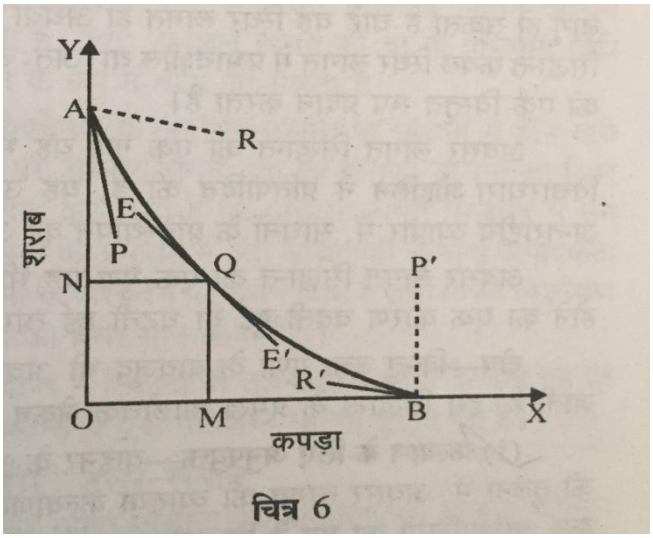

चित्र 6

(i) उत्पादन सम्भावना वक्र AB के A बिन्दु पर AP और AR दो अन्तर्राष्ट्रीय कीमत की रेखाएं स्पर्श करती हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत AP है तो उत्पादन A बिन्दु पर होगा जिसका अर्थ है कि

इंगलैण्ड पूर्ण रूप से शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है तथा शराब का निर्यात कर कपड़े का आयात करता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत AR है तो भी A ही सन्तुलन उत्पादन का बिन्दु होगा जहां इंगलैण्ड पूर्ण रूप से शराब के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा।

(ii) इसी प्रकार उत्पादन सम्भावना वक्र AB के B बिन्दु पर BP' दो अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें स्पर्श करती हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय कीमत BP' है तो उत्पादन सनतुलन बिन्दु B होगा जहां इंग्लैण्ड पूर्ण रूप से कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है।

दो देशों के सन्दर्भ में व्याख्या

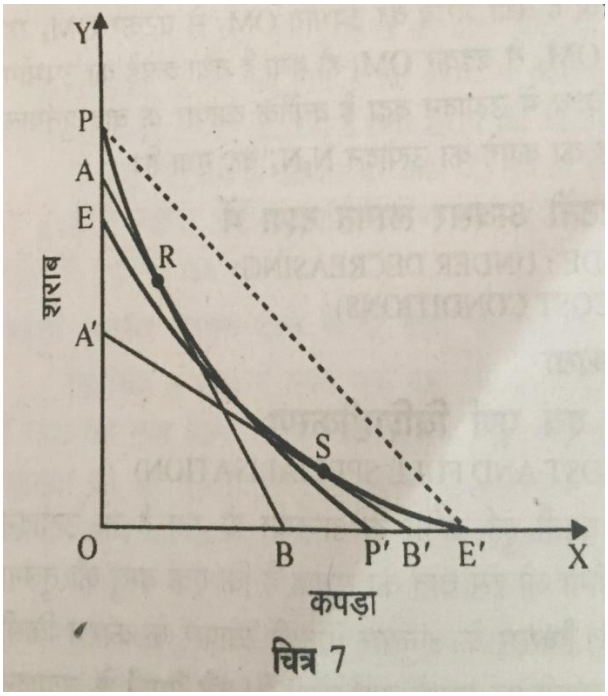

चित्र 7

चित्र 7 में PP' तथा EE' क्रमशः पुर्तगाल एवं इंगलैण्ड के घटती लागत दशा में उत्पादन सम्भावना वक्र है। AB तथा A'B' क्रमशः पुर्तगाल एवं इंग्लैण्ड की आन्तरिक कीमत रेखाएं हैं। चित्र से स्पष्ट है कि पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में तथा इंग्लैंण्ड को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लागत लाभ प्राप्त है। दोनों देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने की दशा में पुर्तगाल शराब के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण तथा इंग्लैण्ड कपड़े के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण करता है। व्यापार के बाद अन्तर्राष्ट्रीय कीमत अनुपात रेखा PE' होगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बाद पुर्तगाल बिन्दु P पर तथा इंग्लैण्ड बिन्दु E' पर पूर्ण विशिष्टीकरण कर रहा है।

3.13 अवसर लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अवसर लागत सिद्धान्त अनेक गुणों के बावजूद भी विभिन्न आलोचनाओं का शिकार है। इस सिद्धान्त के प्रमुख आलोचक जैकब वाइनर हैं जिन्होंने प्रमुख आलोचनाएं इस प्रकार की हैं–

1. कल्याण के लिए अनुपूरक–वाइनर के अनुसार, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के वास्तविक लागत सिद्धान्त की तुलना में, अवसर लागत की व्याख्या कल्याणकारी नीतियों का मूल्यांकन करने के लिए उपयुक्त नहीं है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि अवसर लागत का सिद्धान्त विश्लेषण एवं व्याख्या के लिए उपयुक्त है तथा वास्तविक लागत सिद्धान्त कल्याण सम्बन्धी नीतियों के लिए उपयुक्त है, किन्तु हैबरलर वास्तविक लागत सिद्धान्त विश्लेषणात्मक उद्देश्यों के लिए उपयुक्त नहीं है तो वह कलयाणकारी नीतियों के लिए भी उपयोगी नहीं हो सकता।

2. श्रमिकों के अधिमानों की अवहेलना–अवसर लागत सिद्धान्त की दूसरी आलोचना इस आधार पर की जा सकती है कि यह सिद्धान्त आय के विरुद्ध श्रमिक के आराम के अधिमान (Prefrence for Leisure) को कोई महत्व नहीं देता तथा समान मजदूरी प्रदान करने वाले दूसरे व्यवसाय के अधिमान पर भी विचार नहीं करता बल्कि यह मानकर चलता है कि श्रमिक विभिन्न व्यवसायों के प्रति तटस्थ रहते हैं पारिश्रमिक पर विचार किये बिना श्रम करने को तैयार रहते हैं।

3. साधनों की मात्रा में परिवर्तन की अवहेलना–अवसर लागत सिद्धान्त की यह आलोचना की जाती है कि यह उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति को स्थिर मानकर चलता है, किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि साधनों के मूल्य का उनकी पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। वाइनर के अनुसार, "अवसर लागत वक्र, उत्पत्ति के दिये हुए साधनों के प्रयोग करने पर उत्पत्ति के अधिकतम सम्भव संयोगों को प्रदर्शित करता है। वास्तविक स्थिति में, उत्पादन का वास्तविक संयोग इस वक्र पर नहीं होगा वरन् इसके नीचे होगा। यदि साधनों के उत्पादन की मात्रा परिश्रमिक की दर पर भी निर्भर है और यदि पारिश्रमिक की सन्तुलन दर उस से कम है तो उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को अपनी शारीरिक क्षमता के अनुसार अधिकतम श्रम करने के लिए प्रोत्साहित करती है।"

4. पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यता–अवसर लागत वक्र इस आधार पर खींचा जाता है कि वस्तुओं के बाजार एवं उत्पत्ति के साधनों में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान रहती है, किन्तु वास्तविक जगत में अपूर्ण प्रतियोगिता रहती है अतः पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता अवास्तविक है।

5. बाह्य बचतों की अवहेलना–अवसर लागत वक्र में बाह्य मितव्ययताओं एवं अमितव्ययताओं के प्रभाव की अवहेलना की गयी जो उचित नहीं है। अवसर लागत की यह भी मान्यता है कि दीर्घकाल में उपभोक्ताओं की रुचि में कोई परिवर्तन नहीं होता पर यह भी उचित नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अवसर लागत सिद्धान्त ने रिकार्डो के तुलनात्मक लागत के दोष को दूर कर महत्वपूर्ण कार्य किया है और उत्पत्ति के साधनों के सम्बन्ध में एक गतिशील धारणा प्रस्तुत की है।

3.14 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का हेक्सचर–ओहलिन का सिद्धान्त (Heckscher Ohlin Theory of International Trade)

हेक्सर–ओहलिन ने रिकार्डो के सिद्धान्त के कुछ बिन्दुओं से अपनी असहमति व्यक्त की और यह मत व्यक्त किया कि,

(i) तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सब प्रकार के व्यापार पर लागू होता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसका अपवाद नहीं है।

(ii) जैसा कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त में स्वीकार किया गया है, उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ही विशेष लक्षण नहीं है वरनृ एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी साधनों की गतिशीलता का अभाव पाया जाता है।

उपर्युक्त दूसरी बात से स्पष्ट है कि एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में मजदूरी एवं ब्याज की दरों में भिन्नता पायी जाती है। ओहलिन ने बताया कि जिस प्रकार एक ही देश में श्रम और पूंजी में गतिशलता पायी जाती है उसी प्रकार विभिन्न देशों में भी इन साधनों में गतिशीलता होती है, भले ही वह कुछ सीमित रूप में हो। इस आधार पर ओहलिन ने यह स्पष्ट किया कि गृह व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उतना व्यापक अन्तर नहीं है जितना कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बताया था। उनके अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की ही एक विशिष्ट दशा है।" अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए पृथक् सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। वरन् जिस मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) को अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार पर लागू किया जाता है, उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी लागू किया जा सकता है।

मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार, "एक वस्तु के मूल्य का निर्धारण बाजार में उसकी कुल मांग और कुल पूर्ति के द्वारा होता है। सन्तुलन के बिन्दु पर मांग और पूर्ति आपस में बराबर होते हैं

तथा वस्तु का मूल्य उसकी औसत लागत के बराबर होता है। इस प्रकार वस्तु के मूल्य, उत्पत्ति के साधनों के पारिश्रमिक, वस्तुओं की मांग तथा उत्पत्ति के साधनों की मांग एवं पूर्ति में पारस्परिक सम्बन्ध होता है। यही मूल्य के सामान्य सिद्धान्त का प्रमुख तत्व है।

ओहलिन ने स्पष्ट किया कि यदि सामान्य मूल्य के सिद्धान्त में क्षेत्र तत्व को भी शामिल कर लिया जा तो उसे विभिन्न क्षेत्रों एवं विभिन्न देशों के बहुत से बाजारों के मूल्य निर्धारित करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त एक बहु–बाजार (Multi-market) का सिद्धान्त है। चूंकि ओहलिन ने अपना सिद्धान्त सामान्य सन्तुलन सिद्धान्त पर आधारित किया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त को सामान्य सन्तुलन का सिद्धान्त भी कहते हैं।

हेक्सचर–ओहलिन के सिद्धान्त के सार को निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया जा सकता है, "दो देशों में व्यापार वस्तुओं की लागतों में सापेक्षिक अन्तर के कारण होता है तथा यह अन्तर दो कारणों से होता है : (i) प्रथम तो यह कि उत्पत्ति के साधनों की कीमत में सापेक्षिक अन्तर होता है; और (ii) द्वितीय यह कि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में उत्पत्ति के साधनों की आवश्यकता में भी सापेक्षिक भिन्नता होती है। उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में सापेक्षिक अन्तर इसलिए होता है कि दो देशो में साधनों की सीमितता या स्वल्पता में सापेक्षिक अन्तर होता है अर्थात् एक देश में कुछ साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं जबकि दूसरे देश में वही स्वल्प मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

3.15 हेक्सचर–ओहलिन सिद्धान्त की मान्यताएं (Assumptions of The Heckscher-Ohlin Theory)

हेक्सचर–ओहलिन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त जिसकी संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर प्रस्तुत की गयी है, निम्न मान्यताओं पर आधारित है–

(i) व्यापार के लिए दोहरे मॉडल (Double model) को लिया गया है जिसमें दो देश, दो वस्तुएं और उत्पत्ति के दो साधन हैं–श्रम एवं पूंजी।

(ii) दोनों देशों में, वस्तुओं और उत्पत्ति के साधनों–दोनों बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता है।

(iii) दोनों देशों में न तो कोई व्यापार की बाधाएं हैं और न परिवहन व्यय होता है अर्थात् व्यापार स्वतन्त्र एवं परिवहन–लागतहीन है।

(iv) प्रत्येक देश में उत्पत्ति के साधन पूर्ण रूप से गतिशील हैं, किन्तु दोनों देशों के बीच उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता का अभाव है।

(v) दोनों देशों में उत्पत्ति के साधनों (श्रम और पूंजी) के अनुपात में भिन्नता है अर्थात् परिमाणात्मक रूप से दोनों देशों में साधन भिन्न हैं किन्तु गुणात्मक रूप से प्रत्येक साधन में दोनों देशों में समरूपता है अर्थात् वे समान (Homogeneous) हैं।

(vi) दोनों देशों में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन–फलन (Production function) भिन्न–भिन्न है, किन्तु दोनों देशों में प्रत्येक वस्तु के लिए उत्पादन–फलन समान है।

(vii) प्रत्येक देश में उत्पादन, उत्पत्ति समता नियम (Constant Return to scale) के अन्तर्गत होता है।

(viii) विभिन्न वस्तुओं के लिए उत्पादन–फलन इस प्रकार है कि साधनों की तीव्रता (Factor intensity) के द्वारा पृथक् किया जा सकता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिए कितने साधनों की आवश्यकता होती है, यह जाना जा सकता है अथवा अमुक वस्तु के उत्पादन में अधिक पूंजी लगती है अथवा अधिक श्रम।

(ix) दोनों देशों में उपभोक्ताओं का अधिमान एक समान (identical preference) है।

(x) उत्पत्ति के दोनों साधनों को दोनों देशों में पूर्ण रोजगार प्राप्त है।

(xi) प्रत्येक देश में साधनों की मात्रा, मांग की दशाएं तथा उत्पादन की भौतिक दशाएं स्थिर (Fixed physical conditions) हैं।

सापेक्षिक साधन प्रचुरता का अर्थ
(Meaning of Relative Factor Abundance)

ओहलिन ने अपने सिद्धान्त में सापेक्षिक साधन प्रचुरता शब्द का प्रयोग किया है, इसके दो अर्थ हैं–

(i) सापेक्षिक साधन प्रचुरता भौतिक कसौटी अर्थात् साधनों के अनुपात के सम्बन्ध में सापेक्षिक प्रचुरता।

(ii) सापेक्षिक साधन प्रचुरता की कीमत कसौटी।

(i) भौतिक कसौटी पर साधन प्रचुरता–जहां तक साधनों के अनुपात के सम्बन्ध में सापेक्षिक प्रचुरता का प्रश्न है एक देश सापेक्षिक रूप से उस समय पूंजी–प्रचुर समझा जाता है यदि उस देश में दूसरे देश की तुलना में, श्रम की अपेक्षा पूंजी का अनुपात अधिक होता है भले ही इस देश में श्रम की तुलना में पूंजी की कीमतों का अनुपात दूसरे देश की अपेक्षा कम हो या न हो। इसे निम्न सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है–

$$\left(\frac{C}{L}\right)_A > \left(\frac{C}{L}\right)_B$$

(ii) कीमत कसौटी पर साधन प्रचुरता–कीमत कसौटी के आधार पर एक देश को, जिसमें पूंजी सापेक्षिक रूप से सस्ती होती है और श्रम सापेक्षिक रूप से महंगा होता है, पूंजी–प्रचुर समझा जाता है भले ही इस देश में श्रम की तुलना में पूंजी की कुल इकाइयों का अनुपात दूसरे देश की तुलना में अधिक हो अथवा न हो।

यदि हम एक देश को A तथा दूसरे को B मानें, P का अर्थ साधन की कीमत से लें, C को पूंजी तथा L को श्रम मानें तो कीमत को कसौटी को निम्न सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है–

$$\left(\frac{PC}{PL}\right)_A < \left(\frac{PC}{PL}\right)_B$$

ऊपर सापेक्षिक साधन–प्रचुरता के भौतिक कसौटी पर और कीमत कसौटी पर जो अर्थ दिये गये हैं, वे दोनों समान नहीं हैं। यदि हम कीमत कसौटी को लें तो उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर ही हेक्सचर–ओहलिन के सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा सकता है एवं मांग की दशाओं के सम्बन्ध में किसी मान्यता की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यदि हम भौतिक कसौटी को लेते हैं तो हेक्सचर–ओहलिन का सिद्धान्त उसी समय सिद्ध किया जा सकता है जब हम मांग की दशाओं पर विचार करें। ऐसी स्थिति मांग की दशाओं के सम्बन्ध में मान्यताओं की आवश्यकता पड़ती है।

साधन उपलब्धता : उत्पादन का आधार
(Factor Endowment : The Basis of Production)

अब तक यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विभिन्न क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधनों की उपलब्धता में विभिन्नता के कारण, वहां उत्पादन में भिन्नता होती है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे–मानलो दो क्षेत्र X और Y है। X क्षेत्र में पूंजी प्रचुर मात्रा में तथा श्रम स्वल्प मात्रा में उपलब्ध हैं स्वाभाविक है कि X में पूंजी प्रचुर मात्रा में होने के कारण सस्ती होगी तथा श्रम महंगा होगा अतः X में मशीनों का निर्माण सस्ता होगा जिसमें अधिक मात्रा में पूंजी लगती है एवं गेहूं महंगा होगा जिसमें श्रम अधिक लगता है। यदि क्षेत्र Y में श्रम का बाहुल्य है और पूंजी की न्यूनता है तब Y क्षेत्र में मशीनें महंगी होगी क्योंकि वहां पूंजी स्वल्प मात्रा में है तथा गेहूं सस्ता होगा क्योंकि इसके उत्पादन में श्रम अधिक लगता है तथा Y क्षेत्र में श्रम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इस प्रकार दोनों क्षेत्रों में विभिन्न वस्तुओं की कीमतों में भिन्नता होगी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि X को उस वस्तु (मशीनें) के उत्पादन में तुलनात्मक लागत का लाभ होगा जिसके उत्पादन मे उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो वहां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं अतः सस्ते हैं। इसी प्रकार Y को उस वस्तु (गेहूं) के उत्पादन में

तुलनात्मक लाभ होगा जिससे उत्पादन में उन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है जो वहां प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण सस्ते हैं।

ओहलिन की दृष्टि में व्यापार की पहली शर्त यह है कि वही वस्तु एक क्षेत्र में, दूसरे की तुलना में अधिक सस्ती दर पर पैदा की जा सके। ओहलिन ने स्पष्ट किया कि 'वस्तु के उत्पादन की मौलिक लागत में भिन्नता के कारण विशिष्टीकरण नहीं किया जाता वरन् वस्तुओं की अन्तिम कीमतों में भिन्नता के कारण ही विशिष्टीकरण और व्यापार होता है।' वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण केवल उत्पादन की लागत द्वारा नहीं वरन् मांग द्वारा भी होता है। अतः ओहलिन का सिद्धान्त मांग और पूर्ति दोनों पक्षों पर विचार करता है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि दो क्षेत्रों में कीमतों सापेक्षिक अन्तर इसलिए होता है क्योंकि दोनों क्षेत्रों में मांग और पूत्रि की दशाओं में अन्तर होता है। केवल निम्न दशाओं में दो क्षेत्रों में सब वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतें समान होंगी–

(i) जब दोनों क्षेत्रों में उपभोक्ताओं की आवश्यकताएं और अधिमान एकसमान हैं।

(ii) जब दोनों क्षेत्रों में उपलब्ध साधन समान अनुपात में हैं जिससे दोनों क्षेत्रों की पूर्ति की दशाएं समान हैं।

(iii) यदि उत्पत्ति के साधनों में कोई अन्तर होता है तो मांग की दशाओं में भी उतना ही अन्तर होकर क्षतिपूर्ति हो जाती है तथा सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

किन्तु उपर्युक्त मान्यताएं वास्तविक जगत में पूरी नहीं होती अतः उत्पत्ति के साधनों की कीमतों में एवं उसके कारण वस्तुओं की कीमतों में दो क्षेत्रों में भिन्नता पायी जाती है।

ओहलिन ने अपने साधन अनुपात सिद्धान्त के समर्थन में अमरीका और भारत में होन वाले व्यापार का उदाहरण दिया है। भारत में गेहूं तथा ऊन का उत्पादन किया जाता है क्योंकि इसके उत्पादन के लिए जिस श्रेणी की भूमि की आवश्यकता होती है, वह भारत में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। अमरीका में निर्मित वस्तुओं (Manufactured Goods) का उत्पादन किया जाता है क्योंकि इनके उत्पादन में अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है जो अमरीका में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है तथा भारत में अल्प मात्रा में है। अतः इन दोनों देशों में दोनों वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता है अतः इन दोनों देशों में व्यापार होता है। भारत ऊन और गेहूं का निर्यात अमरीका को करता है अर्थात् वह अप्रत्यक्ष रूप में उन साधनों का निर्यात करता है जो उस देश में प्रचुरता में उपलब्ध हैं और वह विनिर्माण वस्तुओं का आयात करता है तो वह अप्रत्यक्ष रूप से उन साधनों का आयात करता है जो उसके देश में स्वल्प मात्रा में उपलब्ध हैं।

उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जाता है कि–

1. जब दोनों क्षेत्रों में समान मुद्रा हो (Same Currency in both Regions)-कल्पना करो कि दो क्षेत्र A और B हैं जिनमें एक समान मुद्रा प्रणाली है। यदि इन दोनों में व्यापार नहीं होता तो प्रत्येक क्षेत्र में विभिन्न वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण आन्तरिक मांग के द्वारा होगा। अब यदि दोनों क्षेत्रों में व्यापार होता है तो एक क्षेत्र की कीमत पर दूसरे क्षेत्र की मांग का भी प्रभाव पड़ेगा। क्षेत्र A में ऐसी वस्तु का उत्पादन होगा जिसमें ऐसे साधनों की आवश्यकता होती है जो वहां प्रचुर मात्रा में मौजूद हैं। अब इस वस्तु की मांग न केवल A क्षेत्र में होगी वरन् B क्षेत्र में भी होगी। इसके विपरीत, क्षेत्र A में जो वस्तु स्वल्प साधनों के कारण महंगे में तैयार होती है, उसकी मांग B क्षेत्र में कम हो जाएगी। इस पारस्परिक मांग की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक सन्तुलन की स्थिति स्थापित हो जाती है जिसके अन्तर्गत दोनों क्षेत्रों में समान कीमतों की वस्तुओं का आयात तथा निर्यात होने लगता है।

2. जब दोनों क्षेत्रों में भिन्न मुद्रा प्रणाली हो–जब दो देशों व क्षेत्रों में विभिन्न मुद्रा प्रणाली प्रचलित रहती है तो यह जानने के लिए कि दूसरे क्षेत्र की तुलना में एक क्षेत्र में उत्पत्ति का कोई साधन सस्ता है या नहीं, दोनों क्षेत्रों की विभिन्न मुद्राओं में विनिमय दर स्थापित करना जरूरी है। ओहलिन के अनुसार, विनिमय दर निर्धारित होने के बाद कीमतों के सापेक्षिक अन्तर निरपेक्ष अन्तर में परिवर्तित हो जाते हैं।

कीमत कसौटी के आधार पर साधन : ओहलिन के दृष्टिकोण का चित्रीय निरूपण

आरम्भ में हम स्पष्ट कर आये हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधुनिक सिद्धान्त "सापेक्षिक साधन प्रचुरता पर" आधारित है जिसके दो अर्थ बताये गये हैं, कीमत की कसौटी और भौतिक कसौटी। ओहलिन ने कीमत–कसौटी का अर्थ लिया है जिसे इस सूत्र द्वारा स्पष्ट किया गया है : $\left(\frac{PC}{PL}\right)_A < \left(\frac{PC}{PL}\right)_B$ जो बताता है कि देश A में तुलनात्मक रूप में प्रचुर मात्रा में पूंजी उपलब्ध है तथा देश B में तुलनात्मक रूप में श्रम प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। निम्न उदाहरण में हम इसी मान्यता को लेकर चल रहे हैं। दो वस्तुएं X और Y हैं। नीचे दिये हुए रेखाचित्र में दो समोत्पादक वक्र (Equal Product Curves) खींचे गये हैं–XX वस्तु X के लिए तथा YY वस्तु Y के लिए। ये दोनों वक्र एक–दूसरे को केवल एक ही स्थान पर M बिन्दु पर काटते हैं अतः X और Y दोनों वस्तुओं को इस आधार पर पृथक् किया जा सकता है कि किस वस्तु के उत्पादन में अधिक पूंजी लगती है तथा किस वस्तु के उत्पादन में अधिक श्रम लगता है। नीचे दिये हुए रेखाचित्र से यह स्पष्ट है।

रेखाचित्र में दोनों समोत्पाद वक्र XX और YY से यह जाना जा सकता है कि इन दोनों वस्तुओं की किसी दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए कितनी मात्रा में पूंजी और श्रम की आवश्यकता होती है। मितव्ययता के दृष्टिकोण से साधनों का कौन–सा संयोग सर्वोत्तम होगा, यह उन साधनों की सापेक्षिक कीमतों पर निर्भर रहता है। देश A में साधनों की सापेक्षिक कीमत को कीमत रेखा PA द्वारा दर्शाया गया है जो उस देश के समोत्पादक वक्र XX को Z बिन्दु पर स्पर्श करती है। चित्र से यह भी स्पष्ट है कि कीमत रेखा PA समात्पादक वक्र YY को भी Q बिन्दु पर स्पर्श करती है।

चूंकि हम यह मान चुके हैं कि देश A में पूंजी तुलनात्मक रूप से सस्ती है, अतः B देश की कीमत रेखा का ढाल जो वहां साधनों के सापेक्षिक मूल्य को बताती है, A देश की कीमत रेखा PA से कम होना चाहिए। B देश के कीमत रेखा P'B उस देश के समोत्पाद वक्र YY को T बिन्दु पर स्पर्श करती है। अब एक रेखा RS, कीमत रेखा P'B के समान्तर खींची जाती है तो समोत्पाद वक्र XX को M बिन्दु पर स्पर्श करती है। चित्र से यह स्पष्ट है कि RS रेखा P'B रेखा के ऊपर है जिसका अर्थ यह है कि OC अक्ष पर पूंजी की मात्रा OR, उसी अक्ष पर OP' से अधिक है।

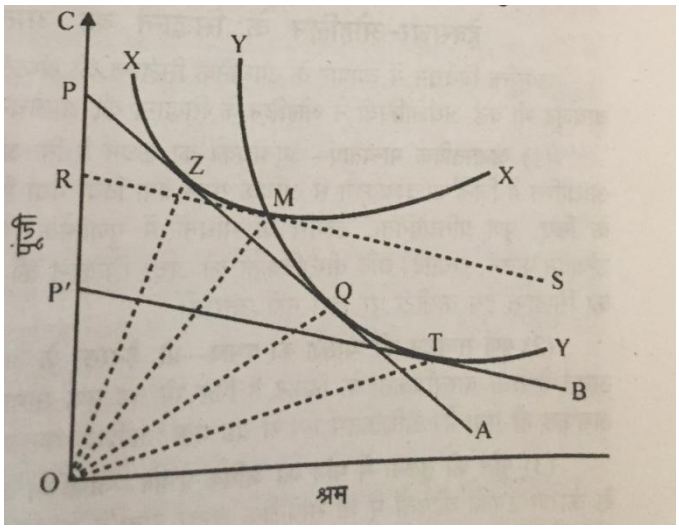

चित्र 8

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर देश A में, कीमत रेखा PA के आधार पर साधन अनुपात सन्तुलन (Equilibrium Factor Proportions) X वस्तु के लिए OZ है तथा Y वस्तु के लिए OQ है। अतः A देश में X वस्तु की निश्चित मात्रा का उत्पादन करने की लागत, श्रम और पूंजी दो साधनों की मात्राओं की लागत के बराबर है जो कीमत रेखा PA के Z बिन्दु से स्पष्ट है। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि उक्त X वस्तु की लागत OP पूंजी की लागत के बराबर है। उसी प्रकार A देश में, वस्तु Y की निश्चित मात्रा का उत्पादन करने की लागत भी OP पूंजी की लागत के बराबर है क्योंकि कीमत रेखा PA, पूंजी अक्ष OC को P बिन्दु पर स्पर्श करती है। B देश में कीमत रेखा P'B (अथवा RS) के आधार पर साधन अनुपात सन्तुलन X वस्तु के लिए OM है तथा Y वस्तु के लिए OT है। अतः B देश में X वस्तु का उत्पादन करने की लागत OR पूंजी की लागत के बराबर है तथा Y

वस्तु का उत्पादन करने की लागत OP' पूंजी के बराबर है। इससे स्पष्ट है कि B देश में X वस्तु की निश्चित मात्रा का उत्पादन करने की लागत Y की तुलना में अधिक है।

अब यदि हम दोनों देशों में वस्तुओं की समान मात्रा की तुलनात्मक लागत की तुलना करें तो हम देखते हैं कि देश A में X वस्तु तुलनात्मक रूप से सस्ती है तथा B में वस्तु Y तुलनात्मक रूप से सस्ती है। अन्य शब्दों में, कहा जा सकता है पूंजी–प्रचुर देश में उस वस्तु के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ होता है। जिसमें पूंजी की अधिक मात्रा लगती है तथा व्यापार होने परउसे ऐसी वस्तुओं का निर्यात करना चाहिए। उसी प्रकार जहां श्रम प्रचुरता से उपलब्ध है उस देश को ऐसी वस्तुओं का उत्पादन एव निर्यात करना चाहिए जिसके उत्पादन में अधिक श्रम की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार हक्सचर–ओहलिन का सिद्धान्त इस बात की पुष्टि कर देता है कि "एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है तो सापेक्षिक रूप से उस देश में उपलब्ध प्रचुर साधन के सहयोग से पैदा की जाती हैं। यदि एक देश पूंजी–प्रधान–वस्तुओं का निर्यात करता है तो स्पष्ट है कि व्यापार के पूर्व उस देश में पूंजी सापेक्षिक रूप से सस्ता साधन रहा होगा।" ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त निष्कर्ष बिना मांग की दशाओं और साधन अनुपातों को ध्यान में रखकर निकाले गये हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है।

3.16 हेक्सच–ओहलिन के सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन

उपुर्यक्त विवेचन में व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की श्रेष्ठताओं को स्पष्ट किया गया है। परन्तु इसके बावजूद भी कई अर्थशास्त्रियों ने ओहलिन के सिद्धान्त की आलोचना की है जो इस प्रकार है–

1. अवास्तविक मान्यताएं–आलोचकों का कथन है कि ओहलिन का सिद्धान्त ऐसी मान्यताओं पर आधारित है जिन्हें आवश्यकता से अधिक सरल बना दिया गया है, किन्तु जो व्यावहारिक नहीं है। उदाहरण के लिए, पूर्ण प्रतियोगिता, उत्पत्ति के साधनों में गुणात्मक भिन्नता का अभाव, पूर्ण रोजगार, समान उत्पादन–फलन, इत्यादि। यदि वास्तविकता को अच्छे सिद्धान्त की कसौटी माना जाय तो निःसन्देह ओहलिन का सिद्धान्त इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

2. पूर्ण सन्तुलन की व्याख्या का प्रभाव–प्रो. हैबरलर के अनुसार, "यद्यपि ओहलिन का सिद्धान्त कम अमूर्त है तथा वास्तविकता के निकट है फिर भी वह पूर्ण सामान्य सन्तुलन प्रणाली को विकसित करने में असफल हो गया है। अधिकतम रूप से यह एक 'आंशिक सन्तुलन की व्याख्या है।"

3. पूर्ति की तुलना में मांग का अधिक प्रभाव–ओहलिन के अनुसार, साधनों में सापेक्षिक अन्तर होने के कारण उनकी कीमतों में भी सापेक्षिक अन्तर होता है अर्थात् साधनों के मूल्य निर्धारण में मांग की तुलना में पूर्ति अधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु आलोचकों का मत है कि यदि मांग की दशाएं पूर्ति की तुलना में अधिक शक्तिशाली है तो यह सम्भव है कि एक पूंजी–प्रचुर देश श्रम–प्रधान वस्तुओं (Labour-intensive goods) का निर्यात करने लगे जो कि ओहलिन सिद्धान्त की मान्यता के प्रतिकूल है। ल्योनटीफ ने इसी विचार को प्रायोगिक जांच (Empirical Testing) के रूप में व्यक्त किया है जिसे 'ल्योनटीफ विरोधाभास' (Leontief's Paradox) के नाम से जाना जाता है।

4. वस्तु कीमत अनुपात लागत अनुपातों का प्रतिबिम्ब नहीं–कुछ आलोचकों का मत है कि यदि उपभोक्ताओं के अधिमान और वस्तुओं की मांग पर पूर्ण ध्यान दिया जाय, तो वस्तुओं की कीमतों का अनुपात, उनकी लागत के अनुपात के समान नहीं होता अर्थात् मांग और रुचियों में परिवर्तन के कारण कीमतों में अधिक परिवर्तन हो सकता है और स्थिति में ओहलिन का सिद्धान्त लागू नहीं होता।

5. सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता के अन्य कारण–कुछ आलोचकों का मत है कि कि साधनों में भिन्नता के अतिरिक्त और भी कई कारण हो सकते हैं, जिससे दो क्षेत्रों की सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता हो सकती है, जैसे साधनों में गुणात्मक भिन्नता, भिन्न उत्पादन तकनीक, उपभोक्ताओं की मांग में भिन्नता, आदि कारणों के होने पर भी कीमते भिन्न हो सकती हैं। ओहलिन ने उक्त तथ्य को स्वीकार किया है फिर भी उनका मत है कि उत्पत्ति के साधनों में भिन्नता, कीमतों में भिन्नता तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने का सबसे महत्वपूर्ण कारण है।

6. विजनहोल्ड्स (Wijanholds) ने इस आधार पर ओहलिन के सिद्धान्त की आलोचना की है कि वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण साधनों की लागतों (कीमतों) द्वारा नहीं होता जैसा कि ओहलिन का मत है; वरन् इनमें विपरीत सम्बन्ध है। विजनहोल्ड्स के अनुसार वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण उपभोक्ता को उनकी उपयोगिता द्वारा अथवा मांग की शक्तियों द्वारा तथा कच्चे माल की कीमतों द्वारा होता है। इस प्रकार श्रम की मजदूरी, अन्तिम रूप से वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर रहती है।

अन्त में कहा जा सकता है कि यद्यपि ओहलिन का सिद्धान्त भी तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के समान, कुछ मान्यताओं पर आधारित है फिर भी ओहलिन का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार और कारणों को स्पष्ट करने में अधिक समीचीन एवं तर्कपूर्ण है।

3.17 सारांश

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन का सिद्धान्त एक दूसरे से काफी भिन्न हैं, परन्तु जर्मन अर्थशास्त्री हैबरलर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि दोनों सिद्धान्तों में काफी सादृश्य है। वास्तविकता यह है कि ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की तुलना में अधिक जटिल है, क्योंकि यह जटिल मूल्य सिद्धान्त पर आधारित है तथा यह जो तथ्य स्पष्ट करना चाहता है वे भी जटिल हैं, परन्तु जटिल होते हुए भी यह सिद्धान्त पूर्ण स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। ओहलिन का सिद्धान्त जटिल है, परन्तु वास्तविक परिस्थितियों के लिए यथार्थपूर्ण है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त सरल है, परन्तु अपूर्ण है, तथा अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है। जहाँ तक ओहलिन के सिद्धान्त को अर्द्ध–विकसित देशों पर लागू करने का प्रश्न है, यह सिद्धान्त भी उतना ही अव्यावहारिक है जितना कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त। वास्तविकता यह है कि पूँजीवादी देशों के अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त उन्हीं के हितों के लिए अनुकूल हैं और गरीब देशों की स्थिति से सम्बन्धित नहीं है।

अवसर–लागत सिद्धान्त के द्वारा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन के सिद्धान्त में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। यह सिद्धान्त तुलनात्मक लागत को जिस ढंग से प्रस्तुत करता है उससे यह देखा जा सकता है कि तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन के सिद्धान्त में काफी समानता है। हैबरलर ने भी विभिन्न साधन सम्पत्तियों की भूमिका पर बल दिया है, किन्तु सुगमता के लिए यह मान लिया जाता है कि देश में उपलब्ध साधनों की पूर्ति स्थिर रहती है यद्यपि उनका प्रयोग कई ढंगों से किया जा सकता है। हैबरलर के अनुसार प्रत्येक व्यापारी देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनका उत्पादन वह अन्य देशों की तुलना में कम अवसर–लागत पर कर सकता है और उन वस्तुओं का आयात करता है जिनके उत्पादन की अवसर–लागत अधिक है। कम अवसर–लागत वाली वस्तुएँ वे हैं जिनके उत्पादन के लिए देश में उपलब्ध प्रचुर साधनों की अधिक मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। अधिक अवसर–लागत वाली वस्तुएँ वे हैं जिनके उत्पादन के लिए दुर्लभता वाले साधनों की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार अवसर–लागत विश्लेषण तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा ओहलिन के सामान्य विश्लेषण सिद्धान्त के बीच एक सम्पर्क–कड़ी है।

3.18 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के एडम स्मिथ के निरपेक्ष लाभ सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न 2- तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 3- हैबरलर द्वारा प्रतिपादित अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के अवसर लागत सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 4- हैक्सर–ओहलिन द्वारा प्रतिपादित अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 5- साधन–कीमत सामानीकरण से आप क्या समझते हैं? क्या अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप साधनों की कीमतों में पूर्ण समानता स्थापित की जा सकती है?

3.19 शब्दावली

अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार	:	Inter Regional Trade
विशिष्टीकरण	:	Specialization
श्रम–विभाजन	:	Division of Labour
लागत लाभ	:	Cost Advantage
तुलनात्मक लाभ	:	Comperative Advantage
स्थैतिक साम्य	:	Static Equilibrium
अवसर लागत	:	Opportunity Cost
आंशिक विशिष्टीकरण	:	Partial Specialization
पारस्परिक मांग	:	Reciprocal Demand

3.20 सन्दर्भ सूची

एम. एल. झिंगन	:	अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
श्रीधर पांडे	:	अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
R. F. Harrod	:	International Economics.
Bertil Ohlin	:	Interregional and Intenational Trade.
Viner	:	International Trade.
F. W. Tauss g	:	International Trade.
P. T. Ellsworth	:	The International Economy.

इकाई– 4
व्यापार संतुलन एवं भुगतान सन्तुलन

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 भुगतान–सन्तुलन एवं व्यापार–सन्तुलन में अंतर
4.3 व्यापार–सन्तुलन तथा भुगतान–सन्तुलन का सापेक्षिक महत्व
4.4 भुगतान–सन्तुलन की संरचना
4.5 भुगतान–सन्तुलन सदा संतुलित रहता है
4.6 सारांश
4.7 बोध प्रश्न
4.8 शब्दावली
4.9 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्देश्य

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रत्येक देश कुछ वस्तुओं का अन्य देशों से आयात करता है जिसका उसे भुगतान करना होता है तथा कुछ वस्तुओं का निर्यात करता है जिसके बदले में अन्य देशों से भुगतान प्राप्त करता है। विदेशी व्यापार से सम्बन्धित वास्तविक स्थिति की जानकारी के लिए प्रत्येक देश को अपने आयातों तथा निर्यातों की कुल मात्रा तथा मूल्य का ज्ञान होना आवश्यक है। इस इकाई के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य किसी देश के व्यापार संतुलन और भुगतान संतुलन दोनों की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त करना है।

4.1 प्रस्तावना

व्यापार संतुलन (Balance of Trade)

'व्यापार –सन्तुलन' किसी देश के दृश्य आयातों और दृश्य निर्यातों के बीच अन्तर की ओर संकेत करता है। दूसरे शब्दों में, व्यापार–सन्तुलन एक ऐसा विवरण है जिसमें केवल दृश्य आयातों एवं दृश्य निर्यातों को ही सम्मिलित किया जाता है। विदेशी व्यापार की मदों को 'दृश्य' और 'अदृश्य' की मुख्य श्रेणियों में रखा जाता है। 'व्यापार की दृश्य मदों' का अभिप्राय सेवाओं के आयात–निर्यात से होता है, जिसके लिए एक देश द्वारा दूसरे देश को भुगतान दिया और लिया तो जाता है, लेकिन जिनका लेखांकन बन्दरगाहों पर नहीं किया जाता। जहाजरानी, बीमा, बैंकिंग, आदि, विविध सेवाएँ व्यापार की अदृश्य मदों के अन्तर्गत सम्मिलित की जाती हैं। प्रो. बेनहम के शब्दों में, "एक देश का व्यापार सन्तुलन किसी अवधि के भीतर उसके निर्यात–मूल्य और उसके आयात–मूल्य के बीच का सम्बन्ध होता है।"

व्यापार–सन्तुलन की तीन अवस्थायें हो सकती हैं– (i) **अनुकूल–** जब (एक निश्चित अवधि के भीतर) किसी देश के दृश्य निर्यातों का मूल्य उसके दृश्य आयातों के मूल्य से अधिक रहता है, तब व्यापार सन्तुलन 'अनुकूल' कहा जाता है। (ii) **प्रतिकूल–** दृश्य निर्यातों का मूल्य दृश्य आयातों के मूल्य से कम रहने की स्थिति में व्यापार–सन्तुलन (व्यापार शेष) 'प्रतिकूल– (Adverse) बन जाता है। (iii) **साम्य–** जब किसी देश के दृश्य निर्यातों का मूल्य उसके दृश्य आयातों के मूल्य के बिल्कुल बराबर हो, तब व्यापार–सन्तुलन 'साम्य' (Equilibrium) की स्थिति में होता है।

भुगतान सन्तुलन
(Balance of Payments)

भुगतान–सन्तुलन किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवहारों का परिमाणात्मक सारांश होता है। भुगतान–सन्तुलन की धारणा में आयात–निर्यात की दृश्य (या प्रत्यक्ष) मदों के साथ–साथ अदृश्य (या

परोक्ष) मदों को सम्मिलित किया जाता है। इसमें न केवल द्विपक्षीय अपितु एकपक्षीय व्यवहार भी सम्मिलित होते हैं, जैसे– उपहार, युद्ध की क्षतिपूर्ति का भुगतान, ऋणों पर मूलधन और ब्याज का भुगतान, आदि। सारांशतः 'भुगतान–सन्तुलन' किसी देश के कुल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का विवरण होता है। यह विवरण किसी देश को एक निश्चित अवधि के भीतर विदेशियों से प्राप्त होने वाले कुल भुगतानों तथा विदेशियों को किए जाने वाले कुल भुगतानों की सूची होता है। यह विवरण (जो एक बहीखाते के रूप में होता है) के बायीं ओर उन शीर्षकों का उल्लेख होता है जिनके कारण अमुक देश द्वारा विदेशियों को भुगतान किए जाते हैं।

प्रो. बेनहम के मतानुसार, "किसी देश का भुगतान–सन्तुलन एक अवधि के भीतर शेष विश्व के साथ उसके वित्तीय सौदों का लेखा–जोखा होता है।"

वाल्टर क्रॉज के शब्दों में, "किसी देश का भुगतान–सन्तुलन उसके निवासियों और शेष विश्व के निवासियों के बीच एक दी हुई समयावधि (सामान्यतः एक वर्ष) हुए समस्त आर्थिक व्यवहारों का एक व्यवस्थित विवरण होता है।"

4.2 भुगतान–सन्तुलन और व्यापार–सन्तुलन में अन्तर (Difference Between Balance of Payments and Balance of Trade)

भुगतान–सन्तुलन से मिलता–जुलता शब्द व्यापार–सन्तुलन है। अतः इन दोनों में अन्तर समझ लेना चाहिए जो निम्न प्रकार का है–

1. व्यापार–सन्तुलन के अन्तर्गत आयात और निर्यातों का विस्तृत विवरण रहता है। किन्तु भुगतान–सन्तुलन में केवल आयातों–निर्यातों का ही नहीं वरन् सेवाओं, पूंजी, स्वर्ण, आदि का भी समावेश किया जाता है। इस सन्दर्भ में इसका उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि आयात–निर्यात दो प्रकार के होते हैं–दृश्य (Visible) एवं (Invisible)। दृश्य मदों का अर्थ उन सेवाओं से है जिनके लिए यद्यपि देशों द्वारा आपस में भुगतान किया एवं लिया जाता है किन्तु देश के बन्दरगाहों पर उनका कोई लेखा नहीं होता। इस प्रकार जहां व्यापार–सन्तुलन में केवल दृश्य मदों का समावेश होता है, भुगतान–सन्तुलन में दृश्य एवं अदृश्य दोनों मदों का समावेश होता है।

2. व्यापार–सन्तुलन और भुगतान–सन्तुलन में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि व्यापार–सन्तुलन किसी भी समय अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है किन्तु भुगतान–सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है। प्रो. क्रासे के अनुसार, "यह सम्भव है कि एक देश का व्यापार–सन्तुलन, सन्तुलित न रहे किन्तु उसका भुगतान–सन्तुलन हमेशा सन्तुलित रहता है।"

3. व्यापार–सन्तुलन की तुलना में भुगतान–सन्तुलन अधिक व्यापक है क्योंकि भुगतान–सन्तुलन में दृश्य मदों के अतिरिक्त अन्य अदृश्य मदों का समावेश भी होता है। इस प्रकार व्यापार–सन्तुलन, भुगतान–सन्तुलन का एक अंग है और यह सबसे बड़ा अंग है। यदि किसी देश का व्यापार–सन्तुलन देश के पक्ष में नहीं है तो यह देश की प्रतिकूल आर्थिक–स्थिति का प्रतीक है एवं देश के लिए चिन्ता का विषय है।

4.3 व्यापार–सन्तुलन तथा भुगतान–सन्तुलन का सापेक्षिक महत्व

वणिकवादी अर्थशास्त्रियों का विचार था कि कोई भी देश विदेशी व्यापार से तभी लाभ उठा सकता है जब व्यापार–सन्तुलन उसके अनुकूल हो, क्योंकि अनुकूल व्यापार–सन्तुलन से देश को स्वर्ण तथा चाँदी की प्राप्ति होती है। किन्तु समस्या की गहराई में जाने से पता चलता है कि व्यापार–सन्तुलन की अपेक्षा भुगतान–सन्तुलन का अनुकूल होना अधिक महत्वपूर्ण होता है। व्यापार–सन्तुलन, जैसा कि ऊपर बताया गया है, भुगतान–सन्तुलन का ही एक प्रमुख अंग है। किसी देश का व्यापार–सन्तुलन अनुकूल भी हो सकता है और प्रतिकूल भी, परन्तु प्रतिकूल व्यापर–सन्तुलन सदा देश की आर्थिक स्थिति के सन्तोषजनक होने का सूचक होता है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इंगलैण्ड का व्यापार–सन्तुलन भारत के साथ प्रतिकूल रहता था परन्तु इंगलैण्ड भारत से विभिन्न प्रकार की सेवाओं तथा ऋणों आदि के बदले भुगतान प्राप्त करता था। परिणामस्वरूप व्यापार–सन्तुलन प्रतिकूल रहते हुए भी इंगलैण्ड की आर्थिक स्थिति दृढ़ थी और भारत का व्यापार–सन्तुलन अनुकूल होने पर भी भारत गरीब तथा पिछड़ा हुआ था।

किसी देश का व्यापार–सन्तुलन प्रतिकूल होने पर भी उसका भुगतान–सन्तुलन ठीक तथा साम्य की स्थिति में हो सकता है और इस साम्य को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक देश प्रयत्नशील भी रहता है। साथ में प्रत्येक देश इस बात का भी ध्यान रखता है कि उसे भुगतान–सन्तुलन का साम्य किस प्रकार प्राप्त हुआ है। यदि किसी देश की देनदारियाँ अथवा विकलन उनकी लेनदारियों अथवा समाकलन से कहीं अधिक हैं और यह देश विदेशी ऋण लेकर अथवा अपने सुरक्षित कोष व्यय कर देनों में सन्तुलन प्राप्त करता है, तो यह भुगतान–सन्तुलन की असाम्य की स्थिति है। यह स्थिति इस बात की सूचक है कि देश की आर्थिक दशा बिगड़ रही है, और यदि इसे सुधारा न गया तो दीर्घ काल में यह स्थिति उस देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देश के व्यापार–सन्तुलन के अध्ययन की अपेक्षा उसके भुगतान–सन्तुलन का अध्ययन अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण होता है।

भुगतान–सन्तुलन के अध्ययन से देश की आर्थिक स्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। इससे हमें यह पता चलता है कि विदेशों से हम क्या प्राप्त करते हैं और उन्हें हम कितना भुगतान करते हैं। व्यापार की वस्तुओं और सेवाओं को देखकर देश के आर्थिक विकास का पता लगाया जा सकता है। किसी देश की बदलती हुई आर्थिक स्थिति का अनुमान भी भुगतान–सन्तुलन के विवरणों पर आधारित होता है। किसी देश को प्राप्त विदेशी सहायता का अनुमान भी इसी से लगता है तथा विदेशी विनिमय–कोषों में होने वाले परिवर्तन की जानकारी प्राप्त होती है। भुगतान–सन्तुलन, वास्तव में, एक 'आर्थिक बैरोमीटर है जिससे किसी देश की आर्थिक दशा का अनुमान लगाया जाता है। भुगतान–सन्तुलन किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय वित्त–व्यवहारों का परिमाणात्मक सारांश होने के कारण उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालता है। इसीलिए जेवन्स ने कहा है, "एक रसायनशास्त्री के लिए जो महत्व तत्वों की आवधिक तालिका का है, वही महत्व एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिए भुगतान–सन्तुलन का है।"

4.4 भुगतान–सन्तुलन की संरचना (Composition of Balance of Payment)

भुगतान–सन्तुलन में दो पक्ष होते हैं–लेनदारी एवं देनदारी। लेनदारी पक्ष को समाकलन भी कहते हैं तथा देनदारी पक्ष को विकलन कहा जाता है।

भुगतान–सन्तुलन की कुछ प्रमुख मदें निम्न प्रकार है–

1. वस्तुओं का आयात–निर्यात (Merchandise)-किसी देश की भुगतान–सन्तुलन की यह सबसे प्रमुख मद होती है तथा इसमें वसतुओं के आयात–निर्यात को ही शामिल किया जाता है। इसे भुगतान–सन्तुलन की दृश्य मद भी कहते हैं। जब एक देश वस्तुओं का निर्यात करता है तो उसे विदेशों से भुगतान प्राप्त होते हैं तथा देश जिन वस्तुओं का आयात करता है, उसके फलस्वरूप उसे उन देशों का भुगतान करना पड़ता है अर्थात् उसके भुगतान दायित्व बढ़ जाते हैं।

2. सेवाएं (Services)-दो देशों के बीच केवल वस्तुओं का ही आयात–निर्यात नहीं होता वरन् सेवाओं का आयात–निर्यात भी किया जाता है। भुगतान–सन्तुलन की यह अदृश्य मद है। ये सेवाएं मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती हैं–

(i) व्यापारिक कम्परियों; जैसे–बैंक एवं बीमा कम्पनियों की सेवाएं,

(ii) विशेषज्ञो; जैसे–चिकित्सक, इन्जीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ, आदि की सेवाएं,

(iii) शिक्षण एवं भ्रमण के लिए विदेशों में जाने वाले पर्यटकों के द्वारा उपभोग की जाने वाली सेवाएं।

3. ब्याज एवं लाभांश (Interest and Dividend)-यदि कोई देश विदेशों में विनियोग करता है तो उसे ब्याज अथवा लाभांश के रूप में भुगतान प्राप्त होता है जिसकी प्रविष्टि लेनदारी पक्ष में की जाती है। इसके विपरीत, देश में विदेशी विनियोग के फलस्वरूप जो भुगतान एक देश द्वारा विदेशों को किए जाते हैं, वे उस देश की देनदारियों में शामिल किए जाते हैं।

4. उपहार (Gifts)-कभी–कभी एक देश द्वारा विदेशों में रहने वाले नागरिकों को वस्तुओं के उपहार भेजे जाते हैं जो इन्हें प्राप्त करने वाले देश के भुगतान–सन्तुलन के जमा पक्ष में शामिल किए जाते हैं। जिस देश द्वारा उपहार दिए जाते हैं, चूंकि उनका कोई भुगतान प्राप्त नहीं होता अतः उन्हें विकलन पक्ष में एकपक्षीय हस्तान्तरण के वर्ग में रखा जाता है।

5. दीर्घकालीन विनियोग (Long-term investments)-इनके अन्तर्गत उन विनियोगों को शामिल किया जाता है जो एक वर्ष या उससे अधिक अवधि के लिए किए जाते हैं। साधारण रूप से इनमें एक देश के नागरिकों द्वारा विदेशों में क्रय की जाने वाली निजी परिसम्पत्तियों को शामिल किया जाता है, जैसे–फैक्टरी, खानें, बागान, आदि। जब उन विनियोगों से भुगतान प्राप्त होने लगता है तो विनियोग करने वाले देश के लिए यह जमा पक्ष होता है तथा जिस देश में विनियोग किया जाता है, उसके द्वारा भुगतान किया जाता है जो विकलन पक्ष में रखा जाता है।

6. अल्पकालीन विनियोग (Short-term investments)-इसके अन्तर्गत वे विनियोग आते हैं जिनकी अवधि एक वर्ष से कम होती है। साधारणरूप से इनकी परिपक्वता की अवधि 30, 60 या 90 दिनों की होती है। अल्पकालीन विनियोगों के अन्तर्गत विदेशी बैंकों की अतिरिक्त जमा, विदेशी सरकारों के अल्पकालीन बॉण्ड्स का क्रय एवं कुछ व्यापारिक पत्रों का क्रय शामिल होता है।

7. स्वर्ण का आवागमन (Gold movement)-किसी देश के भुगतान–सन्तुलन में स्वर्ण के आयात–निर्यात को उसी तरह शामिल किया जाता है जिस प्रकार कि वस्तुओं के आयात–निर्यात को। जब एक देश, विदेश से स्वर्ण खरीदता है तो स्वर्ण विक्रेता भुगतान प्राप्त करता है तथा इसकी प्रविष्टि जमा पक्ष में की जाती है एवं स्वर्ण आयात करने वाले देश में इसकी प्रविष्टि देनदारी पक्ष में होती है।

इन मदों को निम्न तालिका से सरलता से समझा जा सकता है–

भुगतान–सन्तुलन की तालिका

लेनदारी पक्ष (समाकलन) (Credit or Receipts)	**देनदारी पक्ष (विकलन) (Debit or Payments)**
1. वस्तुओं के निर्यात	1. वस्तुओं के आयात
2. सेवाओं से प्राप्त आय	2. सेवाओं पर किया गया व्यय
(i) बीमा सेवाएं	(i) बीमा सेवाओं पर व्यय
(ii) बैंक सेवाएं	(ii) बैंक सेवाओं पर व्यय
(iii) प्राविधिक एवं विशेषज्ञ सेवाएं	(ii) प्राविधिक एवं विशेषज्ञ सेवाओं पर व्यय
(iv) शिक्षा एवं अन्य सेवाएं	(iii) शिक्षा एवं अन्य सेवाओं पर व्यय
3. विदेशी ऋणों पर प्राप्त ब्याज एवं मूलधन की वापसी	3. विदेशियों से प्राप्त धन पर ब्याज का भुगतान एवं मूलधन की अदायगी।
4. विदेशी विनियोगों की वापसी एवं उस पर प्राप्त लाभांश	4. विदेशी विनियोगों के लाभांश की वापसी
5. विदेशी पर्यटकों एवं छात्रों द्वारा व्यय	5. देश के पर्यटकों एवं छात्रों द्वारा विदेश में व्यय
6. विदेशी सरकारों द्वारा देश में व्यय	6. देश की सरकारों द्वारा विदेशों में व्यय
7. देश में जनसंख्या के आप्रवासन से प्राप्त होने वाला धन	7. जनसंख्या के उत्प्रवास (emigration) से विदेशों को किया जाने वाला भुगतान
8. विदेशों से प्राप्त होने वाला मुआवजा, उपहार, दान, युद्ध–व्यय, आदि।	8. विदेशियों को दिया जाने वाला मुआवजा, उपहार, दान, इत्यादि।

4.5 भुगतान–सन्तुलन सदा सन्तुलित रहता है?
(Balance of Payment Always Balances)

एक देश का व्यापार–शेष भले ही सन्तुलन में न रहे, पर भुगतान–शेष सदैव सन्तुलन की स्थिति में रहता है। व्यापार–शेष का आशय माल के आयात–निर्यात से होता है। जब किसी देश के निर्यात का मूल्य आयात मूल्य से अधिक होता है, तो उस देशका व्यापार–शेष उसके पक्ष में होता है, किन्तु व्यापार–शेष से देश की सम्पूर्ण आर्थिक–स्थिति का ज्ञान नहीं होता तथा इसमें असन्तुलन हो सकता है। जहां तक भुगतान–शेष का सम्बन्ध है, चूंकि इसका वितरण बहीखाते के समान दोहरी प्रविष्टि (Equal Dual Entry) लेनदारी एवं देनदारी के आधार पर तैयार किया जाता है और यदि सारी प्रविष्टियाँ सही ढंग से की जाती हैं तो कुल लेनदारियाँ कुल देनदारियों के बराबर होती है। इसका कारण यह है कि लेन–देन के दोनों पक्ष योग राशि में बराबर होते हैं तथा उन्हें एक–देसरे के विरुद्ध दिशा में लिखा जाता है। अतः लेखा के सन्दर्भ में भुगतान–शेष, सदैव सन्तुलन में रहता है। यह बात दूसरी है कि इन दोनों के अन्तर को, ऋण द्वारा पूर्ति करके, समान दिखाया जाता है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के सन्तुलन में, चालू खाता और पूंजी खाता है। यहां इन दोनों का अर्थ समझना आवश्यक है।

चालू खाते के अन्तर्गत लेन–देन के फलस्वरूप किए जाने वाले अथवा प्राप्त होने वाले उन भुगतानों का समावेश होता है जो चालू (एक) वर्ष में पूरे किए जाते हैं। पूंजी खाते (Capital Account) के अन्तर्गत उन मुद्दों को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा चालू खातों में प्रविष्टि भुगतान सम्भव होते हैं अर्थात् आयात–निर्यात एवं सेवाओं के बदले प्राप्त व देय भुगतानों को सम्भव बनाने वाली मदें पूंजी खाते में सम्मिलित की जाती हैं। पूंजी खाते से किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग अथवा ऋणग्रस्तता सम्बन्धी स्थिति का ज्ञान होता है। इन दोनों में वही अन्तर है जो आय और पूंजी में होता है। आय–निश्चित अवधि में एक प्रवाह (Flow) के समान है, जबकि पूंजी समय–अन्तराल में एक संग्रह (Stock) है। चालू खाते के अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओं, ब्याज एवं लाभांश और एकपक्षीय हस्तान्तरणों को शामिल किया जाता है तथा पूंजी खाते में दीर्घकालीन और अल्पकालीन विनियोगों एवं मुद्रा के आवागमन को शामिल किया जाता है।

भुगतान–शेष हमेशा सन्तुलन में रहता है। इसे निम्नवत् भी स्पष्ट किया जा सकता है–
'भुगतान–शेष हमेशा सन्तुलन में होता है' का अर्थ है कि चालू–लेखा, पूंजी लेखा और सरकारी व्यवस्थापन लेखा की निवल क्रेडिट और डेविट शेषों का बीजगणितीय जोड़ अवश्य शून्य होना चाहिए। भुगतान–शेष को निम्न प्रकार लिखा जाता है–

$$B = R_f - P_f$$

जहां B भुगतान–शेष, R_f विदेशियों से प्राप्तियों और P_f विदेशियों को किए गए भुगतानों को व्यक्त करते हैं। जब $B = R_f - P_f = 0$, तो भुगतान–शेष सन्तुलन में है। जब $R_f - P_f > 0$ तो इसका मतलब है कि विदेशियों को किए गए भुगतानों की अपेक्षा विदेशियों से हुई प्राप्तियां अधिक हैं और भुगतान–शेष में अतिरेक (Surplus) है। दूसरी ओर, जब $R_f - P_f < 0$ अथवा $R_f - P_f$ तो भुगतान–शेष घाटा है, क्योंकि विदेशियों को जो भुगतान किए गए हैं, वे विदेशियों से हुई प्राप्तियों से अधिक हैं।

यदि निवल (Net) विदेशी उधार, दान तथा विदेशों में निवेश को लिया जाए, तो लोचदार विनिमय दर निर्यात को आयात से बढ़ा देती है। अन्य करेन्सियों के दामों में घरेलू करेन्सी का मूल्य घट जाता है। आयात की सापेक्षता में निर्यात अधिक सस्ते हो जाते हैं। इसे समीकरण के रूप में यों दिखाया जा सकता है–

$$X + B = M + I_f$$

जहां X निर्यात, M आयात, I_f विदेशी निवेश और B विदेश से उधार लेने को व्यक्त करते हैं–

अथवा $$X - M = I_f - B$$

अथवा $$(X - M) - (I_f - B) = 0$$

यह समीकरण बताता है कि भुगतान–शेष सन्तुलन में है। चालू लेखा के धनात्मक शेष का उसके पूंजी लेखा का ऋणात्मक शेष पूर्ण रूप से क्षतिपूर्ति कर देता है, और उलट भी। लेखांकन की दृष्टि से, भुगतान–शेष हमेशा सन्तुलन में होता है। इसे निम्न समीकरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है–

$$C + S + T = C + I + G + (X - M)$$

अथवा $Y = C + I + G + (X - M)$ $[Y = C + S + T]$

जहां C उपभोग व्यय, S घरेलू बचत, T कर प्राप्तियों, I निवेश व्यय, G सरकारी व्यय, X वस्तुओं तथा सेवाओं के निर्यात को और M वस्तुओं तथा सेवाओं के आयात को व्यक्त करते हैं।

ऊपर दिए गए समीकरण में C + S + T सकल राष्ट्रीय (GNI) अथवा राष्ट्रीय आय (Y) है और $C + I + G = A$

जहां A को अवशोषण (absorption) कहा जाता है।

लेखांकन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कुल घरेलू व्यय (C + I + G) और (C + S + T) बराबर हों अर्थात् A = Y; तो घरेलू बचतें (S_d) और धरेलू निवेश (I_d) भी बराबर होने चाहिए। इसी तरह आवश्यक है कि चालू खाते में निर्यात अतिरेक (X > M) को निवेश से बढ़ी हुई घरेलू बचत ($S_d > I_d$) क्षतिपूर्ति कर दें। इस प्रकार, लेखांकन की दृष्टि से, भुगतान–शेष हमेशा सन्तुलन में होता है।

लेखांकन प्रणाली में, एक लेन–देन (Transaction) का अन्तः प्रवाह और बाह्य प्रवाह क्रमशः क्रेडिट और डेविट पक्षों में लिखा जाता है। इसलिए क्रेडिट और डेबिट पक्ष सदैव सन्तुलन में होते हैं। यदि चालू लेखा में घाटा हो तो इसे पूंजी लेखा में उतने ही अतिरेक द्वारा पूरा करके सनतुलन किया जा सकता है। इसके लिए विदेशों से उधार लेकर था/और विदेशी विनिमय रिजर्व से और स्वर्ण निर्यात द्वारा पूंजी लेखा में अतिरेक उत्पन्न किया सकता है। चालू लेखा में अतिरेक होने पर इसके विपरीत पूंजी लेखा में घाटे द्वारा सन्तुलन लाया जा सकता है। अतः इस दृष्टिकोण से भी भुगतान शेष सदैव सन्तुलन में होता है।

4.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि भुगतान–सन्तुलन किसी देश के कुल अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों का सम्पूर्ण विवरण होता है। भुगतान–शेष के अन्तर्गत वे सभी मदें सम्मिलित होती हैं जिनके कारण एक देश को विदेशों से भुगतान प्राप्त होते हैं अथवा विदेशों को भुगतान करने होते हैं जबकि दूसरी ओर व्यापार–सन्तुलन में केवल आयात और निर्यात की मदें ही सम्मिलित होती हैं। इस तरह भुगतान से इसकी गणन करते समय समस्त प्राप्तियों और समस्त देनदारियों को सम्मिलित किया जाता है। व्यापारिक जीवन में व्यापार सन्तुलन की अपेक्षा भुगतान–सन्तुलन की अनुकूलता या प्रतिकूलता अधिक महत्वपूर्ण होता है। क्योंकि एक तो व्यापार–सन्तुलन, भुगतान–शेष का अंग मात्र है। दूसरे व्यापार सन्तुलन की प्रकृति अस्थायी और भुगतान–सन्तुलन की प्रकृति स्थायी होती है।

4.7 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- व्यापार सन्तुलन और भुगतान सन्तुलन के अर्थ को बताइये। इन दोनों में से किसके अध्ययन का अधिक महत्व है?

प्रश्न 2- व्यापार सन्तुलन और भुगतान–सन्तुलन में अन्तर स्पष्ट कीजिए। और दोनों के सापेक्षिक महत्व को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3- "भुगतान–सन्तुलन सदैव सन्तुलित रहता है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 4- किस देश के भुगतान–सन्तुलन की संरचना को स्पष्ट कीजिए।

4.8 शब्दावली

दृश्य व्यापार	:	Visible Trade
दृश्य मदें	:	Visible Item
अदृश्य मदें	:	Invisible Item
वणिकवाद	:	Mercantilisam
असाम्य	:	Disequilibrium

4.9 सन्दर्भ सूची

Meade	:	Balance of Payments
J.M. Keynes	:	A Treatise on Money, Vol. I Chap. 21 and Vol. II, Chap. 37, 38
Viner	:	Studies in International Trade
K.K. Kurihara	:	Monetary Theory and Public Policy
Kindle berger	:	International Economics

इकाई 5
भुगतान–सन्तुलन घाटा एवं असाम्य तथा साम्य हेतु विधियाँ

रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 भुगतान–शेष में असन्तुलन के प्रकार
5.3 भुगतान–शेष में असन्तुन के कारण
5.4 भुगतान–शेष के असन्तुलन में सुधार के उपाय

5.5 सारांश
5.6 बोध प्रश्न
5.7 शब्दावली
5.8 सन्दर्भ सूची

5.0 उद्देश्य

किसी देश का भुगतान–सन्तुलन उस देश की अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति का सूचक होता है। ऐसे में इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य भुगतान असाम्य के कारणों का जानकारी प्राप्त करना है। क्योंकि किसी देश के भुगतान–सन्तुलन के चालू खाते का सन्तुलित होना, अर्थात विदेशी ऋण, पूंजी तथा स्वर्ण के आयात–निर्यात के बिना ही सन्तुलन स्थापित हो जाना वास्तविक सन्तुलन समझना चाहिए। भुगतान सन्तुलन की प्रमुख मदें दृश्य एवं अदृश्य व्यापार, एक पक्षीय भुगतान एवं प्राप्तियां आदि। यदि किसी कारणवश इन मदों के अन्तर्गत किसी देश की देनदारियों और लेनदारियों में अन्तर उत्पन्न हो जाये तो भुगतान–सन्तुलन में असाम्य उत्पन्न हो जाता है।

1. इस बात का पता लगाना कि देश का मौद्रिक प्राधिकारी किस प्रकार से भुगतान असाम्य को ठीक करने के लिए कौन–कौन से उपाय प्रयोग करता है।

2. सरकार द्वारा भी अनेक उपायों के द्वारा भुगतान असाम्य को सन्तुलित किया जाता है। इस बात की जानकारी प्राप्त करना।

3. अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का भी किसी देश के भुगतान असाम्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका होता है। इसकी जानकारी प्राप्त करना।

5.1 प्रस्तावना

एक देश के भुगतान शेष में असन्तुलन या तो घाटा या अतिरेक हो सकता है। एक देश के BOP में घाटा या अतिरेक तब होता है जब उसकी स्वायत्त प्राप्तियां (Autonomous Receipts) (क्रेडिट) उसके स्वयात्त भुगतान (डेबिट) से मेल नहीं खाती हैं। यदि स्वायत्त डेबिट भुगतानों से स्वायत्त, क्रेडिट प्राप्तियां अधिक हों तो BOP में अतिरेक होता है और असन्तुलन अनुकूल (Favourable) कहा जाता है। दूसरी ओर, यदि स्वायत्त क्रेडिट प्राप्तियों से स्वायत्त डेबिट भुगतान अधिक हों तो BOP में घाटा होता है और असन्तुलन प्रतिकूल (unfavourable) या विरुद्ध (Adverse) कहलाता है। चाहे भुगतान–शेष अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, किन्तु यदि यह प्रवृत्ति देश में दीर्घकाल तक चलती है तो न केवल उस देश की अर्थव्यवस्था पर वरन् विश्व व्यापार पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव होता है। अतः सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक देश में भुगतान–शेष सन्तुलन की स्थिति में रहे। असन्तुलन के फलस्वरूप जहां तक भुगतान–शेष में 'अनुकूल' अथवा 'प्रतिकूल' स्थिति का प्रश्न है, प्रतिकूल अथवा घाटे की स्थिति तुलनात्मक रूप से अधिक

हानिकारक है। अतः इसमें शीघ्र सुधार करना आवश्यक है तथा वर्तमान में अर्द्ध–विकसित देश तेजी के साथ इसकी आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं।

5.2 भुगतान–शेष में असन्तुलन के प्रकार (Kinds of Disequilibrium in Balance of Payment)

1. चक्रीय असन्तुलन (Cyclical disequilibrium)
2. सुदीर्घकालिक असन्तुलन (Secular disequilibrium)
3. संरचनात्मक असन्तुलन (Structural disequilibrium)

1. चक्रीय असन्तुलन (Cyclical Disequilibrium)-भुगतान–शेष में चक्रीय असन्तुल चक्रीय उच्चावचन के कारण होता है। व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं का अर्थव्यवस्था पर व्यापरक प्रभाव पड़ता है। व्यापार चक्र के कारण भुगतान–शेष में निम्न प्रकार से चक्रीय असन्तुलन पैदा हो सकता है।

a. जब विभिन्न देशों में व्यापार चक्र के फलस्वरूप तेजी एवं मन्दी की स्थिति में भिन्नता हो अथवा गहनता हो। यदि एक देश X में, दूसरे देश Y की तुलना में व्यापार चक्र का प्रभाव अधिक गहन है तो X देश में तेजी की स्थिति में भुगतान–शेष प्रतिकूल रहेगा (क्योंकि कीमतों की वृद्धि से निर्यात हतोत्साहित होंगे) एवं मन्दी के समय भुगतान–शेष अनुकूल रहेगा (कीमतों में कमी से निर्यात प्रोत्साहित होंगे)। Y देश में इसके विपरीत स्थिति होगी।

b. यदि विभिन्न देशों में व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं की अवधि में भिन्नता हो तो भी भुगतान–शेष में चक्रीय असन्तुलन अथवा असाम्य पैदा हो सकता है। यदि दूसरे देश की तुलना में, एक देश में पुनरुत्थान (Recovery) की अवस्था बहुत विलम्ब से आती है तो इसका दीर्घकालीन प्रभाव उस देश के भुगतान–शेष पर प्रतिकूल होता है।

c. यदि विभिन्न देशों में आयातों के लिए मांग की आय लोच में भिन्नता हो तो भी भुगतान–शेष में चक्रीय असन्तुलन पैदा हो सकता है। यदि अन्य बातों के स्थिर रहने पर X देश में आयातों के लिए मांग की आय लोच, Y की तुलना में अधिक है तो तेजी की स्थिति में X देश में भुगतान–शेष प्रतिकूल रहेगा एवं मन्दी के समय अनुकूल रहेगा।

d. यदि विभिन्न देशों में आयातों के लिए मांग की कीमत लोच में भिन्नता हो तो भी भुगतान–शेष में चक्रीय असन्तुलन पैदा हो सकता है। यदि अन्य बातें स्थिर रहने पर, X देश में आयातों के लिए मांग की कीमत लोच, Y की तुलना में अधिक है तो तेजी की स्थिति में X देश में भुगतान–शेष अनुकूल होगा एवं मन्दी की स्थिति में प्रतिकूल होगा।

2. सुदीर्घकालिक असन्तुलन (Secular Disequilibrium)-एक अर्थव्यवस्था को आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है जिनके अन्तर्गत धीरे–धीरे होने वाले दीर्घकालीन परिवर्तन होते हैं जैसे परम्परागत समाज (Traditional Society) से स्वयं–स्फूर्ति के पूर्व की अवस्था (Preconditions of take-off) प्राप्त करने के लिए अर्थव्यवस्था में कई परिवर्तन होते हैं जो एकाएक न होकर धीरे–धीरे होते हैं। इस समय अन्तराल में कई गतिशील तत्वों में परिवर्तन होते हैं; जैसे पूंजी–निर्माण, जनसंख्या की वृद्धि, तकनीकी प्रगति एव नव–प्रवर्तन, औद्योगिक विकास इत्यादि। एक विकासशील अर्थव्यवस्था में, विकास की प्रारम्भिक अवस्था में बचत की तुलना में अधिक विनियोग करना आवश्यक हो जाता है तथा निर्यातों की तुलना में आयात भी अधिक करना होता है। यदि ऐसी स्थिति में देश में पर्याप्त मात्रा में विदेशी पूंजी उपलब्ध नहीं होती तो देश में भुगतान–शेष के घाटे की विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार यदि विाकस की दर की तुलना में देश में जनसंख्या की वृद्धि की दर अधिक रहती है तो भी उसकी आयात की आवश्यकताएं निर्यात की तुलना में अधिक रहती हैं जिसके परिणामस्वरूप भुगतान–शेष प्रतिकूल रहता है अथवा उसमें दीर्घकालीन घाटे की स्थिति आ जाती है।

आर्थिक विकास की परिपक्वता की अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद देश में विनियोग की तुलना में आय का अनुपात बढ़ जाता है। पूंजी के आधिक्य से उत्पादन में भी वृद्धि होती है और आयातों की तुलना में निर्यात भी अधिक बढ़ने लगते हैं। यदि इस स्थिति में देश से पर्याप्त मात्रा में पूंजी का बहिर्गमन नहीं हो तो देश के भुगतान–शेष में दीर्घकालीन अतिरेक की स्थिति आ जाती है।

3. संरचनात्मक असन्तुलन (Structural Disequilibrium)-किसी देश के भुगतान–शेष में संरचनात्मक असन्तुलन की स्थिति उस समय आती है जब निर्यात अथवा आयात या इन दोनों की मांग या पूर्ति के ढांचे में परिवर्तन होता है। किंडलबर्जर के अनुसार, "जब देश की आधारभूत परिस्थितियों में परिवर्तन के फलस्वरूप देश की आय का कुछ भाग या तो विदेशों में व्यय किया जाने लगता है अथवा विदेशों से आय प्राप्त होने लगती है तो भी भुगतान–शेष में असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाती है।" इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। माना विदेशों में भारतीय शक्कर की स्थानापन्न वस्तु की खोज के कारण भारत की शक्कर की मांग घट जाती है तो इस स्थिति में शक्कर उद्योग में लगे साधनों को अन्य निर्यात उद्योगों में हस्तान्तरित करना पड़ेगा और यदि किन्हीं कारणों से इन साधनों को अन्य निर्यात उद्योगों में हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता तो भारत में कुल निर्यात में कमी हो जाएगी एवं आयात अपरिवर्तित रहने पर, भारत के भुगतान–शेष में असन्तुलन की स्थिति आ जाएगी। यह संरचनात्मक असन्तुलन का एक उदाहरण है।

यदि विदेशों में शक्कर की मांग कम न हो, किन्तु यदि भारत में गन्ने की फसल खराब हो जाने के कारण भारत अपने निर्यातों की पूर्ति नहीं कर पाता और यदि आयात अपरिवर्तित रहता है तो निर्यात कम हो जाने के कारण भारत के भुगतान–शेष में असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाएगी।

भुगतान–शेष में संरचनात्मक असन्तुलन उत्पन्न होने के कारणों को बिन्दुवार निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है–

(i) जब देश में युद्ध या अन्य प्राकृतिक संकटों के फलस्वरूप पूंजी की भारी मात्रा में क्षति होती है तो उत्पादन की बहुत हानि होती है एवं राष्ट्रीय आय पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कई पूंजीगत साधनों की क्षति के कारण, विदेशों से भारी मात्रा में पूंजी का आयात करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि निर्यात अपरिवर्तित रहते हैं (बढ़ नहीं पाते) तो भुगतान–शेष में संरचनात्मक असन्तुलन पैदा हो जाता है।

(ii) भुगतान–शेष में सन्तुलन के लिए आवश्यक है कि देश में उत्पादन मांग के ढांचे के अनुरूप हो। जब देश में राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है तो मांग में भी वृद्धि होती है और देश में स्थित साधन इस बढ़ी हुई मांग की पूर्ति नहीं कर पाते तो इन वस्तुओं का विदेशों से आयात करना पड़ता है। यदि निर्यात अपरिवर्तित रहते हैं तो उक्त स्थिति में, आयातों की वृद्धि से भुगतान–शेष में असन्तुलन हो जाता है।

(iii) यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यापार–शर्तों का क्या आशय है तथा किस प्रकार व्यापार शर्तों का प्रभाव देश के भुगतान–शेष पर पड़ता है। एक देश के लिए व्यापार की शर्तें इसलिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल हो जाती हैं, क्योंकि आयातों और निर्यातों की मांग तथा पूर्ति में सापेक्षिक परिवर्तन हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किन्हीं कारणों से प्राथमिक उत्पादन और कच्चे माल की कीमतों में निर्मित माल की तुलना में अधिक वृद्धि होती है तो जो देश प्राथमिक वस्तुओं (कृषि पदार्थों एवं कच्चे माल) का निर्यात करते हैं उनके लिए व्यापार की शर्तें अनुकूल हो जाती हैं और अतिरेक की स्थिति आ जाती है जबकि निर्मित माल वाले देश में संरचनात्मक असन्तुलन पैदा हो जाता है।

(iv) जब किसी देश के दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह में परिवर्तन होता है तो इसके फलस्वरूप भी वहां संरचनात्मक असन्तुलन की स्थिति आ जाती है। जैसे एक देश दीर्घकाल से विदेशों से भुगतान प्राप्त कर रहा है जो उसके अनुकूल व्यापार सन्तुलन या अन्य कारणों से हो सकता है। यदि किन्हीं कारणों से उक्त भुगतान बन्द हो जाते हैं तो देश भुगतान–शेष में संरचनात्मक असन्तुलन पैदा हो जाता है। स्नाइडर के अनुसार, "पूंजी प्रवाह की गति अचानक रुकने का चाहे जो भी कारण हो, किन्तु इससे प्राप्तकर्ता देश के उत्पादन के ढांचे में असन्तुलन हो जाता है जिससे भुगतान–शेष भी असन्तुलित हो जाता है।"

(v) जब देश में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और संस्थागत परिवर्तन होते हैं तो भी भुगतान–शेष में संरचनात्मक असन्तुलन पैदा हो जाता है। जैसे यदि राजनीतिक परिवर्तन के फलस्वरूप एक देश के निर्यात कम होते हैं तो भी भुगतान शेष असन्तुलित हो जाता है। इसी प्रकार व्यापार के क्षेत्र में यदि अवरोध अथवा बाधाएं पैदा की जाती हैं; जैसे विनिमय नियन्त्रण, अभ्यंश प्रणाली, इत्यादि तो भी संरचनात्मक असन्तुलन की स्थिति आ जाती है।

(vi) किसी देश के व्यापार के ढांचे में परिवर्तन होने के फलस्वरूप भी भुगतान–शेष में असन्तुलन की स्थिति आ जाती है। आयातों में वृद्धि अथवा निर्यातों में कमी होने से ऐसी असन्तुलन की स्थिति आ सकती है।

भुगतान शेष में असन्तुलन के अन्य प्रकार

1. भुगतान–शेष में अस्थायी असन्तुलन उस समय होता है जब वह अल्पकालीन अथवा अस्थायी कारणों से पैदा होता है तथा ऐसे असन्तुलन की स्थिति दीर्घकालीन नहीं होती। जैसे ही अल्पकालीन कारण समाप्त होते हैं, असन्तुलन भी समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी देश में प्रतिकूल मौसम एवं बाढ़ अथवा सूखे की स्थिति के कारण खाद्यान्न की कमी हो जाती है तो उसे भारी मात्रा में विदेशों से आयात करना पड़ता है। यदि निर्यातों के मूल्य में कोई परिवर्तन न हो तो उतने समय के लिए जब तक कि अगले वर्ष प्रचुर मात्रा में फसल प्राप्त नहीं हो जाती, उस देश का भुगतान–शेष असन्तुलित हो जाता है। इसे अस्थायी असन्तुलन कहते हैं।

2. यह कुछ–कुछ दीर्घकालीन असन्तुलन से मिलता–जुलता है। दीर्घकालीन असन्तुलन उस समय होता है जब आर्थिक विकास की अवस्थाओं में परिवर्तन होता है, किन्तु इस कारण के अतिरिक्त यदि इन्य किन्हीं कारणों से किसी देश के भुगतान शेष का असन्तुलन दीर्घकाल तक चलता है तो उसे स्थायी असन्तुलन कहते हैं। जैसे यदि देश में उत्पादन लागत में वृद्धि होती है जिससे कीतें बढ़ती हैं और उन्हें किसी तरह से कम नहीं किया जाता तो इसका देश के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जिससे भुगतान–शेष में स्थायी असन्तुलन होने की प्रवृत्ति रहती है।

5.3 भुगतान–शेष में असन्तुलन के कारण (Causes of Disequilibrium in Balance of Payment)

विभिन्न देशों में भुगतान–शेष में असन्तुलन के विभिन्न कारण हो सकते हैं तथा एक ही देश में भिन्न–भिन्न समय में असन्तुलन के विभिन्न कारण हो सकते हैं जैसे, भारत में द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में भुगतान–शेष में असन्तुलन इसलिए हुआ क्योंकि भारी मात्रा में पूंजीगत वस्तुओं का औद्योगीकरण के लिए आयात किया गया तथा तृतीय योजनाकाल में इसलिए असन्तुलन हुआ क्योंकि देश में सूखे की स्थिति के कारण खाद्यान्न का काफी आयात किया गया जबकि युद्ध की स्थिति के कारण (चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के कारण) निर्यातों में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हो सकती।

इस प्रकार भुगतान–शेष की कई मदों, जैसे दृश्य एवं अदृश्य आयात और निर्यात, एकपक्षीय भुगतान प्राप्ति, आदि में एक ही दिशा में होने वाले परिवर्तन असन्तुलन की स्थिति निर्मित कर देते हैं। सामान्य तौर पर निम्न कारण भुगतान–शेष में असन्तुलन पैदा कर देते हैं–

1. विकास एवं विनियोग कार्यक्रम–विशेष रूप से अर्द्ध–विकसित देशों में भुगतान–शेष में असनतुलन होने का मुख्यकारण, वहीं भारी मात्रा में विकास एवं विनियोग सम्बन्धी कार्यक्रम हैं। ये देश द्रुत गति से औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास करना चाहते हैं किन्तु इसके लिए इनके पास पर्याप्त मात्रा में पूंजी एवं अन्य साधनों का अभाव होता है। अतः इन चीजों का इन्हें विदेशों से आयात करना होता है। इस प्रकार इन देशों का आयात तो बढ़ जाता है किन्तु उसी अनुपात में इनके निर्यात में वृद्धि हो पाती क्योंकि प्राथमिक उत्पादन होने के नाते, ये केवल इनी–गिनी वस्तुओं का ही निर्यात करते हैं। इसके साथ ही जब इन देशों में औद्योगीकरण की प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है तो उन वस्तुओं की खपत देश में ही बढ़ जाती है जिनका कि पहले निर्यात किया जाता था। इस प्रकार इन देशों के भुगतान–शेष में संरचनात्मक परिवर्तन होते हैं जिसके फलस्वरूप संरचनात्मक असन्तुलन हो जाता है।

2. चक्रीय उच्चावचन–व्यापार–वक्र के फलस्वरूप विभिन्न देशों में, भिन्न अर्थव्यवस्था में, चक्रीय उच्चावचन होते हैं जिनकी अवस्थाएं विभिन्न देशों में अलग–अलग होती हैं जिनके फलस्वरूप भुगतान–शेष में चक्रीय असन्तुलन पैदा हो जाता है। 1930 के दशक के दौरान विश्व के भुगतान–शेष में इस प्रकार का असन्तुलन पैदा हुआ था।

3. आय प्रभाव एवं कीमत प्रभाव–विकासशील देशों में आर्थिक विकास के फलस्वरूप लोगों की आय में वृद्धि होती है, जिससे कीमतों में भी वृद्धि होती है, जिससे कीमतों में भी वृद्धि होती है जिसका इन देशों के भुगतान–शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आय में वृद्धि होने से इन देशों के आयातों में वृद्धि होती है क्योंकि इनकी सीमान्त आयात–प्रवृत्ति ऊंची होती है। इसके साथ ही चूंकि इन देशों में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति भी ऊंची होती है, लोगों की घरेलू वस्तुओं के उपभोग की मांग में भी वृद्धि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि इनके पास निर्यात की वस्तुओं की कमी हो जाती है।

जब इन देशों में भारी उद्योगों में, अधिक मात्रा में विनियोग किया जाता है तो इसका मुद्रा–स्फीतिक प्रभाव होता है क्योंकि अन्तिम उत्पादन होने में तो काफी समय लगता है जबकि बढ़ती हुई मुद्रा लोगों के हाथों में पहुंच जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वस्तुओं की मांग में वृद्धि होने से उनकी कीमतें बढ़ने लगती हैं जिससे आयातों को प्रोत्साहन मिलता है तथा निर्यात हतोत्साहित होते हैं और देश के भुगतान–शेष में असन्तुलन पैदा हो जाता है।

4. निर्यात मांग में परिवर्तन–विकासशील देशों में भुगतान–शेष में असन्तुलन होने का एक प्रमुख कारण यह है कि इनके द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मांग में परिवर्तन हुआ है। आज विकसित देश खाद्यान्न, कच्चे माल एवं अन्य वैकल्पिक वस्तुओं का उत्पादन करने लगते हैं जिनका कि पहले वे विकासशील देशों से आयात करते थे। इसके फलस्वरूप, विकासशील देशों के निर्यात कम हो गए हैं एवं उनके भुगतान–शेष में संरचनात्मक असन्तुलन पैदा हो गया है।

जहां तक विकसित देशों का प्रश्न है, उनके निर्यात भी पहले की तुलना में कम हो गए हैं जिसका कारण यह है कि एक तो उनके उपनिवेश बाजार समाप्त हो गए हैं एवं दूसरे, विकासशील देशों में अधिक आत्म–निर्भर होने की प्रवृत्ति पनप रही है। किन्तु इसे ध्यान में रखना चाहिए कि विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों के भुगतान–शेष में असन्तुलन समस्या अधिक व्यापक एवं चिन्तनीय है।

5. विकसित देशों में आयात प्रतिबन्ध–प्रायः विकसित देशों में अनुकूल व्यापर शर्तों एवं अन्य कारणों के फलस्वरूप, उनका भुगतान–शेष अतिरेक की स्थिति में रहता है और यदि ये विकासशील देशों से आयात करते रहें तो विकासशील देशों की भुगतान–शेष की स्थिति में सुधार हो सकता है। किन्तु ये देश तरह–तरह के आयात प्रतिबन्ध लगा देते हैं जिससे विकासशील देशों के निर्यात में वृद्धि नहीं हो पाती एवं उनके भुगतान–शेष में असन्तुलन हो जाता है।

6. विकासशील देशों में तीव्र जनसंख्या वृद्धि दर–विकासशील देशों में जनसंख्या की वृद्धि की दर बहुत अधिक है जिसका इन देशों के आर्थिक विकास एवं उनके फलस्वरूप भुगतान–शेष पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण एक तो इन देशों की आयात की मात्रा में वृद्धि हो जाती है किन्तु दूसरी ओर, घरेलू उपभोग में वृद्धि होने से निर्यात–क्षमता कम हो जाती है। यह तथ्य भी इन देशों की स्थिति को भीषण बना देता है कि विकसित देशों की घटती हुई जनसंख्या से विकासशील देशों के निर्यात में कमी हो जाती है क्योंकि इन वस्तुओं की मांग में कमी हो जाती है। फलस्वरूप विकासशील देशों के भुगतान–शेष में असन्तुलन की समस्या और भी कठिन हो जाती है।

7. प्रदर्शन प्रभाव–प्रो. नर्कसे ने अपनी पुस्तक में 'प्रदर्शन प्रभाव' (Demonstrative effect) की व्यापक चर्चा की है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, राजनीतिक एवं अन्य सामाजिक कारणों से जब अर्द्ध–विकसित देश विकसित देशें के सम्पर्क में आते हैं तो वहां के लोग विकसित देश के लोगों की उपभोग आदतों को अपनाने के लिए प्रवृत्त होते हैं तथा पश्चिमी तड़क–भड़क को अपनाना चाहते हैं। अतः ऐसी वस्तुओं का विदेशों से आयात किया जाता है अर्थात् आयात प्रवृत्ति में वृद्धि होने लगती है, जबकि दूसरी ओर या तो उनकी निर्यात की मात्रा स्थिर रहती है अथवा उसमें कमी हो जाती है। इसके फलस्वरूप, विकासशील देशों के भुगतान–शेष में असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाती है।

8. अन्तर्राष्ट्रीय ऋण एवं विनियोग–अपने विकास कार्यक्रम को वित्तीय व्यवस्था के लिए बहुत–से विकासशील देश, विकसित देशों से भारी मात्रा में ऋण लेते हैं जिसके ब्याज एवं मूलधन की

वापसी के लिए उन्हें बहुत अधिक विदेशी विनिमय खर्च करना होता है जिससे उनके भुगतान–शेष में असन्तुलन पैदा हो जाता है। दूसरी ओर, जो देश ऋण देते हैं, उनका भुगतान–शेष अनुकूल रहता है, क्योंकि उन्हें व्याज, आदि के रूप में विदेशी विनिमय प्राप्त होता है।

5.4 भुगतान–शेष के असन्तुलन अथवा असाम्य में सुधार के उपाय (Measures for Correcting The Disequilibrium in The Balance of Payment)

असन्तुलन को ठीक करने के उपायों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–

(A) मौद्रिक उपाय (Monetary Measures)– भुगतान–शेष के प्रतिकूल असन्तुलन को निर्यातों में वृद्धि करके एवं आयातों में कमी करके ठीक किया जा सकता है जिसके लिए निम्न मौद्रिक उपायों का सहारा लिया जाता है–

(i) मुद्रा संकुचन (Deflation)-भुगतान–शेष के असन्तुलन को ठीक करने के लिए देश में मुद्रा संकुचन का सुझाव दिया जाता है अर्थात् महंगी मुद्रा नीति एवं आवश्यक साख नीति को अपनाकर, देश में मुद्रा की मात्रा को सीमित कर दिया जाय। मुद्रा की मात्रा में कमी होने का परिणाम यह होगा कि साधनों एवं अन्य कीमतों में कमी हो जायगी तथा वस्तु की उत्पादन लागत घटकर बाजार में उसकी कीमतें गिर जाएंगी जिससे ऐसे देश की वस्तुएं विदेशों में सापेक्षिक रूप से सस्ती हो जाएंगी एवं निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा। मुद्रा संकुचन का यह प्रभाव भी होता है कि लोगों की आय कम हो जाती है अतः उनकी मांग कम हो जाती है जिससे निर्यात के लिए अधिक अतिरेक की मात्रा बच रहती है। साथ ही आय कम होने से उनकी सीमान्त आयात प्रवृत्ति भी सीमित हो जाती है जिससे आयात हतोत्साहित होते हैं। इस प्रकार निर्यातों में वृद्धि एवं आयातों में कमी के माध्यम से प्रतिकूल व्यापार–शेष को ठीक किया जा सकता है।

किसी भी देश में मुद्रा संकुचन की नीति को मौद्रिक अधिकारियों द्वारा उसी समय सफलतापूर्वक अपनाया जा सकता है जबकि निम्नलिखित दो शर्तें पूर्ण होती हों–

प्रथम तो यह कि देश स्वर्णमान पर आधारित हो अथवा उनके बीच विनिमय की दरें स्थिर हों क्योंकि जब एक देश असन्तुलन को ठीक करने के लिए मुद्रा संकुचन का सहारा लेता है तो उसकी विनिमय दरों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए एवं द्वितीय, मुद्रा संकुचन किस सीमा तक सहायक होगा, यह आयात एवं निर्यात की मांग की लोच पर निर्भर रहता है। यदि आयातों की मांग लोचदार है तो संकुचन के द्वारा आयातों को कम किया जा सकता हैं। किन्तु यदि आयातों की मांग बेलोचदार है तो भारी मात्रा में मुद्रा संकुचन करना होगा ताकि आयातों को रोका जा सके। किन्तु यह देश के हित में नहीं होगा।

किन्तु भुगतान–शेष के प्रतिकूल असन्तुलन को ठीक करने के लिए प्रायः मुद्रा संकुचन को उचित नहीं माना जाता। इसका कारण यह है कि जो देश आर्थिक विकास को गतिशील बनाने के प्रयत्न में लगे हुए हैं अर्थात् अर्द्ध–विकसित देश, उनमें मुद्रा संकुचन का प्रतिकूल प्रभाव यह होता है कि देश में बेरोजगारी फैलने लगती है, उत्पादन की मात्रा घटने लगती है एवं लोगों की आय तथा श्रमिकों की मजदूरी कम होने लगती है। यही कारण है कि प्रो. कीन्स ने मुद्रा संकुचन को अनुपयुक्त बताया है, क्योंकि इसका देश की अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव पड़ता है।

(ii) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)-सरल शब्दों में, विनिमय नियन्त्रण उन सब क्रियाओं के सामूहित स्वरूप को कहते हैं जो मुद्रा की विनिमय दर को एक निर्धारित स्तर पर बनाए रखने के लिए की जाती है। प्रो. हेबरलर के अनुसार, "विनिमय नियन्त्रण वह सरकारी नियमन है जो विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं करने देता।" भुगतान–शेष के असन्तुलन को ठीक करने के लिए विनिमय नियन्त्रण की नीति को अधिक निश्चित एवं प्रभावशाली माना जाता है। जब किसी देश में विदेशी विनिमय का संकट उपस्थित होता है तो सरकार विदेशी विनिमय के समस्त लेन–देनों को नियमित कर अपने हाथ में ले लेती है और केवल अधिकृत व्यापारियों को ही सीमित मात्रा में विदेशी मुद्रा के लेन–देन की अनुमति देती है। साथ ही आयात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा को भी सरकार द्वारा नियन्त्रित कर दिया जाता है जिससे आयात को, उपलब्ध विदेशी विनिमय के अनुसार समायोजित कर दिया जाता है।

जहां तक विनिमय नियन्त्रण के प्रभावशाली होने का प्रश्न है यह विधि भुगतान–शेष के घाटे को तो कम कर देती है, किन्तु यह प्रतिकूल भुगतान–शेष के मूलभूत कारणों की ओर ध्यान नहीं देती। इसकी तुलना एक ऐसे उपचार से की जा सकती है जिसके अन्तर्गत रोग को दबा दिया जाता है किन्तु रोग की जड़ को दूर नहीं किया जाता। इसका परिणाम यह होता है कि जैसे ही सरकार विनिमय नियन्त्रण में ढील देती है, भुगतान–शेष में पुनः असन्तुलन पैदा होने लगता है। प्रो. एल्सबर्थ के अनुसार, "विनिमय नियंण, भुगतान–शेष के घाटे का तो समाधान प्रस्तुत करता है किन्तु उसके कारणों पर ध्यान नहीं देता एवं उन कारणों को और अधिक सक्रिय कर सकता है जो असन्तुलन को और व्यापक बना दें।"

(iii) अवमूल्यन (Devaluation)-प्रतिकूल भुगतान–शेष को ठीक करने के लिए बहुत–से देशों द्वारा अवमूल्यन को अन्तिम अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अवमूल्यन के अन्तर्गत सरकारी घोषणा के अनुसार देश की मुद्रा के बाह्य मूल्य को कम कर दिया जाता है। पॉल एन्जिग के अनुसार, "अवमूल्यन का अर्थ–मुद्राओं की अधिकृत समस्याओं में कमी कर देने से हैं। अवमूल्यन के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा की एक इकाई के बदले, पहले से अधिक स्वदेशी मुद्रा की इकाइयां प्राप्त होने लगती हैं। अवमूल्यन में यह आवश्यक नहीं है कि मुद्रा के बाह्य मूल्य में कमी होने के साथ ही साथ, उनके आन्तरिक मूल्य में भी कमी हो जाय।"

प्रतिकूल भुगतान–शेष को ठीक करने के लिए अवमूल्यन मुख्य रूप से निर्यातों को प्रोत्साहित एवं आयातों को हतोत्साहित करने पर बल देता है। इससे देश, मुद्रा संकुचन सरीखे समायोजन के अपायों से बच जाता है जिसके अन्तर्गत विनिमय दर स्थिर रखी जाती है एवं संकुचन के घातक परिणाम हो सकते हैं। जब भुगतान–शेष में घाटा मुद्रा के अवमूल्यन के फलस्वरूप होता है तो ऐसी स्थिति में अवमूल्यन एक उचित विधि है क्योंकि अतिमूल्यन के कारण देश में आयात तो बढ़ जाते हैं किन्तु निर्यात नहीं बढ़ पाते। अतः निर्यातों को बढ़ाने एवं आयातों को नियन्त्रित करने के लिए अवमूल्यन का सहारा लिया जाता है। अवमूल्यन इसलिए भी अपनाया जाता है ताकि एक देश विश्व बाजार में अन्य देशों की तुलना में अपने निर्यातों को बढ़ा सके।

अवमूल्यन की सफलता की शर्तें

प्रतिकूल भुगतान–शेष को ठीक करने में अवमूल्यन की सफलता निम्न बातों पर निर्भर रहती है–

1. लोचपूर्ण मांग–आयात एवं निर्यात के लिए मांग लोचपूर्ण होनी चाहिए तभी अवमूल्यन के उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यदि देश की मांग आयात एवं निर्यात के लिए बेलोचदार है तो एक ओर तो कुल आयातों का मूल्य बढ़ जायगा तथा दूसरी ओर निर्यातों का कूल मूल्य कम हो जायगा जिसका परिणाम यह होगा कि ठीक होने के बजाय, भुगतान–शेष और अधिक प्रतिकूल हो जायगा।

2. लागत और मूल्यों में स्थिरता–यह आवश्यक है कि अवमूल्यन करने वाले देशों में मुद्रा के आन्तरिक मूल्य में स्थिरता रहनी चाहिए अर्थात् लागत और कीमत में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यदि देश में कीमतें बढ़ती हैं तो स्फीतिक दशाएं होने के कारण निर्यात प्रोत्साहित नहीं हो पाते।

3. विदेशों से सहयोग–एक देश के अवमूल्यन की नीति उसी समय सफल हो सकती है जबकि उसे विदेशों से, जिनकी मुद्रा की मूल्य–वृद्धि हो गई है, पूर्ण सहयोग मिले अर्थात् बदले में अन्य देशों को भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं करना चाहिए ओर न ही देश में आयात कर लगाना चाहिए और न निर्यात के प्रोत्साहन देना चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति में अवमूल्यन करने वाले देश को कोई लाभ नहीं हो सकेगा। इसे स्पष्ट करते हुए प्रो. एल्सवर्थ कहते हैं कि "चूंकि अवमूल्यन, गम्भीर असन्तुलन को ठीक करने के लिए अपनाया जाता है इसमें यह मान्यता निहित है कि विनिमय दरों में परिवर्तन प्रायः नहीं होगे।"

यद्यपि अवमूल्यन में, परिवर्तनशील एवं स्थिर विनिमय दर, दोनों के लाभ निहित हैं, फिर भी यदि अन्य दशाएं अनुकूल नहीं होती तो अवमूल्यन का भी अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। चूंकि अवमूल्यन का अन्य देशों के व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है अतः इस बात की सम्भावना रहती है कि प्रतियोगी

रूप में अन्य देश भी अवमूल्यन करें अतः इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग एवं समझौता आवश्यक है।

(iv) विनिमय मूल्य–ह्रास (Exchange Depreciation)-घरेलू मुद्रा का बाहरी मूल्य बाजार शक्तियों (अर्थात् मांग एवं पूर्ति शक्तियों) द्वारा निर्धारित होता है। जब बिना किसी सरकारी हस्तक्षेप के देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य बाजार शक्तियों के परिवर्तन के कारण स्वतः ही कम हो जाता है तब इसे विनिमय मूल्य ह्रास कहते हैं। विनिमय मूल्य ह्रास का प्रभाव भी अवमूल्यन के समान होता है और इसकी सफलता भी उन्हीं बातों पर निर्भर करती है जो अवमूल्यन को सफल बनाने के लिए आवश्यक होती है।

विनिमय मूल्य–ह्रास एवं अवमूल्यन में अन्तर
(Distinction between Exchange Depreciation and Devaluation)

यहां विनिमय मूल्य–ह्रास एवं अवमूल्यन में अन्तर समझ लेना चाहिए क्योंकि दोनों का अर्थ एकसमान ही है। किन्तु इनमें मूख्य अन्तर यह है कि अवमूल्यन में मुद्रा के बाह्य मूल्य में कमी सरकारी निर्णय के अनुसार की जाती है जबकि मूल्य–ह्रास में बाह्य मूल्य में कमी बाजार की शक्तियों के फलस्वरूप अपने आप होती है। इन दोनों का प्रभाव एक समान ही होता है अर्थात् विदेशी मुद्रा में वस्तुओं को सस्ता कर निर्यातों को बढ़ाना एवं विदेशी वस्तुओं को महंगा बनाकर आयातों में कटौती करना और इस प्रकार भुगतान–शेष के घाटे को ठीक करना।

विनिमय मूल्य–ह्रास की सफलता भी इस बात पर निर्भर रहती है कि विदेशी आयातों के लिए देश की मांग लोचपूर्ण है एवं देश के निर्यातों के लिए विदेशी मांग भी लोचपूर्ण है अर्थात् मूल्य कम होने पर निर्यातों की मांग में वृद्धि होती है। साथ ही अवमूल्यन के समान मूल्य–ह्रास प्रभावशील बनाने के लिए विदेशी सहयोग भी आवश्यक है। जो देश अपनी विनियम दर को स्थिर रखना चाहते हैं उनके लिए मूल्य–ह्रास की नीति उपयुक्त नहीं है।

(B) गैर–मौद्रिक आय (Non-monetary Measures)

प्रतिकूल भुगतान–शेष को ठीक करने के लिए अमौद्रिक उपायों में निम्न का समावेश होता है–

(i) आयात अभ्यंश (Import quota)-आयातों को सीमित करने के लिए एक देश की सरकार आयात–अभ्यंश के माध्यम से आयात किए जाने वाले माल की मात्रा को निश्चित कर देती है अथवा आयात किए जाने वाले माल के मूल्य की अधिकतम सीमा भी निश्चित कर देती है जिससे अधिक आयात नहीं किया जा सकता। इसके लिए अवधि भी निश्चित कर दी जाती है। आयात कम हो जाने वाले विदेशी विनिमय की मात्रा कम हो जाती है और इस प्रकार प्रतिकूल व्यापार–शेष को ठीक किया जाता है।

(a) एकपक्षीय कोटा प्रणाली (Unilateral Quota System)-इसके अन्तर्गत विदेशों से आयात किए जाने वाले माल की कुल मात्रा या मूल्य निश्चित कर दिए जाते हैं और आयात करने वाले व्यापारियों को लाइसेंस दे दिएजाते है। जब व्यापरी निर्धारित कोटाका माल विश्व के किसी भी देश से आयात कर सकते हैं तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय कोटा कहते हैं किन्तु जब सरकार द्वारा यह निर्धारित कर दिया जाता है कि कौन–सा माल कितनी मात्रा में किस देश से आयात किया जाएगा तो इसे निर्धारित कोटा कहते हैं।

(b) द्विपक्षीय अभ्यंश प्रणाली (Bilateral Quota System)-इसके अन्तर्गत एक निश्चित मात्रा तक तो माल बिना आयात कर पर मंगाया जा सकता है किन्तु इस मात्रा से अधिक माल का आयात करने पर अतिरिक्त या अधिक आयात कर देना पड़ता है जिससे आयात किया जाने वाला माल महंगा हो जाता है अतः आयात हतोत्साहित होते हैं।

(i) आयातों को नियन्त्रित करने के लिए आयात की जाने वाली वस्तुओं पर ऊंची मात्रा में प्रशुल्क लगा दिया जाता है जिससे उनकी कीमतों में भारी वृद्धि हो जाती है फलस्वरूप आयात की वस्तुओं की मांग कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में यदि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि होती है तो प्रतिकूल भुगतान–शेष को ठीक किया जा सकता है। प्रारम्भ में बहुत–से देशों में प्रतिकूल भुगतान–शेष को ठीक करने के लिए आयात करों का सहारा लिया गया था।

आयात कर एवं अभ्यंश : तुलनात्मक विवेचन

प्रतिकूल भुगतान–शेष को ठीक करने के लिए आयात कर एवं अभ्यंश में से कौन–सा उपाय श्रेष्ठ है? यदि इस प्रश्न पर समग्र रूप से विचार किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रत्यक्ष विधि के रूप में अभ्यंश अधिक अच्छी प्रणाली है। कोटा प्रणाली का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि एक निश्चित मात्रा के बाद सीमान्त आयात प्रवृत्ति शून्य हो जाती है अतः आयात को नियन्त्रित करने में इसका निश्चित प्रभाव होता है। किन्तु आयात करों का भुगतान कर किसी भी सीमा तक वस्तुओं का आयात किया जा सकता है, अतः आयातों को नियन्त्रित करने में उसका निश्चित प्रभाव नहीं पड़ता।

यदि आयातों की मांग बेलोचादर है तो प्रशुल्क अर्थात् आयात कर आयातों को नियन्त्रित करने में कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं होता। इसके साथ ही प्रशुल्क में लोच का अभाव रहता है तथा इसे लागू करने के लिए कानूनी स्वीकृति आवश्यक होती है जबकि अभ्यंशों को बिना कानूनी स्वीकृति के परिवर्तित किया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि प्रशुल्क का कोई महत्व नहीं है। प्रशुल्क से यह लाभ तो स्पष्ट रूप से होता है कि जहां इससे सरकार को एक तो आय प्राप्त नहीं होती एवं दूसरे, इससे आयातकर्ताओं में एकाधिकार की प्रवृत्ति पनपती है क्योंकि कुछ लोग ही आयात कर सकते हैं। अभ्यंश के लिए लोगों को लाइसेंस देने में पक्षपात एवं भ्रष्टाचार को भी बढ़ावा मिलता है। यही कारण है कि आवश्यकतानुसार एक देश की सरकार साथ–ही–साथ कोटा प्रणाली और प्रशुल्क दोनों को अपनाती है।

(iii) निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रम–प्रतिकूल भुगतान–शेष में सुधार के लिए अन्य उपायों के साथ यह भी आवश्यक है कि देश में निर्यात संवर्धन के लिए प्रयास किए जाएं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निर्यात करों में रियायत दी जानी चाहिए, निर्यात करने वाले उद्योगों को आवश्यक कच्चा माल एवं आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। निर्यातकर्ताओं को नकद पुरस्कार देकर भी निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि वे विदेशों में लोकप्रिय हो सकें। आयात प्रतिस्थापित उद्योगों को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, ताकि आयातों के लिए विदेशों पर निर्भरता कम हो सके।

(iv) विदेशी पर्यटकों को प्रोत्साहन–यदि देश में पर्याप्त संख्या में विदेशी पर्यटक आते हैं तो देश को विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होती है और कुछ–न–कुछ सीमा तक प्रतिकूल भुगतान–शेष को ठीक करने में इससे सहायता मिलती है। अतः देश के कलात्मक एवं ऐतिहासिक स्थलों को विकसित किया जाना चाहिए ताकि विदेशी पर्यटकों के लिए वे आकर्षण का केन्द्र बनें।

मौद्रिक उपायों की तुलना में गैर–मौद्रिक उपायों को भुगतान–शेष का असन्तुलन ठीक करने के लिए, अधिक व्यावहारिक एवं उपयुक्त माना जाता है।

5.4 सारांश

जब कोई देश आर्थिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है तो वह कालान्तर में विदेशों में अपनी पूंजी के विनियोग तथा विदेशों को विभिन्न प्रकार की सेवायें प्रदान करके जो लाभ कमाता है, तब ऐसे देश का व्यापार शेष प्रतिकूल होते हुए भी भुगतान शेष अनुकूल हो सकता है। वास्तव में, भुगतानाशेष की प्रतिकूलता किसी देश की आर्थिक अवनीति की प्रतीक होती है। किसी देश का भुगतान सन्तुलन उसदेश की अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति का सूचक होता है। अविकसित एवं अर्द्ध विकसित राष्ट्रों के भुगतान सन्तुलनों के अध्ययन द्वारा हम यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं कि कोई देश अपने आन्तरिक आर्थिक विकास के हेतु किस सीमा तक विदेशी पूँजी पर निर्भर है। इसी प्रकार विकसित देशों के भुगतान शेषों के अध्ययन से हमें यह ज्ञान प्राप्त होती है कि किसी देश को विदेशी विनियोगों से कितनी आय प्राप्त है। अनुकूल भुगतान शेष इस बात को सूचित करती है कि अमुक देश की आर्थिक स्थिति अच्छी है, जबकि प्रतिकूल भुगतान शेष इस बात का सूचक है कि अमुक देश की आर्थिक स्थिति चिन्ताजनक है। भुगतान–सन्तुलन की असाम्यता के उपचार के लिए विभिन्न मौद्रिक तथा अमौद्रिक

उपाय अपनाते समय अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। मुद्रा–अवमूल्यन से देश के सम्मान को धक्का पहुँचता है और देनदारियाँ बढ़ जाती हैं, परन्तु इस बात की कोई गारण्टी नहीं होती कि इससे समस्या हल हो ही जायेगी। मुद्रा–संकुचन से देश की आन्तरिक अर्थ–व्यवस्था अस्तव्यस्त हो सकती है। व्यापार–नियन्त्रण अन्य देशों द्वारा प्रतिकार को जन्म दे सकता है। विनिमय–नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक होता है तथा अनेक समस्याओं को जन्म देता है। अतएव भुगतान–शेष के साम्य में सुधार कोई सरल कार्य नहीं होता। इसकी अनेक सीमाएं होती हैं। भुगतान–शेष की समस्या विशेष रूप से विकासशील देशों के लिए अत्यन्त जटिल एवं गम्भीर होती हैं, क्योंकि औद्योगिक विकास की आवश्कताओं को पूरा करने के लिए उन्हें काफी मात्रा में आयात करने पड़ते हैं, परन्तु उनका भुगतान करने के लिए उनकी निर्यात करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम होती है। स्पष्ट है कि भुगतान–शेष की असाम्यता के उपचार के लिए एक साथ अनेक उपाय अपनाने पड़ते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि उनसे वांछित परिणाम मिल ही जाये। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाओं के माध्यम से सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है।

5.5 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- भुगतान–सन्तुलन के प्रतिकूल होने के कारण बताइए।

प्रश्न 2- भुगतान–सन्तुलन के प्रकार को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न– 3 भुगतान–सन्तुलन में असाम्यावस्था क्यों उत्पन्न होती है? भुगतान–सन्तुलन की असाम्यावस्था को कैसे दूर किया जा सकता है?

प्रश्न– 4 भुगतान–सन्तुलन से आप क्या समझते हैं? भुगतान–सन्तुलन की प्रतिकूलता को कैसे ठीक किया जा सकता है?

5.6 शब्दावली

चिट्ठा	:	Balance-sheet
चालू खाता	:	Current Account
लेन–देन साम्य	:	Equivalance
पूंजी खाता	:	Capital Account
वाणिज्यिक उधार	:	Commercial Borrowing
मूल्य ह्रास	:	Depreciation
मुद्रा संकुचन	:	Deflation
अवमूल्यन	:	Devaluation
प्रशुल्क	:	Tariff
अभ्यंश	:	Quota
निर्यात प्रोत्साहन	:	Export Promotion

5.7 सन्दर्भ सूची

Meade	:	Balance of Payments
J.M. Keynes	:	A Treatise on Money, Vol. I Chap. 21 and ol. II, Chap. 37, 38
Viner	:	Studies in International Trade
K.K. Kurihara	:	Monetary Theory and Public Policy
Kindle berger	:	International Economics
श्रीधर पाण्डेय	:	अन्तरराष्ट्रीय अर्थशास्त्र
Kindleberger	:	International Economics
Meade	:	Balance of Payments
J.M. Keynes	:	A Tract on Monetary Reform
सुदामा सिंह एवं एमसी वैश्य:		अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र
एम एल झिंगन	:	अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

इकाई – 06
अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आर्थिक विकास में भूमिका

रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 विदेशी व्यापार का औचित्य : पक्ष–विपक्ष में तर्क
6.3 विदेशी व्यापार आर्थिक विकास को अवरुद्ध करता है
6.4 सारांश
6.5 बोध प्रश्न
6.6 शब्दावली
6.7 सन्दर्भ सूची

6.0 उद्देश्य

विभिन्न देशों के बीच व्यापार क्यों और कैसी दशाओं में होता है? अर्थात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार क्या है? किसी वस्तु का आयात इसलिए किया जा सकता है कि उस वस्तु को अथवा उसके घनिष्ट स्थानापन्न को पैदा करने के लिए आवश्यक विशिष्ट साधन का देश में अभाव है। इसी प्रकार किसी वस्तु का निर्यात इसलिए किया जाता है ताकि अधिक से अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त करके भुगतान–शेष में साम्य प्राप्त किया जा सके। इस इकाई के अध्ययनका प्रमुख उद्देश्य किसी देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जो लाभ–हानि होता है अर्थात उसके आर्थिक विकास में उसका क्या महत्व है? इस बात की जानकारी प्राप्त करना है।

6.1 प्रस्तावना

किसी देश के आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार के महत्व के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं। क्लासीकल तथा नव–क्लासीकल अर्थशास्त्री किसी देश के आर्थिक विकास के लिये विदेशी व्यापार को न केवल आवश्यक मानते थे बल्कि उन्होंने इसे 'विकास का इंजन' कहा है। आधुनिक अर्थशास्त्री प्रो. हैबर्लर तथा केयनक्रास में भी इसी मत का समर्थन किया है। हैबर्लर के शब्दों में 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में कम विकसित देशों के आर्थिक विकास में एक अमूल्य योगदान दिया है और उससे भविष्य में भी उतना ही बड़ा योगदान करने की आशा की जा सकती है। आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से सीमान्त, साधारण संशोधनों तथा विचलनों के साथ ठोस स्वतन्त्र व्यापार की नीति ही श्रेष्ठतम है।"

किन्तु इसके दूसरी ओर प्रो. राउल प्रैविश, प्रो. मिट तथा नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ. गुन्नार मिर्डल ने विदेशी व्यापार को विकास का एक अवरोधक तत्व माना है। उनके मतानुसार ऐतिहासिक दृष्टि से विदेशी व्यापार ने निर्धन देशों के आर्थिक विकास को अवरुद्ध किया है और अन्तर्राष्ट्रीय असमानतायें उत्पन्न की हैं जिससे अमीर देश और अधिक अमीर हो गए हैं जबकि दरिद्र देश और भी दरिद्र होते चले गए हैं। प्रो. मिर्डल के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने अल्प–विकसित देशों के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के बजाय उनमें दोहरी अर्थव्यवस्था (dualitiy) उत्पन्न करके उनके विकास में बाधायें उत्पन्न की हैं। ऐसा दो कारणों से होता है : प्रथम, इन देशों की परिस्थियाँ इस प्रकार की होती हैं कि विकास प्रक्रिया का 'अति–नियति प्रभाव' या 'प्रतिधावन प्रभाव' उसके 'प्रसरण प्रभाव' से अधिक शक्तिशाली होता है जिससे क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार की असमानतायें बढ़ती हैं। दूसरा, भुगतान–सन्तुलन की कम विकसित देशों के विपक्ष में जाने की एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति पायी जाती है। प्रो. मिट का कहना है कि "विदेशी व्यापार ने समस्त लाभ विकसित देशों को पहुंचाये हैं जबकि इसने कम–विकसित देशों को सिवाय नई वस्तुओं की मांग करने के कोई और शिक्षा नहीं दी।"

6.2 विदेशी व्यापार का औचित्य : पक्ष–विपक्ष में तर्क

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या विदेशी व्यापार किसी देश के आर्थिक विकास में सहायक है या बाधक है? हमारी राय में इस विवादास्पद प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि अल्प–विकसित देशों के संदर्भ में विदेशी व्यापार के आर्थिक विकास को बढ़ावा देने वाले तथा उसको अवरुद्ध करने वाले प्रभावों का तुलनात्मक विश्लेषण न कर लिया जाये।

विदेशी व्यापार आर्थिक विकास का इन्जन है

विदेशी व्यापार आर्थिक विकास की लालसा उत्पन्न करता है, ज्ञान तथा अनुभव प्रदान करता है जो विकास को सम्भव बनाते हैं और इसे पूरा करने के साधन प्रदान करता है। प्रो. हैबर्लर के अनुसार विदेशी व्यापार से दो प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं–(अ) प्रत्यक्ष लाभ तथा (ब) परोक्ष लाभ।

(अ) प्रत्यक्ष लाभ (Direct Benefits)

विदेशी व्यापार के प्रत्यक्ष लाभ इस प्रकार हैं–

(1) उत्पादन में वृद्धि–विदेशी व्यापार विशिष्टीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है और विशिष्टीकरण का प्रभाव उत्पादन लागतों को घटाने का होता है। लागतें घटने से निर्यात–व्यापार बढ़ता है→ जिससे लाभ में वृद्धि होती है→ फलतः राष्ट्रीय आय बढ़ती है→ और यह उत्पादन के स्तर को बढ़ाकर अर्थव्यवस्था की विकास–दर को तीव्र कर देती है। इस प्रकार विदेशी व्यापार को सहायता से निर्धनता के दुश्चक्र को तोड़ा जा सकता है जिससे आर्थिक विकास को बल मिलता है। प्रो. हिक्स के अनुसार "विदेशी व्यापार के लिये बड़े पैमाने पर उत्पादन करना आवश्यक होता है। इस प्रकार पूँजी गहन तकनीक से उत्पादन बढ़ाने के लाभ अनायास ही प्राप्त होने लगते हैं।"

(2) बाजार के आकार का विस्तार–बाजार का सीमित आकार अल्प–विकसित देशों के विकास की सबसे बड़ी बाधा है क्योंकि यह उत्पादन की पर्याप्त मात्रा को खपा नहीं पाता। फलस्वरूप इन देशों में निवेश की प्रेरणा कमजोर होती है। बाजार का आकार इसलिये भी छोटा होता है क्योंकि प्रति–व्यक्ति आय तथा क्रय शक्ति कम होती है। प्रो. मिल का कहना है कि "विदेशी व्यापार बाजार के आकार का विस्तार करके अर्थव्यवस्था पर प्रावैगिक प्रभाव डालता है। विदेशी व्यापार से बड़े पैमाने पर श्रम–विभाजन तथा मशीनों का प्रयोग सम्भव होता है जिसके फलस्वरूप देश की उत्पादन करने की क्षमता बढ़ जाती है।"

(3) उत्पादन के साधनों का कुशलतम् उपयोग–विदेशी व्यापार का सिद्धान्त तुलनात्मक लागतों के अनुसार विशिष्टीकरण की मान्यता पर आधारित है। इसके अन्तर्गत वर्तमान साधनों का विभाजन अधिक दक्ष होने लगता है। प्रो. जे. एस. मिल के अनुसार यह विदेशी व्यापार का एक सीधा लाभ है।

(4) उत्पादन की लागतों में कमी–चूंकि विदेशी व्यापार से बाजारों का विस्तार होता है जिससे अनेक प्रकार की आन्तरिक तथा बाहरी बचतें उत्पन्न होती हैं। फलस्वरूप उत्पादन की लागतें घट जाती हैं।

(5) निर्वाह–क्षेत्र का मौद्रिकृत क्षेत्र में रूपान्तरण–विदेशी व्यापार कृषि उपज के लिये विस्तृत बाजार उत्पन्न कराता है। इससे निर्वाह क्षेत्र मौद्रीकृत क्षेत्र में बदलने लगता है जिसके फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में आय तथा जीवन–स्तर ऊँचा हो जाता है।

(6) औद्योगीकरण को प्रोत्साहन–एक विकासशील देश को अपने औद्योगीकरण के लिये प्रायः तीन प्रकार के आयातों की आवश्यकता होती है जो केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ही सम्भव हो सकता हे। (अ) विकासात्मक आयात जैसे मशीनरी, उपकरण, पूँजी पदार्थ आदि; (ब) पारितोषक आयात जैसे

अन्तर्वती वस्तुयें व कच्चा माल; तथा (स) अव–स्फीतिकारी आयात। एक अल्प–विकसित देशी कच्चे माल के निर्यात के बदले में पूँजीगत वस्तुओं का आयात करके अपनी विकास परियोजनाओं को शीघ्रत पूरा कर सकता है। प्रो. हिक्स का भी कहना है कि "विदेशी व्यापार 'नीची–विकास–सम्भाव्य' (low growth potential) वाली घरेलू वस्तुओं के 'ऊँची–विकास शक्ल' वाली वस्तुओं के साथ बदले जाने के अवसर प्रदान करके आर्थिक प्रगति को तेज करता है।"

(7) आय और रोजगार में गुणक विस्तार–विदेशी व्यापार आय तथा रोजगार की मात्रा में गुणक रूप में वृद्धि करता है। 'विदेशी–व्यापार–गुणक' कीन्स के निवेश–गुणक पर आधारित एक आधुनिक विचार है। आयातों की अपेक्षा निर्यातों में होने वाली शुद्ध प्रारम्भिक वृद्धि और आय में हुई अन्तिम वृद्धि के बीच के अनुपात को विदेशी व्यापार गुणक कहते हैं। जब देश से वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तो उससे घरेलू उद्योगों को आय प्राप्त होती है जिससे उनमें लगे श्रमिकों की आय भी बढ़ जाती है। जब इस बढ़ी हुई आय को उपभोग–वस्तुओं पर खर्च किया जाता है तो उससे उपभोक्ता वस्तु–उद्योगों का विकास होता है और घरेलू आय कई गुना बढ़ जाती है। इस प्रकार विदेशी–व्यापार गुणक के अनुपात में निर्यातों द्वारा जनित रोजगार व आय में गुणित रूप में वृद्धि चली जाती है।

(8) अधिक पूंजी निर्माण–विदेशी व्यापार का प्रभाव साधनों के कुशल वितरण के रूप में वास्तविक आय और उसके फलस्वरूप बचत–क्षमता को बढ़ाने का होता है। बचत करने की क्षमता के अलावा विदेशी व्यापार निवेश प्रेरणा को भी बढ़ता है जिससे पूंजी निर्माण की सम्भावना बढ़ जाती है। निवेश की प्रेरणा बाजारों के विस्तार और उसके फलस्वरूप बड़े पैमाने की बचतों के कारण और भी अधिक बढ़ती है। इस प्रकार विदेशी व्यापार अल्प–विकसित देशों में पूंजी–निर्माण की सम्भावना को बढ़ाकर आर्थिक विकास में सहायक होता है।

(9) विदेशी पूँजी के आयात को बढ़ावा–प्रो. हैबर्लर के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विदेशी पूंजी को धनी देशों से निर्धन देशों में गतिशील करने का एक सशक्त माध्यम है।" एक अल्प–विकसित देश कितनी मात्रा में विदेशी पूँजी प्राप्त कर सकता है यह काफी हद तक उसके विदेशी व्यापार की मात्रा पर निर्भर होता है। व्यापार की मात्रा जितनी अधिक होती है उतनी ही आसानी से वह देश ब्याज तथा मूलधन का भुगतान चुकता कर सकता है। हाँ! आयात–स्थानापन्न उद्योगों व निर्माणी उद्योगों के लिये अधिक हुआ करता है।

(10) शिक्षाप्रद प्रभाव–सीमित चिन्तन तथा सीमित–सम्पर्क सीमित विकास का प्रतीक है। इस अर्थ में विदेशी व्यापार का शिक्षाप्रद प्रभाव यह है कि इससे अलप–विकसित देशों के निवासी विकसित देशों के सम्पर्क में आते हैं जिससे उनके विचारों, कुशलताओं, आकांक्षाओं तथा तकनीकी ज्ञान में वृद्धि होती है जोकि आर्थिक विकास के लिये नितान्त आवश्यक है। प्रो. हैबर्लर का कहना है कि "विदेशी व्यापार तकनीकी ज्ञान के प्रसार, विचारों के संचार, ज्ञान, दक्षताओं, प्रबन्धकीय क्षमताओं तथा उद्यमशीलता के आयातों के लिये परिवहन अर्थात् पहियों का काम करता है। यह अल्प–विकसित देशों को उन्नत देशों की सफलताओं का अनुकरण करने और असफलताओं से शिक्षा लेने का अवसर प्रदान करता है।" प्रो. मिल के अनुसार "यह सम्भव है कि किसी देश के निवासी निश्चल, अकर्मठ, असभ्य, पूर्ण सन्तुष्ट या अविकसित हों और वे अपने लक्ष्य के प्रति न केवल उदासीन हों बल्कि अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग भी न कर पाते हों। विदेशी व्यापार का प्रारम्भ निश्चय ही बाधाओं तथा विकृतियों की दूर करता है और औद्योगिक क्रान्ति का कारण बन जाता है। इस प्रकार विदेशी सम्पर्क सदैव से ही प्रगति के प्राथमिक स्रोतों में से एक प्रमुख स्रोत रहा है।"

(11) अकुशल एकाधिकारों पर रोक–अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त एक प्रकार से खुली प्रतियोगिता या 'सत्ता शक्तिशाली के हाथ में' की धारणा पर आधारित है। इस दृष्टि से विदेशी व्यापार स्वस्थ प्रतियोगिता का पोषण करता है और 'शिशु उद्योग संरक्षण' का सहारा लेकर पनपने वाले अकुशल एकाधिकारों तथा इकाइयों पर रोक लगाता है। एक अर्थव्यवस्था जितनी अधिक प्रतिस्पर्धात्मक होती है वह उतनी ही अधिक कुशल भी होती है इस दृष्टि से भी विदेशी व्यापार का अपनी विशेष महत्व है।

6.3 व्यापार आर्थिक विकास को अवरुद्ध करता है

आधुनिक अर्थशास्त्रियों जैसे प्रो. सिंगर, रॉउल प्रैविश तथा गुन्नार मिर्डल के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने अल्प–विकसित देशों के आर्थिक विकास में बाधायें उत्पन्न की हैं और स्वतन्त्र व्यापार के संस्थापित सिद्धान्त ने अन्तर्राष्ट्रीय असमानताओं को बढत्रावा दिया है। प्रो. मिर्डल के मतानुसार "दो देशों के बीच जिनमें से एक औद्योगिक और दूसरा अल्प–विकसित हो, स्वतन्त्र व्यापार का स्वाभावित परिणाम यह होता है कि उपरोक्त की दरिद्रता तथा गतिहीनता की संचयी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।" संक्षेप में, विदेशी व्यापार आर्थिक विकास में निम्न रूप से बाधक रहा है–

1. पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता का प्रतिकूल प्रभाव–धनी देशों से निर्धन देशों में गतिशील होने वाली पूंजी ने इन पिछड़े देशों का एकपक्षीय विकास किया है। विदेशी पूँजी के आयात से केवल निर्यान प्रधान क्षेत्र (प्राकृतिक साधनों) का तो विकास किया गया है जबकि घरेलू क्षेत्र उपेक्षित बना रहा है। इस प्रकार निर्यात क्षेत्र विकास के समुद्र में एक ऐसे टापू के समान है जो चारों ओर से पिछड़े हुए क्षेत्रों से घिरा हुआ है। फिर निर्यात–क्षेत्र प्राथमिक रूप से पूंजी–गहन क्षेत्र है, जो रोजगार के पर्याप्त अवसर पैदा नहीं कर सका। इसके विपरीत घरेलू क्षेत्र श्रम गहन क्षेत्र होते हुए भी रोजगार के अवसर उत्पन्न करने में इसलिये असफल रहा है क्योंकि उसमें पूंजी का निवेश बहुत कम हो सका है।

आलोचना–हमारी दृष्टि में यह आरोप निराधार है कि विदेशी निवेश घरेलू क्षेत्र के मार्ग में बाधक रहा है। इस बात का कोई ऐतिहासिक तथा अनुभव जन्य प्रमाण भी नहीं मिलता है। और फिर मुख्य बात तो यह है कि अल्प विकसित देशों के निर्यात क्षेत्र में, विदेशी निवेश के प्रेरित होने का मुख्य कारण घरेलू बाजार का छोटा आकार और सहयोगी साधनों का अभाव होना रहा है, न कि विदेश निवेशकर्ताओं की शोषण–प्रवृत्ति। प्रो. नर्क्से का इस सम्बन्ध में कहना है कि "बिल्कुल भी विकास ने होने की बजाय तो विदेशी व्यापार की सहायता से होने वाला आंशिक तथा अस्थिर विकास निश्चय ही अच्छा है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनकारी प्रभाव का प्रतिकूल प्रभाव–विदेशी व्यापार के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनकारी प्रभाव ने अल्प विकसित देशों के विकास में बाधा पहुंचायी है। विकसित देशों के रहन–सहन और उपभोग के तौर–तरीकों की नकल करने की प्रवृत्ति से अल्प–विकसित देशों में उपभोग की प्रवत्ति बढ़ी है जिससे घरेलू बचतों में कमी आई है और फलस्वरूप इनकी पूँजी निर्माण की क्षमता घट गयी है। प्रदर्शनकारी प्रभाव का एक गम्भीर परिणाम अनावश्यक उपभोग के स्तर को बढ़ाकर स्फीतिकारी दबाव तथा प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन की स्थिति को उत्पन्न करके निर्धनता के दुश्चक्र को स्थायी बनाना है।

आलोचना–यह आरोप भी अधिक सही नहीं है। हमारी दृष्टि में प्रदर्शनकारी प्रभाव "धनात्मक विकास–प्रभाव" रखता है और उच्च जीवन–स्तरों और श्रेष्ठ उपभोक्ता वस्तुओं का अनुकरण, कम विकसित देशों के निवासियों को उत्पादकता बढ़ाने तथा सवंर्द्धित प्रयास करने के लिये अधिक प्रेरित करता है। इससे लोगों में प्रयत्न, प्रयास व आगे बढ़ने की लालसा पैदा होती है, श्रेष्ठ वस्तुओं की पूर्ति के लिये सेवा–व्यवसायों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है, द्वितीयक क्षेत्र का विकास होता है, स्थानीय उपक्रम तथा उद्यम को बढ़ावा मिलता है, सरकारी नीतियों में बदलाव आता है और तकनीकी अनुकरण से पूंजी संचय की दर बढ़ने लग जाती है।

3. व्यापार की शर्तों की निरन्तर प्रतिकूलता–अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक अन्य दुष्प्रभाव निर्धन देशों के लिये व्यापार की शर्तों की निरन्तर प्रतिकूलता है जिसका प्रभाव निर्धन देशों से धनी देशों को आय का हस्तान्तरण करने का होता है। विदेशी व्यापार ने धनी देशों को दरिद्र देशों की लागत पर ही विकसित होने का अवसर दिया है जिससे इन देशों की वास्तविक आय तथा विकास क्षमता घट गयी है। रॉल प्रैविश के मतानुसार "पिछले 70 वर्षों में अल्प–विकसित देशों को अपनी आयात–क्षमता में निरन्तर दुर्बल होते जाने के घातक प्रभाव सहन करने पड़े हैं। विदेशी व्यापार ने व्यापार–शर्तों का ह्रास, बेरोजगारी, प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन, धीमा पूँजी निर्माण और इस प्रकार आर्थिक विकास को सीमित कर दिया है।"

आलोचना–पहली बात तो यह है कि व्यापार की शर्तों की निरन्तर प्रतिकूलता का तर्क पुराने तथा अपर्याप्त आँकड़ों पर आधारित है जिनका सम्बन्ध 1870 से 1930 के बीच इंगलैण्ड में तैयार किये गये वार्षिक सूचकांक से है। ब्रिटिश सूचकांक अथवा उससे निकाले गये निष्कर्षों को अन्य औद्योगिक देशों का सही प्रतिनिधित्व करने वाला नहीं माना जा सकता है। दूसरा, अल्प–विकसित देशों के व्यापार का स्वरूप पिछले कुछ वर्षों से काफी बदल चुका है और अब वे केवल प्राथमिक वस्तुओं के निर्यातक और निर्मित वस्तुओं के आयातक ही नहीं रह गये हैं। GATT के अनुसार ये देश निर्मित वस्तुओं के अपने कुल उपभोग का केवल एक तिहाई भाग आयात करते हैं और वह भी अधिकांशतः पूंजी–वस्तुओं, कच्चे माल तथा सामग्री का। शेष दो–तिहाई भाग का उत्पादन वह स्वयं करते हैं। तीसरा, निर्मित उपभोक्ता–वस्तुयें इन देशों के कुल आयातों का मुशकिल से 10% होती है। चौथा, इन देशों स`अब निर्मित वस्तुओं का निर्यात भी बढ़ने लग गया है। क्रेयरनक्रास के अनुसार "पिछली एक शताब्दी में निर्मित वस्तुओं के विश्व व्यापार में पिछड़े देशों का हिस्सा 43% से बढ़कर 64% हो गया है।

6.4 सारांश

अतः यह सोचना गलत है कि विदेशी व्यापार ने अन्तर्राष्ट्रीय असमानता को जन्म दिया है और पिछड़े देशों के विकास को अवरुद्ध किया है। सच तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने आर्थिक विकास के इन्जन, प्रगति के प्रेरणा स्रोत और औद्योगिकरण के सशक्त यन्त्र के रूप में कार्य किया है। विदेशी व्यापार ने विश्व धरातल पर विशिष्टीकरण के नये अवसर पैदा किये हैं जिनका लाभ प्रमुख रूप से प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाली अर्थव्यवस्थाओं ने उठाया है। विदेशी व्यापार ने अशोषित प्राकृतिक प्राकृतिक साधनों के विदोहन को सम्भव बनाया है, बाजारों का विस्तार किया है और सुप्त आकांक्षाओं को जगाकर विकास–प्रेरित बनाया है।

6.5 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- "विदेशी व्यापार आर्थिक विकास का इंजन है।" इस कथन का विकासशील देशों के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में विवेचन कीजिए।

प्रश्न 2- विकासशील देशों के सन्दर्भ में विदेशी और विकास में निहित सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 3- अंतर्राष्ट्रीय व्यापार होने वाले लाभों की व्याख्या करें।

6.6 शब्दावली

आर्थिक विकास का इंजन	:	Engine of Growth
दोहरी अर्थव्यवस्था	:	Duality
प्रतिधावन प्रभाव	:	Backwash Effect
प्रसरण प्रभाव	:	Spread Effect
सापेक्षिक लोच	:	Relative Elasticities
नतोदर	:	Concave

6.7 संदर्भ सूची

F. W. Taussig	:	Principles of Economics.
Enke and Salera	:	International Economics.
A. K. Cairncross	:	Factors in Economic Development.
A. J. Brown	:	Introduction ot World Economics.
Tinbergen	:	International Economic Cooperation.

खण्ड 4
अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थाये

इकाई 1
अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली

रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 अंतर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व
1.3 अंतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या
1.4 विशेष आहरण अधिकार (SDR)
1.5 SDR की विशेषताएं
1.6 अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार तथा 'बीस की समिति'
1.7 1976 की नई अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली
1.8 नई मौद्रिक प्रणाली का मूल्यांकन
1.9 अंतर्राष्ट्रीय तरलता के क्षेत्र में एक नया प्रयोग : यूरो करेन्सी
1.10 सारांश
1.11 बोध प्रश्न
1.12 शब्दावली
1.13 सन्दर्भ सूची

1.0 उद्देश्य

वर्तमान विश्व मुद्रा प्रणाली वास्तव में एक औपचारिक व्यवस्था है। जिसमें विभिन्न देशों की राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थायें, अंतर्राष्ट्रीय संस्थायें तथा प्रथायें और सुविधाएं सम्मिलित हैं। यह विभिन्न राष्ट्रों के मौद्रिक सहयोग और अनुशासन का प्रतीक है। प्रत्येक देश की एक राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली होती है जिसमें मुद्रा इकाई, ढलाई व्यवस्था, करेंसी, व्यापारकि बैंक और केन्द्रीय बैंक सम्मिलित होते हैं। विश्व मौद्रिक प्रणाली विभिन्न राष्ट्रीय मुद्रा प्रणालियों का मिश्रण है। ऐसे में इस इकाई के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली को समझना है।

अंतर्राष्ट्रीय तरलता
(International Liquidity)

1.1 प्रस्तावना

अंतर्राष्ट्रीय तरलता का सम्बन्ध अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों से है। इन अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के असन्तुलनों को दूर करने के लिए जो स्वीकृत सरकारी साधन होते हैं, उनका आशय ही अन्तर्राष्ट्रीय तरलता से होता है।

मेचलप के अनुसार, "तरलता का अर्थ भुगतान–क्षमता की तत्परता से है।
अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वे सब साधन निहित होते हैं जो देशों के मौद्रिक अधिकारियों के पास भुगतान–शेष के घाटे की पूर्ति करने हेतु उपलब्ध होते हैं।"

इस प्रकार सरल शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अर्थ यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भुगतान करने के लिए कितने साधन उपलब्ध हैं। आधुनिक सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में तीन प्रमुख साधन समिमलित हैं–

1. स्वर्ण,
2. आधारभूत मुद्राएं (विशेषकर डालर एवं पौण्ड स्टर्लिंग),

3. आधारभूत मुद्रा कोष अथवा द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय समझौतों के माध्यम से प्राप्त साख।

1.2 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व (Significance of International Liquidity)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बढ़ने के साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व बढ़ता चला गया है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का अभाव है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा उपस्थित होती है। 1932 से ही तरलता का अभाव रहा है, क्योंकि प्रथम विश्व–युद्ध के बाद स्वर्ण का संकट उपस्थित हुआ। अधिकांश स्वर्ण अमेरिका के पास जमा हो गया जिससे अन्य देशों को विदेशी भुगतान में का फल कठिनाई हुई। फिर अमेरिका का व्यापार–सन्तुलन सदैव उसके पक्ष में रहने के कारण डालर की स्थिति मजबूत हो गई एवं उसकी स्थिति मूल मुद्रा की हो गई, किन्तु 1958 के बाद इस स्थिति में परिवर्तन हुआ।
वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय समय में अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व निम्न कारणों से बढ़ा है–

1. विदेशी व्यापार में वृद्धि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की मांग में वृद्धि हुई है। विश्व स्तर पर बढ़ते विदेशी व्यापार ने विदेशों को किये जाने वाले भुगतान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को जन्म दिया।

2. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का महत्व इस कारण भी बढ़ गया है, क्योंकि डॉलर की सहायता बहुत सीमित हो गई है। यह स्थिति डॉलर संकट के कारण पैदा हुई। फलस्वरूप तरलता के वैकल्पिक स्रोतों का महत्व बढ़ गया।

तरलता की स्थिति इसलिए भी गंभीर हो गई क्योकि विश्व बाजार में तरलता के अनुरूप सन्तुलित विकास नहीं हुआ।

1.3 अंतर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या

अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या के दो पहलू हैं–एक, परिमाणात्मक और दूसरा, गुणात्मक। परिमाणात्मक पहलू का सम्बन्ध तरलता की पर्याप्तता से है जबकि गुणात्मक पहलू का सम्बन्ध तरलता के लिए आवश्यक रिजर्व की प्रकृति और उसकी संरचना से है। जहां तक तरलता की पर्याप्तता का प्रश्न है वर्तमान समय में विश्व के बढ़ते हुए आयातों को देखते हुए उसे पर्याप्त नहीं कहाजा सकता है। स्वर्ण रिजर्व की तुलना में व्यापार में कई गुना वृद्धि हुई है जिसके कारण तरलता का अन्तर पैदा हो गया है जिसे दूर करना आवश्यक है।

जहां तक तरलता के गुणात्मक पहलू का प्रश्न है, इसका सम्बन्ध रिजर्व के रूप में डालर और स्टर्लिंग पौण्ड के प्रयोग से है क्योंकि ये दोनों आधार मुद्राएं रही हैं यद्यपि अब यह स्थिति जापान की मुद्रा येन जर्मनी की मुद्रा मार्क एवं यूरोपीय समुदाय की एकीकृत मुद्रा 'यूरो' को भी प्राप्त हो गई है। जहां तक तरलता के लिए स्वर्ण में वृद्धि का प्रश्न है, इसमें अधिक वृद्धि सम्भव नहीं है। यदि हम तरलता की समस्या हल करना चाहते हैं तो इसके लिए आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्तीय व्यवस्था के वर्तमान ढांचे में परिवर्तन होना चाहिए एवं आधार मुद्राओं का वितरण समान होना चाहिए एवं व्यापार की दिशा में वांछनीय परिवर्तन होना चाहिए एवं आधार मुद्राओं का वितरण समान होना चाहिए एवं व्यापार की दिशा में वांछनीय परिवर्तन होना चाहिए।

1.4 विशेष आहरण अधिकार (Special Drawing Rights – SDR)

मुद्रा कोष के 10 महत्वपूर्ण सदस्यों ने 1967 में एक नई मौद्रिक योजना प्रस्तुत की जिसे विशेष आहरण अधिकार (SDR) नाम दिया गया एवं दिसम्बर 1971 से इसे लागू किया गया। इसे कागजी स्वर्ण का नाम भी दिया गया। दिसम्बर 1971 से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समस्त लेन–देन विशेष आहरण अधिकार के रूप में व्यक्त किये जाते हैं। विशेष आहरण अधिकार नाम की इस नई मौद्रिक योजना के अन्तर्गत मुद्रा कोष को एक निश्चित आधार पर सदस्य देशों को SDR प्राप्त करने के लिए अधिकृत किया गया। जिस सदस्य देश को SDR का अधिकार दिया जाता है, वह अन्य सदस्य देश से निश्चित मुद्रा प्राप्त कर सकता है। इसका आवण्टन, कोष और सदस्य देशों के संयुक्त निर्णय के

अनुसार किया जाता है। SDR के सृजन के पीछे मूल भावना यह थी कि मुद्रा कोष के सदस्यों को अधिक साधन उपलबध हो सकें ताकि वे कोष के साधनों पर दबाव डाले बिना अपनी विदेशी विनिमय की कठिनाई को दूर कर सकें और अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का समाधान हो सके। इस प्रकार SDR अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की विद्यमान रिजर्व परिसम्पत्ति के पूरक के रूप में है। भुगतान–सन्तुलन के दावों का निपटारा करने के लिए SDR एक अद्‌भुत साधन है जो न तो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा है और न स्वीकृत अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय साख–सुविधा।

SDR अन्तर्राष्ट्रीय लेखे और भुगतान की इकाई है अतः यह विनिमय का अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम और मूल्य के संचय का प्रतीक बन गया है। अपनी विशेषताओं के कारण SDR विकासशील देशों के लिए एक आदर्श सहायता है।

1.5 SDR की विशेषताएं

विशेष आहरण अधिकार की विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. जिस प्रकार देश के केन्द्रीय बैंक तरलता की पूर्ति के लिए साख का सृजन करते हैं, उसी प्रकार SDR अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर साख का सृजन है।

2. SDR एक ऐसी रिजर्व परिसम्पत्ति हे जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य देश, विदेशी भुगतानों के लिए अन्य सदस्य देशों से, परिवर्तनशील मुद्राएं प्राप्त कर सकता है।

3. SDR का लेख मुद्रा कोष के विशेष आहरण लेखे में रखा जाता है। सदस्य देश को आवंटित SDR की राशि विशेष आहरण खाते में जमा कर दी जाती है जो मुद्रा कोष के सामान्य खते से अलग रहता है।

4. SDR की वही भूमिका है जो तरलता की वृद्धि के लिए स्वर्ण की होती थी। अतः इसे कागजी स्वर्ण की संज्ञा दी गई। पहले SDR का मूल्य स्वर्ण में परिभाषित किया गया, किन्तु अप्रैल 1978 से SDR के मूल्य की इकाई के रूप में स्वर्ण का महत्व समाप्त हो गया है।

5. SDR की योजना प्रत्याशित रिजर्व पर आधारित है क्योंकि इसके पीछे न तो कोई धरोहर रखी जाती है और न ये स्वर्ण में परिवर्तनशील होते हैं।

6. SDR के लेन–देन की व्यवस्था सम्बन्धित देशों के केन्द्रीय बैंक करते हैं। प्रत्येक देश को अपने SDR के 70 प्रतिशत तक मूल्य की विदेशी मुद्रा का 5 वर्ष तक बिना भुगतान के दायित्व के उपयोग करने का अधिकार है। यदि सदस्य देश इससे अधिक आहरण सहायता प्राप्त करता है तो उसे इसका भुगतान करना पड़ता है।

7. SDR में विश्वास बनाए रखने के लिए कुछ कानूनी सीमाओं का पालन आवश्यक है, जैसे इसे लागू करने तथा अतिरिक्त SDR का सृजन करने के लिए मुद्रा कोष के कुल मतों 85 प्रतिशत इसके पक्ष में होना आवश्यक है।

8. जो देश SDR का प्रयोग करेगा, उसकी रिजर्व की मात्रा में कमी होगी तथा जो देश SDR के बदले विदेशी विनिमय प्रदान करेंगे उनके SDR के संग्रह में वृद्धि होगी, अतः ऐसे देशों को SDR की मात्रा पर साधारण ब्याज देने का प्रावधान है जो वर्तमान में 1.5% है।

1.6 अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार तथा 'बीस की समिति' (International Monetary Reform And The Committee of Twenty)

समता दरो पर आधारित ब्रेटनवुड्‌स प्रणाली का समाप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार सुधार की आवश्यकता थी। अतः ऐसे सुधार के लिए उपयुक्त सुझाव देने हेतु 1972 में संचालक मण्डल की एक अस्थाई समिति नियुक्त की गई। समिति ने सितम्बर 1973 में सुधारों की पहली रूपरेखा प्रस्तुत की। किन्तु इसके बदले की कीमतों में वृद्धि से उपर्युक्त सुधारों पर काफी प्रभाव पड़ा। स्वर्ण का मूल्य बढ़कर 42.22 डालर प्रति औंस हो गया। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए 'बीस की समिति' ने जून 1974 में अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके सुझाव के अनुसार निम्न कार्यवाही की गई।

1. संचालक मण्डल को सलाह देने हेतु एक अन्तरिम समिति की स्थापना की गई।

2. तैरती हुई विनिमय दरों को स्थाई, किन्तु समायोजन योग्य बनाए रखने के लिए, कार्यकारी मण्डल ने निर्धारक नियम बनाए।

3. 1 जुलाई, 1974 में SDR का मूल्य निर्धारण मुद्राओं की पिटारी द्वारा किया जाने लगा अर्थात् इस योजना के अनुसार SDR की एक इकाई 16 मुद्राओं की निश्चित मात्रा के येाग के बराबर तय की गई, किन्तु 1981 में उसका मूल्य केवल पांच मुद्राओं की निश्चित मात्राओं में निर्धारित कर दिया गया।

4. जो देश अन्य देशों की मुद्रा क्रय करने के लिए SDR का प्रयोग करते हैं उन्हें पूर्व के 15 प्रतिशत के बदले 5 प्रतिशत ब्याज देना पड़ेगा।

5. SDR_s को विकास सहायता से सम्बद्ध करने के लिए समिति ने मुद्रा–कोष और विश्व बैंक की एक संयुक्त समिति 'विकास समिति' की स्थापना का सुझाव दिया, अतः 1974 की मुद्रा–कोष और विश्व बैंक की वार्षिक बैठक में विकास समिति की स्थापना की गई।

6. 13 जून, 1974 को मुद्रा–कोष के कार्यकारी मण्डल ने एक तेल सुविधा कोष स्थापित करने का निर्णयलिया ताकि तेल कीमतों में वृद्धि से प्रभावित देशों को आर्थिक सहायता दी जा सके। इस कोष में सात तेल उत्पादक देशों (आवुधाबी, ईरान, कुवैत, लीबिया, ओमान, सऊदी अरब और वेनेजुएला) तथा कनाडा ने 3 बिलियन SDR का योगदान दिया।

7. 2 अक्टूबर, 1974 को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार के लिए अस्थाई समिति के स्थान पर एक अन्तरिम समिति की नियुक्ति की गई जिसका कार्य विश्व–तरलता तथा विकासशील देशों के साधनों को प्रभावशाली बनाने के सम्बन्ध में मुद्रा–कोष को सलाह देना था।

8. 4 सितम्बर, 1975 को मुद्रा–कोष ने नई मध्य अवधि ऋण देने की सुविधा की घोषणा की जिसमें सदस्य देशों को भुगतान–शेष की कठिनाई की विशेष परिस्थितियों में ऋण की सुविधा को एक वर्ष बढ़ाकर तीन वर्ष कर दिया गया।

1.7 1976 की नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली (New International Monetary System – 1976)

बीस की समिति (C 20) ने जून 1974 को अपनी छठवीं एवं अन्तिम बैठक वाशिंगटन में आयोजित की तथा अपनी रिपोर्ट 'An Outline of Monetary Reform' प्रकाशित की। इस रिपोर्ट की जांच मुद्रा–कोष के प्रकाशक मण्डल की अन्तरिम समिति ने अपनी बैठक जो जनवरी 1976 में किंगस्टन (जमैका) में आयोजित की गई, में की तथा मुद्रा–कोष के नियमों में नए परिवर्तनों की घोषणा की। किंगस्टन सम्मेलन के परिणामस्वरूप विश्व स्तर पर एक नई अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली का जन्म हुआ जिसकी प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. अन्तरिम समिति ने यह विश्वास व्यक्त किया कि SDR_s को मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

2. समिति की सिफारिशों के अनुसार स्वर्ण का अधिकृत मूल्य (1 औंस स्वर्ण = SDR_s 35 = U.S. डालर 42.22) समाप्त कर दिया।

3. मुद्रा–कोष का 1/6 भाग स्वर्ण (25 मि. औंस) बाजार मूल्य पर बेच दिया गया तथा इस विक्रय से जो लाभ प्राप्त हुआ उसका प्रयोग ट्रस्ट कोष बनाने के लिए किया गया ताकि इससे उन विकासशील देशों की सहायता की जा सके जो भुगतान–शेष के घाटे के शिकार हैं।

4. अन्य 1/6 स्वर्ण का अंश सदस्य देशों को लौटा दिया गया।

5. शेष स्वर्ण का क्या प्रयोग किया जाएगा, इसका निर्धारण सदस्य देशों के 85 प्रतिशत बहुमत से किया जाएगा।

6. SDR_s को मुख्य रिजर्व के रूप में स्वीकार किया गया है तथा सदस्य देशों की मुद्राओं का समता मूल्य SDR में व्यक्त किया जाएगा। अभी यह मूल्य 5 देशों की मुद्राओं के समूह द्वारा व्यक्त किया जा रहा है।

7. सदस्य देशों के अभ्यंश में 32.5 प्रतिशत वृद्धि कर, कुल अभ्यंश की राशि 39 बिलियन SDR हो गई। 1981 में इसे बढ़ाकर 60 बिलियन SDR तथा 30 जून, 1992 को सदस्य देशों के अभ्यंश की कुल राशि 91.2 बिलियन डालर थी। अभ्यंश की समीक्षा जो 5 वर्षों में की जाती थी, 3 वर्षों में की जाएगी। समिति इस पर सहमत थी कि तेल उत्पादक देशों का अभ्यंश दूना किया जाना चाहिए तथा विकासशील देशों के वर्तमान अभ्यंश में कमी नहीं होनी चाहिए।

8. समिति ने यह भी निर्णय लिया कि अब सदस्यों को स्वर्ण में अभ्यंश जमा नहीं करना पड़ेगा।

9. समिति ने निर्णय लिया कि मुद्रा–कोष का अभ्यंश बढ़ाने का उद्देश्य कोष की तरलता में वृद्धि करना है अतः सभी सदस्यों का यह दायित्व है कि वे ऐसी व्यवस्था करें ताकि उनकी मुद्राएं कोष के लेन–देन में प्रयुक्त की जाने योग्य बनी रहें इस सम्बन्ध में मुद्रा–कोष ने स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करने योग्य मुद्रा की धारणा विकसित की है जिसकी दो विशेषताएं इस प्रकार हैं–प्रथम, ऐसी मुद्रा जिसका बड़े–बड़े विनिमय बाजारों में विस्तृत लेन–देन किया जाता है। यह लक्षण कुछ ही मुद्राओं में मिल सकता है, किन्तु सब देशों का यह दायित्व होगा कि वे अपनी मुद्रा को प्रयोग–योग्य बनाने के लिए अपनी मुद्राओं का विनिमय करें।

उपर्युक्त प्रणाली के अन्तर्गत जो सुझाव अन्तरिम समिति ने दिए थे, उन्हें संचालक मण्डल ने अपनी स्वीकृति दे दी तथा उन्हें फिर सदस्य देशों की स्वीकृति के लिए भेज दिया गया जिस पर 97 देशों ने अपनी स्वीकृति दे दी। अप्रैल 1977 में संचालक मण्डल द्वारा विनिमय दरों पर निगरानी का मसौदा स्वीकृत किया गया। अभ्यंशों की सातवीं सामान्य समीक्षा के अन्तर्गत सदस्य देशों द्वारा कोटे में वृद्धि का निर्णय मार्च 1978 में स्वीकार किया गया।

1.8 नई मौद्रिक प्रणाली : एक मूल्यांकन

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 1976 की नई मौद्रिक प्रणाली में दूरगामी संशोधन किए गए हैं। विनिमय की एक नई प्रणाली शुरू की गई जिसमें परिवर्तनशील विनिमय दरों को स्वीकार कर लिया गया एवं स्वर्ण को समाप्त कर SDR को मुख्य रिजर्व के रूप में मान लिया गया है। इसकी आलोचनाएं निम्न प्रकार हैं–

1. उक्त संशोधन में नई और प्रभावशाली मौद्रिक प्रणाली के लिए सभी के लिए सभी आवश्यक पहलुओं पर विचार नहीं किया गया है। SDR_s का प्रयोग सभी वित्तीय और व्यापारिक लेन–देन के लिए किया जाना चाहिए तथा SDR का आवण्टन देश की आवश्यकतानुसार अधिक विवेकपूर्ण ढंग से होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि SDR_s को विकासशील देशों की विकास सहायता से सम्बन्धित किया जाना चाहिए।

2. 1976 की मौद्रिक नीति में इसके सम्बन्ध में भी कोई निर्णय नहीं किया गया कि नई मौद्रिक व्यवस्था में विनिमय स्थिरता कैसे प्राप्त की जायगी तथा इस सम्बन्ध में देशों की घरेलु मौद्रिक नीति की क्या भूमिका है। मुद्रा–कोष ने जो "स्वतन्त्र प्रयोग करने योग्य मुद्रा" की धारणा प्रस्तुत की है, इससे इस बात की सम्भावना है कि डालरका प्रभुत्व फिर से बढ़ जाए।

3. आलोचकों का मत है कि वर्तमान मौद्रिक प्रणाली में ब्रेटनवुड्स प्रणाली के समान समरूप और समन्वित नियम नहीं हैं। वर्तमान प्रणाली का भवन, पुरानी प्रणाली को धराशायी कर, निर्मित किया गया है।

4. जहां तक तरलता का प्रश्न है SDR_s से यह अभी हल नहीं हुआ है जबकि किसी भी मौद्रिक प्रणाली के लिए यह आवश्यक है कि यह तरलता की समस्या को हल करे।

5. वर्तमान मौद्रिक प्रणाली से विकासशील देशों को यह बात स्पष्ट हो गई है कि उनकी आर्थिक नीति में विनिमय दर की महत्वपूर्ण भूकमका है, किन्तु जहां तक भुगतान शेष का प्रश्न है, विनिमय दरों में अस्थिरता के कारण इनमें अनिश्चितता बनी रहती है। इस जोखिम को दूर करने के लिए विकासशल देश अपनी मुद्राओं को महत्वपूर्ण मुद्राओं से सम्बन्धित किए रहते हैं, किन्तु दीर्घकालीन हितों की दृष्टि से यह अवस्था उचित नहीं है। अतः मुद्रा–कोष को विनिमय दरों में ऐसे उच्चावचनों पर कड़ा नियन्त्रण लगाना चाहिए जिससे विकासशील देशों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो।

6. अन्त में कहा जा सकता है कि कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली उस समय तक सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती जब तक कि विश्व के देशों में मौद्रिक अनुशासन ओर सहयोग का अभाव रहता है। इसके लिए आवश्यक है कि दीर्घकालीन राष्ट्रीय हितों एवं व्यापक रूप से विश्व हितों को दृष्टि में रहते हुए अल्पकालीन राष्ट्रीय हितों एवं व्यापक रूप से विश्व हितों को दृष्टि में रहते हुए अल्पकालीन राष्ट्रीय हितों का त्याग किया जाना चाहिए।

यह आशा की जा सकती है कि नई मौद्रिक प्रणाली सफलतापूर्वक कार्य करेगी तथा इसमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा–कोष का महत्वपूर्ण स्थान होगा।

1.9 अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के क्षेत्र में एक नया प्रयोग : यूरो–करेन्सी (Euro-currency : A New Experiment In International Liquidity)

1 जनवरी, 1999 से यूरोपीय समुदाय की साझाी मुद्रा यूरो अस्तित्व में आ गई थी। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के तत्कालीन 12 राष्ट्रों ने 9-10 दिसम्बर, 1991 को मास्ट्रिश्च (नीदरलैंड) में आयोजित शिखर सम्मेलन में यूरो करेन्सी की शुरुआत करने की आधारशिला रखी। 1 नवम्बर, 1993 से लागू इस संधि के परिणाम के रूप में आज विश्व पटल पर यूरोप की साझी मुद्रा यूरो का उदय हुआ है।

यूरो में भागीदारी की प्रमुख शर्तें

मास्ट्रिश्च संधि के दस्तावेजों में यूरोप में मौद्रिक एवं आर्थिक एकीकरण एवं साझी मुद्रा 'यूरो' के प्रचलन के लिए चार प्रमुख शर्तों का उल्लेख किया गया–

(i) मुद्रा–स्फीति की दर पर नियन्त्रण (उत्तम निष्पादन करने वाले पहले तीन देशों में प्रचलित मुद्रा स्फीति दर से मुद्रा स्फीति की दर का 1.5% से अधिक न होना)।

(ii) निम्न ब्याज दर (उत्तम निष्पादन करने वाले प्रथम तीन देशों की ब्याज दर की तुलना में 2% से अधिक न होना)।

(iii) सरकारी ऋण का GDP के 60% से अधिक न होना।

(iv) वार्षिक बजट घाटा GDP के 3% से अधिक न होना।

मास्ट्रिश्च संधि में यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC) के देशों से उपर्युक्त शर्तों को पूरा करने का अनुरोध किया गया ताकि वे यूरोप की साझी मुद्रा यूरो में अपनी भागीदारी दर्ज कर सकें, यूरोप के अब तक बारह राष्ट्र यूरो में भागीदारी हेतु सभी आवश्यक पूर्व शर्तों को पूरा कर चुके हैं इन देशों में हैं–जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स, लक्जेमबर्ग, आरलैण्ड, इटली, फिनलैंड, स्पेन, पुर्तगाल, ग्रीस तथा आस्ट्रिया यूरोप के तीन देशों ब्रिटेन, स्वीडन तथा डेनमार्क ने अभी यूरो मुद्रा में अपनी भागीदारी दर्ज नहीं की है।

1.10 सारांश

नवीन मुद्रा प्रणाली विकासशील देशों के दृष्टिकोण से कोई संतोषजनक सुधार नहीं है। सत्य तो यह है कि इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के वितरण में असमानता पहले से और अधिक बढ़ ही गयी है। इस प्रणाली में स्वर्ण का अधिकृत मूल्य समाप्त कर दिया गया है और अब मुद्रा कोष का स्वर्ण भंडार प्रचलित बाजार–दर बेचा जा रहा है। इससे विश्व के धनी देशों को बहुत लाभ हुआ है क्योंकि उनके पास स्वर्ण के विशाल भंडार हैं। नवीन प्रणाली के अन्तर्गत एस. डी. आर. का नवीन सृजन निषिद्ध कर दिया गया है जबकि इनके सृजन के कारण नवीन आवंटन से विकासशील देशों को बहुत लाभ प्राप्त हो सकता था।

1.11 बोध प्रश्न

प्रश्न 1- वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट के क्या कारण हैं? इस संकट को दूर करने के लिए क्या व्यवस्था की गयी है?

प्रश्न 2- अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार के लिए क्या विभिन्न प्रस्ताव और उपाय किए गए हैं?

प्रश्न 3- अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या से आप क्या समझते हैं? यह समस्या क्यों उत्पन्न हुई है? अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को दूर करने के लिए क्या प्रस्ताव और उपाय किए गए हैं?

प्रश्न 4- नयी विश्व मुद्रा प्रणाली की समीक्षा कीजिए। क्या यह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संकट का समाधान करने में सहायक हो सकी है?

1.12 शब्दावली

अधिकृत देश	:	Designated Country
मुद्राओं की पिटारी	:	Basket of Currencies
प्रत्ययी रिजर्व	:	Fiduciary Reserve
विवेकपूर्ण दायित्व	:	Rational Liabilities
यूरोपियन आर्थिक समुदाय	:	European Economic Community
नकद सौदा	:	Cash Transaction

1.13 संदर्भ सूची

R. N. Cooper	:	Economics of Interdependence, Chap 2
Hinshaw	:	Monetary Reform and the Price of Gold
O. L. Altman	:	Management of International Liquidity.
C. P. Kindleberger	:	Prospects of International Liquidity.
S. E. Harris	:	The Dollar Crisis.
H. C. Grubel	:	World Monetary Reform

खण्ड–4

इकाई–02

आई.एम.एफ., आई.बी.आर.डी.

इकाई की रूपरेखा :–

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 **I.M.F.** की स्थापना

2.3 **I.M.F.** की प्रशासनिक संरचना

2.4 **I.M.F.** के कार्य

2.5 **I.M.F.** की सदस्यता

2.6 **I.M.F.** के सदस्य देशों को प्राप्त ऋण

2.7 **S.D.R**

2.8 **I.M.F.** की शर्ते

2.9 **I.M.F.** द्वारा जारी रिपोर्ट

2.10 **I.M.F.** की आलोचना

2.11 **I.M.F.** की उपलब्धियाँ

2.12 भारत और **I.M.F.**

2.13 **IBRD** की स्थापना

2.14 अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ (**IDA**)

2.15 अंतर्राष्ट्रीय वित निगम (**IFC**)

2.16 बहुपक्षीय निवेश गारण्टी ऐजंसी (**MIGA**)

2.17 निवेश विवादों के समाधान के लिये अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र (**ICSID**)

2.198 विश्व बैंक (**IBRD**) में शेयर धारिता तथा वोटिंग अधिकारी

2.19 विश्व बैंक (**IBRD**) समूह की रिपोर्ट्स

2.20 प्रमुख शब्दावलियाँ

2.0 **उद्देश्य :–**

वर्ष 1929 की महामंदी और उनके बाद के वर्षों में देखा गया किय यूरोप एवं उत्तरी अमेरिका के देशों में निर्गत तथा रोजगार के स्तरों में भारी गिरावट आयी। इसका प्रभाव दुनिया के अन्य देशों में भी देखने को मिला। बाजार में वस्तुओं के मांग में कमी थी और कारखाने बंद पड़े थे, श्रमिकों की छंटनी जोरों पर थी आदि घटनाओं ने अर्थशास्त्रियों को नये तरीके से अर्थव्यवस्था को संचालित करने के विषय में सोचने के लिये प्रेरित किया महामंदी के दुष्प्रभाव से विश्व अर्थव्यवस्था पूरी तरह से उबर नही पायी थी इसी बीच विश्व को एक और दुःखदायी समस्या द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में सौगात के रूप में प्राप्त होती है। अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग में एक विशेष प्रकार की असफलता उपरोक्त दो कारणों से देखने को मिलती है। आदि कारणों से प्रेरित होकर और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग तथा यूरोप के पुनर्निमाण के लिये एक वैश्विक आर्थिक संस्थान के रूप किसी संस्था के होने की आवश्यकता महसूस की गयी फलतः अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक आदि संस्थाओं का उदय हुआ।

2.1 प्रस्तावना :–

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विश्व बैंक के बाद दूसरा अंतर्राष्ट्रीय संगठन है, जिसकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य एक व्यवस्थित अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली का विकास करना अर्थात अंतर्राष्ट्रीय भुगतान प्रणाली को सुविधाजनक बनाना एवं राष्ट्रीय मुद्राओं में विनियम दर को समायोजित करना है। तथा एक संस्था के के रूप में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा सहयोग को बढ़ाना है।

अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (IBRD), जिसे 'विश्व बैंक' भी कहा जाता है वह 1944 में सम्पन्न हुये ब्रेटन बुड्स सम्मेलन का परिणाम था। इस संगठन की स्थापना का मुख्य उद्देश्य द्वितीय विश्व युद्ध के अयावाह परिणाम झेल रहे यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण एवं विश्व के अन्य अविकसित देशों के विकास के कार्य में सहायता प्रदान करना था। प्रारम्भिक वर्षों में विश्व बैंक युद्ध से तबाह यूरोपीय देशो के विकास के कार्य में सहायता करना तथा उन्हें युद्ध की तबाही से उबारना था। वर्ष 1950 तक वह अपने इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के पश्चात विश्व बैंक ने अविकसित देशों को विकास के मार्ग पर लाने का कार्य किया।

विश्व बैंक का यह मानना था कि अविकसित देशों में जितना स्वास्थ्य तथा शिक्ष्ज्ञा, उतना ही उन देशों में सामाजिक एवं आर्थिक बदलाव लाना सम्भव होगा। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु वर्ष 1960 में अंतर्राष्ट्रीय विकास सहा (I.D.A) नामक एक संस्था की स्थापना की जिसका दरों पर ऋण उपलब्ध कराना था। IBRD का मुख्यालय अमेरिका के वांशिगटन डी0सी0 में है।

2.2 I.M.F. की स्थापना

अतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोण (I.M.F.) की संकल्पना सर्वप्रथम वर्ष्या 1944 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आयोजित ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में की गई थी। यह सम्मेलन संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यू हैंपशायर शहर के ब्रेटन वुड्स नामक स्थान पर हुआ था। इस सम्मेलन के निर्णय के अनुसार I.M.F. का गठन औपचारिक रूप से 27 दिसंबर 1985 को संयुक्त राज्य अमेरिका के वाशिगंटन शहर ने हुआ, वास्तविक रूप से I.M.F. द्वारा 1 मार्च 1947 से कार्य प्रारम्भ किया गया। ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के साथ–साथ अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (IBRD) के साथ–साथ अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (IBRD) के भी गठन की कल्पना की गई थी। स्मरणीय रहे कि I.M.F. और IBRD को संयुक्त रूप से ब्रेटन वुड्स की जुड़वाँ (Bretton Woods Twins) कहा जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में वर्तमान समय में 190 सदस्य देश हैं तथा इसका मुख्यालय वाशिगंटन डी सी में है।

'अंडोरा' अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनने वाला सबसे आखिरी अर्थात 190 वाँ सदस्य है। वर्तमान समय में क्रिस्टालिना जॉर्जीवा (Kristalina Geogieva) I.M.F. के प्रबंधक निदेशक हैं। इसके I.M.F. के पहले प्रबंधक निदेशक कैमिल गट्ट (Camile Ciutt) थे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अन्तर्गत वृध्दि दर और वित्तीय तनाव एवं पर्याप्त विकास जोखिम में वैश्वीकरण के समय इस प्रकार से परिवर्तन हुए है।

वृद्धि दर और वित्तीय तनाव

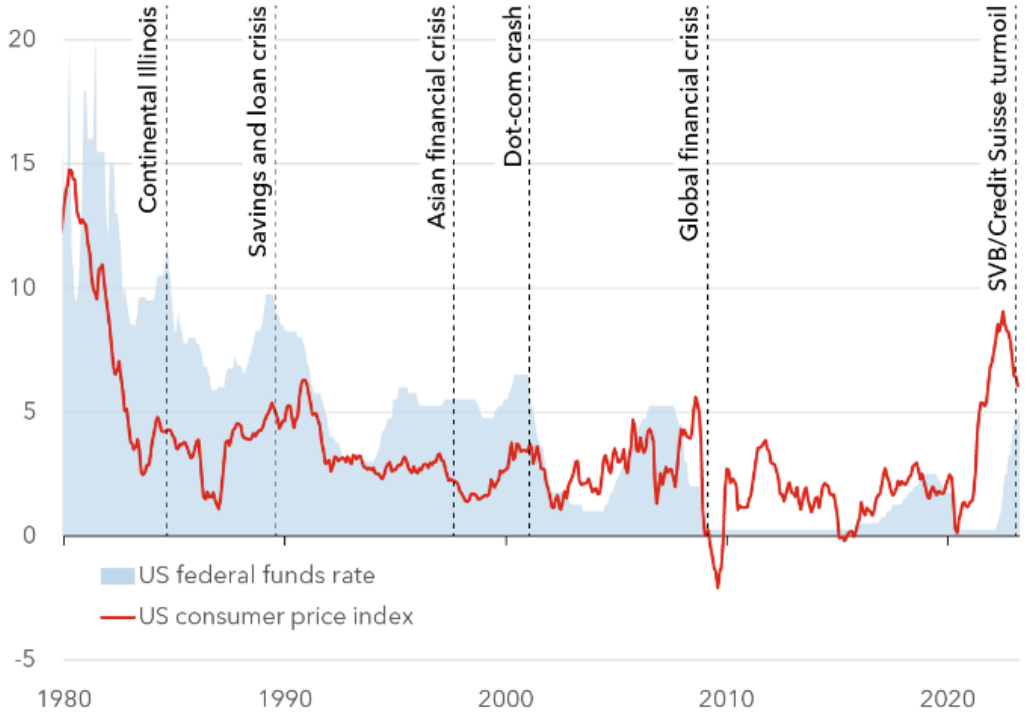

Sources: Bloomberg Finance L.P., Federal Reserve History.
Note: Fed funds rate since 2008 depicts upper limit of the federal funds target range.

वैश्विक वित्तीय स्थिरता का आकलन करने की अपनी भूमिका में, आईएमएफ ने वित्तीय संस्थानों के पर्यवेक्षण, विनियमन और समाधान में अंतराल को चिह्नित किया है। पिछली वैश्विक वित्तीय स्थिरता रिपोर्टों ने उच्च ब्याज दरों के कारण बैंक और गैर–बैंक वित्तीय मध्यस्थों में तनाव की चेतावनी दी थी पर्याप्त विकास जोखिम

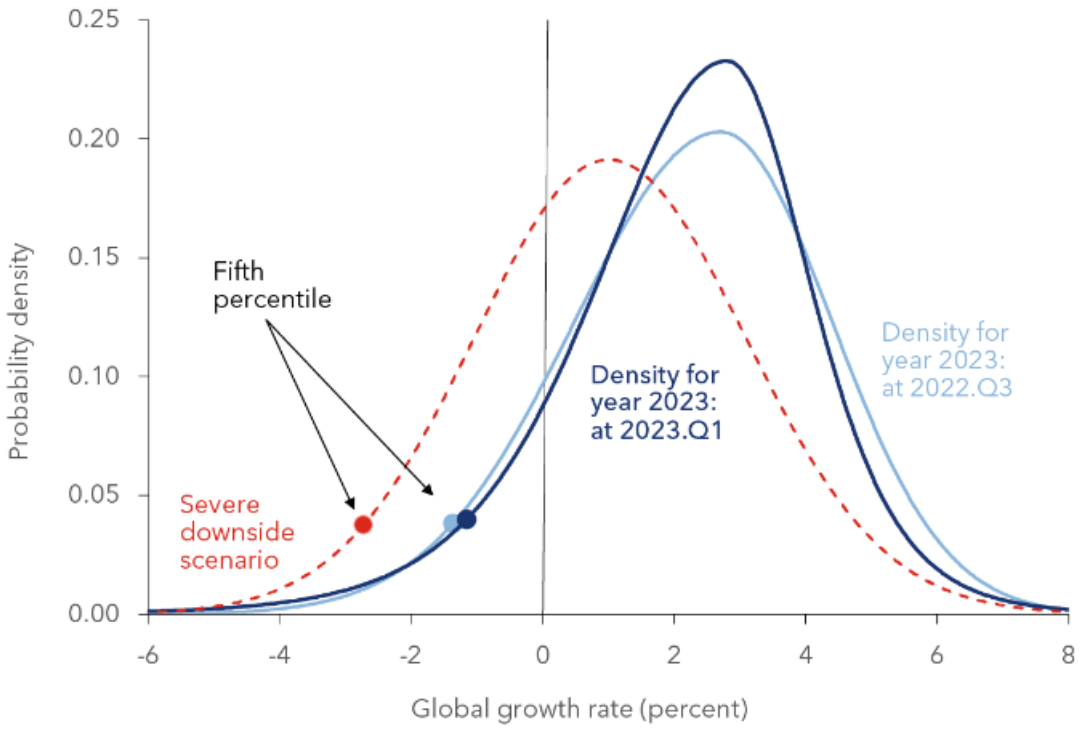

Sources: Bank regulatory filings, Bloomberg, and IMF staff estimates.
Note: The blue forecast densities are centered around the World Economic Outlook forecasts for 2023.

वित्तीय स्थिरता के लिए बढ़ते जोखिमों का सामना करते हुए, नीति निर्माताओं को विश्वास बनाए रखने के लिए दृढ़ता से कार्य करना चाहिए। निगरानी, पर्यवेक्षण और विनियमन में कमियों को तुरंत दूर किया जाना चाहिए। कई देशों में समाधान व्यवस्था और जमा बीमा कार्यक्रमों को मजबूत किया जाना चाहिए। गंभीर संकट प्रबंधन स्थितियों में, केंद्रीय बैंकों को बैंक और गैर–बैंक संस्थानों दोनों को वित्त पोषण सहायता का विस्तार करने की आवश्यकता हो सकती है। ये उपकरण केंद्रीय बैंकों को वित्तीय स्थिरता

बनाए रखने में मदद करेंगे, जिससे मौद्रिक नीति मूल्य स्थिरता प्राप्त करने पर ध्यान केंद्रित कर सकेगी। यदि वित्तीय क्षेत्र के संकट का व्यापक अर्थव्यवस्था पर गंभीर प्रभाव पड़ता है, तो नीति निर्माताओं को वित्तीय स्थिरता का समर्थन करने के लिए मौद्रिक नीति के रुख को समायोजित करने की आवश्यकता हो सकती है। यदि ऐसा है, तो उन्हें वित्तीय तनाव कम होने पर मुद्रास्फीति को यथाशीघ्र लक्ष्य पर वापस लाने के अपने निरंतर संकल्प को स्पष्ट रूप से बताना चाहिए।

2.3 I.M.F. की प्रशासनिक संरचना –

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सबसे निर्णायक संस्था गवर्नर मंडल (Board of Governors) है। गवर्नर मंडल में सभी सदस्य देशों का प्रतिनिधित्व होता है। सदस्य देशों के वित्तमंत्री या केंद्रीय बैंक के गर्वर I.M.F. के गवर्नर मंडल में गवर्नर के रूप में सदस्य देशों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। साथ ही सदस्य देशों द्वारा एक वैकल्पिक गवर्नर की भी नियुक्ति की जाती है जो गवर्नर के अनुपस्थित में अपने देश का प्रतिनिधित्व कर सके।

I.M.F. के गवर्नन मण्डल को अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक एवं वित्तीय समिति I.M.F. तथा विकास समिति आदि मंत्रिमण्डलीय समितियों से सलाह प्राप्त होती है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विकास समिति का गठन अक्टूबर 1974 में किया गया। इसमें कुल 25 सदस्य होते हैं, जो I.M.F. तथा विश्व बैंक के गवर्नर मण्डल के सदस्य होते हैं।

I.M.F. तथा विश्रूव बैंक समूह के गवर्नर मंडल अपने संबंधित संस्थाओं के काम पर चर्चा हेतु सामान्यतः वर्ष में एक बार बैठक करते हैं। तथा I.M.F. के गवर्नर मण्डल वर्ष में दो बार आयोजित की जाती है। जिसमें पहली बैंठ क को 'बसंत बैठक' जो प्रायः अप्रैल महीने में आयोजित की जाती है तथा दूसरी बैठक को 'वार्षिक बैठक' जो प्रायः सितम्बर–अक्टूबर के माह में आयोजित की जाती है, कहते हैं।

I.M.F. के गवर्नर मंडल की अधिकांश शक्तियाँ कार्यकारी मण्डल के पक्ष में प्रत्यायोजित हैं किन्तु सदस्य देशों का कोटा बढ़ाने, विशेष आहरण अधिकार (SDR) आवंटन, नये सदस्यों का प्रवेश, सदस्यों का अनिवार्य वापसी तथा उपविधि में संशोधन की शक्ति अब भी गवर्नर मण्डल के पास है।

2.4 I.M.F. के कार्य –

1. अंतर्राष्ट्रीय मोद्रिक सहयोग को बढ़ावा देना तथा सभी सदस्य देशों के आर्थिक विकास के लिये अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलित विकास को सुविधाजनक बनाना।

2. सदस्य देशों के मुद्रा विनियम दर की स्थिरता को बढ़ावा देना।
3. सदस्य देशों के भुगतान संतुलन की समस्या के समय आर्थिक सहायता प्रदान करना।
4. एक लघु अवधि साख संस्था के रूप में काम कना।
5. विनियम दर के नियमानुसार समायोजन के लिये तंत्र की स्थापना करना
6. किसी भी देश की मुद्रा का मूल्य निर्धारण करना अथवा आवश्यकता पड़ने पर उसमें परिवर्तन करना जिससे की सदस्य देशों में विनियम दरों में सुव्यवस्थित समायोजन किया जा सके।
7. अंतर्राष्ट्रीय विचार विमर्श के लिये तंत्र की व्यवस्था करना।
8. विश्व में गरीबी को कम करने के लिये प्रयास करना।
9. विदेशी मुद्रा एवं वर्तमान लेन–देन के ऋणदात्री संस्था का कार्य आदि।

2.5 I.M.F. की सदस्यता –

कोई भी संप्रभु राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। सदस्यता के लिये राष्ट्रों को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यकारी मंडल के समक्ष आवेदन करना होता है, तथा कार्यवाही मंडल के गहन जाँच के बाद उस राष्ट्र को I.M.F. का सदस्य बनाये जाने तथा उसके कोटे एवं मताधिकार के सम्बंध में प्रस्ताव गवर्नर मण्डल को दिया जाता है। गवर्नर मण्डल किसी राष्ट्र की सदस्यता के सम्बंध में आखिरी निर्णयकर्ता होता है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता प्राप्त होने पर आवेदक राष्ट्र को कोटा निर्दिष्ट किया जाता है। यह कोटा सदस्य देश का आइ0एम0एफ0 के साथ उसके वित्तीय एवं संगठनात्मक सम्बंधों का निर्धारण करता है। जिसके अंतगर्त अंशदान, मतदान शक्ति तथा वित तक पहुँच शामिल है।

अंशदान–अंशदान (Subscription) वह अधिकतम वित्तीय संसाधन है, जिसे प्रदान करने के लिये सदस्य देश बाध्य होता है। सदस्य देश को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में शामिल होने पर अंशदान का पूरा भुगतान करना पड़ता है।

सदस्य देश का कोटा, कोष के निर्णयों में मतदान की शक्ति का निर्धारण करती है। किसी देश को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से प्राप्त होने वाले आर्थिक संसाधनों का निर्धारण सदस्य देश के कोटा के माध्यम से किया जाता है।

2.6 I.M.F. के सदस्य देशों को प्राप्त ऋण–

आई0एम0एफ0 अपने सदस्य देशों को भुगतान संतुलन की समस्या से निपटने के लिये सहायता के रूप में ऋण प्रदान करता है। सदस्य देशों को उनकी आर्थिक स्थित के आधार पर दो प्रकार के आधार पर दो प्रकार के ऋण प्रदान किये जाते है, जो गैर–रियायती ऋण और रियायती ऋण आदि प्रकार के होते हैं। जिनमें से गैर–रियासती ऋण विकसित और विकासशील अर्थव्यवस्था वाले सदस्य देशों को तात्कालिक भुगतान संतुलन समस्या के समाधान तथा आर्थिक विकास को बढ़ावा देने के लिये प्रदान किया जाता है। इस प्रकार के ऋण अल्पअवधि और मध्यम अवधि के होते है और ऋणप्राप्त कर्ता देशों को ऋण के बदले ब्याज का भुगतान करना होता है। और रियायती ऋण आई0एम0एफ0 द्वारा अल्पविकसित अर्थव्यवस्था वाले तथा आर्थिक रूप से कमजोर सदस्य देशों को उनके भुगतान संतुलन की समस्या तथा आर्थिक विकास को बढ़ाने के लिये प्रदान किया जाता है। रिसायती ऋण प्राप्त करने वाले देशों को केवल ऋण की मूल राशि ही मुद्रा कोष में वापस करनी होती है। उन्हें ब्याज के भुगतान से छूट प्राप्त होती है।

2.7 S.D.R

विशेष आहरण अधिकारी (Special Drawing Right-SDR) SDR, I.M.F द्वारा वर्ष 1969 से प्रारम्भ एक अंतर्राष्ट्रीय आरक्षित मुद्रा परिसंपत्ति है जिसका सृजन सदस्य देशों के विदेशी मुद्रा भण्डार को पूरकता प्रदान करने के लिये किया गया।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विशेष आहरण अधिकार टोकरी (SDR-Basket) में पांच प्रमुख मुद्राओं को शामिल किया जाता है जिनमें अमेरिका की मुद्रा, डॉलर, यूरोप की मुद्रा यूरो, जापान की मुद्रा येन, ब्रिट्रिश मुद्रा पाउंड तथा चीन की मुद्रा रेन्मिनवी (Renminbi) या युआन आदि है। कार्यवाही मंडल द्वारा विशेष आहरण अधिकार टोकरी की समीक्षा प्रत्येक 5 वर्षों में की जाती है। वर्ष 2015 की समीक्षा के दौरान चीनी मुद्रा रेन्मिनवी को SDR, बास्केट में शामिल करने का निर्णय लिया गया शुरूआत में एस डी आर के मूल्य का निर्धारण अमेरिकी डॉलर के आधार पर किया गया। 1969 में एक विशेष आहरण अधिकार का मूल्य 1 डॉलर निर्धारित किया गया जो उस समय लगभग 0.888671 ग्राम सोने के मूल्य के बराबर था।

वर्ष 1973 में 'ब्रेटन वुड्स' व्यवस्था के धराशायी होने के पश्चात विशेष आहरण अधिकार की टोकरी में विश्व की प्रमुख मुद्राओं को शामिल किया गया।

2.8 I.M.F की शर्ते–

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अपने सदस्य देशों को ऋण प्रदान करते समय कुछ शर्तों को मानने के बाध्य करती है, प्रायः ऋणप्राप्त कर्ता देशों द्वारा इन शर्तो का विरोध किया जाता है क्यों ये शर्तें ऋणप्राप्त कर्ता देशों के सामाजिक तथा मानव विकास के मार्ग में बाधा के समान होती हैं।

अपने शर्तो के पक्ष में आई0एम0एफ0 यह तर्क देता है कि इनसे ऋणप्राप्तकर्ता देशों के आर्थिक स्वास्थ्य में सुधार होगा तथा वे विकास की तरफ अग्रसर होगी।

1. ऋण प्राप्त कर्ता देशों द्वारा निजीकरण को बढ़ावा दिया जाए।
2. ऋण प्राप्त कर्ता देशों राजकोशीय घाटे में कमी की जाय।
3. सदस्य देशों की मुद्रा की विदेशी लेन–देन के लिये नियंत्रण मुक्त किया जाए।
4. सब्सिडी में कटौती तथा लचीले श्रम क्षेत्र में सुधारों को लागू किया जाये आदि।

***** सब्सिडी में कटौती तथा लचीले श्रम क्षेत्र में सुधारों को लागू किया जाये आदि।

* सब्सिडी में कटौती तथा लचीले श्रम क्षेत्र में सुधारों को लागू किया जाये आदि।

* विशेष आहरण अधिकार (SDR) धारिता के सापेक्ष I.M.F में प्रमुख शीर्ष देशों के कोटा तथा वोटिंग शेयर (प्रतिशत के रूप में)–

क्रम संख्या	देश	कोटा %	वोटिंग शेयर %
1.	अमेरिका	17.44	16.51
2.	जापान	6.48	6.15
3.	चीन	6.41	6.08
4.	जर्मनी	5.60	5.32
5.	फ्रांस	4.24	4.03
6.	ब्रिटेन	4.24	4.03
7.	इटली	3.17	3.02
8.	भारत	2.76	2.63

स्रोत– I.M.F की 14 वीं सामान्य समीक्षा रिपोर्ट जनवरी 2016

2.9 I.M.F द्वारा जारी की जाने वाली रिपोर्टस–

विश्व आर्थिक परिदृश्य रिपोर्ट (World economic outlook Report), वैश्विक वित्तीय स्थिरता रिपोर्ट (Global Financial Stability Report) तथा राजकोषीय अनुश्रवण (Fiscal Monitor) आदि प्रमुख तीन रिपोर्ट आई0एम0एफ0 द्वारा जारी की जाती हैं।

2.10 आलोचनाएँ–

सदस्य के द्वारा निम्नलिखित आधारों पर प्रायः अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की आलोचना की जाती है जो निम्न प्रकार की है–

पहला यह कि सदस्य देशों द्वारा आरोप लगाया जाता है कि आई0एम0एफ में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अमेरिका के ही सहयोगी पश्चिमी यूरोपीय देशों का प्रभुत्व है और संयुक्त राज्य अमेरिका का अप्रत्यक्ष वीटो है। सदस्य देशों द्वारा आई0एन0एफ0 की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसके बन्धक निदेशक की नियुक्ति पश्चिमी यूरोपीय देशों से ही की जाती है।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की शर्तावालियों की संख्या अत्यधिक है तथा कोष द्वारा 2008–09 के वैश्विक आर्थिक मन्दी का पूर्वानुमान सही ढंग से नही लगाया जा सका।

उपर्युक्त आलोचनाओं से बचने के लिये अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष में कोटा सुधार (Quata ReForm) तथा प्रशासनिक सुधार (Governance) आदि दो प्रकार की सुधारों की आवश्यकता है।

2.11 I.M.F की उपलब्धियाँ :–

इसकी प्रमुख उपलब्धियाँ निम्न प्रकार है–

(i) विनियम दरों में स्थिरता – मुद्रा–कोष की मौलिक व्यवस्था के अनुसार विभन्न देशों की मुद्राओं के बीच विनियम दरों के निर्धारण का कार्य सुगम हो गया तथा विनियम दरे स्थिर हो गई। विनियम स्थिरता हेतु सदस्य देशों को घरेलू को घरेलू आर्थिक नीतियों की स्वतन्त्रता का परित्याग, भी नहीं करना पड़ा।

(ii) मौद्रिक प्रारक्षित निधि की स्थापना–मुद्रा कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओं का स्टॉक है। जिससे सदस्य देशों की विदेशी विनियम सम्बंधी जरूरतों को पूरी कर सकता है। जब किसी देश की मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाती है। तब मुद्रा कोष उसे दुर्लभ मुद्रा घोषित कर विभिन्न देशों के बीच उसकी राशनिंग की जाती है।

(iii) बहुपक्षीय व्यापार और भुगतान प्रणाली को बढ़ावा मिला है, यद्यपि संक्रान्तिकाल में सदस्य देशों को विदेशी व्यापार एवं विनियम पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार दिया जाता है और

संक्रान्तिकाल के पश्चात प्रतिबन्ध हटाने पड़ते है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मौद्रिक सहयोग को बल मिलता है और निवेश हेतु पूँजी आवागमन, प्रोत्साहित होता है।

(iv) अस्थायी भुगतान–असन्तुलन में सुधार और निर्यात उच्चावचनों के लिए प्रतिपूरक वित और साथ ही मुद्रा कोष द्वारा प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन पर रोक लगाता है। यद्यपि भुगतानशेष का आधारभूत असन्तुलन ठीक करने के लिए मुद्रा कोष सदस्य देशों को विदेशी व्यापार व विनियम पर नियंत्रण लगाने के लिए अतिरिक्त मुद्राओं का अवमूल्यन करने की सलाह देता है।

(v) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि मुद्रा कोष ने विशेष आहरण अधिकार योजना लागू करके अंतर्राष्ट्रीय तरलता बढ़ाने का प्रयास किया है। भुगतान सन्तुलन की कठिनाइयों के अतिरिक्त अब कोष के साधनों का प्रयोग पुनर्निमाण व विकास कार्यो में होने लगा है।

I.M.F में सुधार के सुझाव :–

प्रो0 सैम्यूल्सन ने 1997 में अपने एक लेख 'Three cheers for the IMF में मुद्रा कोष की प्रसंसा में लिखा कि मैक्सिकों में वित्तीय संकट का कारण यह था कि जब उसमें विदेशी मुद्रा का अन्तर्वाह हो रहा था तो मुद्रा कोष द्वारा दी गई चेतावनी को उसने नजरंदाज किया और यही कारण पूर्वी एशियाई देशों के संकट का है। वही फ्रीडमैन ने 1995 में एक लेख में मुद्रा कोष को विश्व आर्थिक संकट का दोषी ठहराते हुए उसे समाप्त करने को कहा क्योंकि इसने लाभ की आपेक्षा हानि अधिक पहुँचाई। अतः इन दोनों पक्षों में मुद्रा कोष जैसी संस्था जिसने पाँच दशकों से अधिक समय से विश्व की आर्थिक वृद्धि व अर्थव्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करने महत्वपूर्ण योगदान दिया हो, उसे बन्द या समाप्त करने की आपेक्षा उसकी नीतियों व संरचना में सुधार करना अधिक उपयुक्त होगा ताकि वर्तमान संकट के छूत प्रभाव (Contagion effect) को और भविष्य में ऐसे और संकटों को रोका जा सके।

–इसके लिए विभिन्न आर्थिक मंचो पर निम्न सुझाव दिए गए है–

1. अल्प विकसित व विकासशील देशों को जो आर्थिक संकट से जूझ रहे है उन्हें आसान शर्तों पर वित्तीय सहायता देने के लिए कोष का प्रावधान करना।
2. ऐसी युक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली कायम की जाए जो विकासशील देशों के प्रति उचित और न्यायसंगत हो।
3. कोष द्वारा विकासशील देशों को ऐसे उपाय सुझाए और ऐसी वित्तीय सहायता दे जिससे वे आंतरिक संसाधनों को बढ़ाकर अपनी विकास कार्यक्रमों का स्वयं वित प्रबंधन करें।

4. विश्व के विकसित देशों की समष्टि आर्थिक नीतियाँ इस तरह चलाई जाएं कि वे विश्व उत्पाद और व्यापार वृद्धि को सुरक्षा प्रदान करें, इस तरह कि विश्व अर्थव्यवस्था के लिए अधिक प्रभावी सुरक्षा जाल का कार्य करें।
5. संसर्ग प्रभाव (Contagion effect) से बचने के लिए मुद्रा कोष की विकास कमेटी ने विकासशील देशों को यह कहा कि वे मार्केट को खुला करके, संरक्षण को हटाकर, भ्रष्टाचार को समाप्त कर, बैंकिंग प्रणाली में सुधार कर और शासन व्यवस्था को सृदृढ़ कर अपनी नीतियों और व्यवस्थाओं को सशक्त करें। साथ ही विकसित देशों को सलाह दी कि वे शीघ्र और निश्चित उपाय करें जिनसे विश्व वित्तीय स्थिरता और आर्थिक वृद्धि को अधिक गति सुनिश्चित हो सकें।

2.12 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और भारत :–

भारत अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में 27 दिसम्बर 1945 को शामिल हुआ यह आई0एम0एफ के संस्थापक सदस्यों में से एक है। भारत उन 44 देशों में शामिल था, जिन्होंने ब्रेटन वुडस् सम्मेलन में भाग लिया और सम्मेलन के मत को स्वीकार किए। प्रारंभ में भारत का अभ्यस 400 मिलियन डालर था जो 1976 में बढ़ाकर 1,145 मिलियन SDRs कर दिया गया।

आई0एम0एफ0 में 26 जनवरी 2016 को बोर्ड सुधार संशोधन के लागू होने के बाद, जिन सदस्यों ने अपने कोटे में वृद्धि की सहमति दी, वे कोटा की 14 वीं सामान्य समीक्षा के तहत अपने कोटे में वृद्धि का भुगतान कर सकते है। आई0एम0एफ0 ने भारत का अभ्यंस 13,114.4 मिलियन SDRs के साथ कोटा 2.75 प्रतिशत तथा वोटिंग शेयर 2.63 प्रतिशत है। अर्थात भारत का आठवाँ सर्वाधिक कोटाधारक तथा वोटिंग शेयर वाला देश है।

आई0एम0एफ का सदस्य बनने के बाद भारतीय रूपया 'स्वतन्त्र मुद्रा' बन गया। 1947 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, में संशोधन करके भारत सरकार ने रिजर्व बैंक में स्टर्लिंग के साथ–साथ अन्य देशों की मुद्रा रख सकता है। इससे भारतीय रूपया ब्रिटिस पौण्ड की परम्परागत दासता से मुक्त हो गई और अन्य विदेशी मुद्राओं में बहुपक्षीय परिवर्तनीय हो गईं।

मुद्रा कोष का सदस्य होने से भारत विश्व–बैंक का सदस्य बन सका। जिससे विश्व बैंक के विकास कार्यों से और आर्थिक सहायता से देश को लाभ होता रहा है।

मुद्रा कोष से प्राप्त वित्तीय एंव तकनीकी सहायता के परिणामस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार में अतुलनीय वृद्धि हुई है। साथ ही विभिन्न आर्थिक क्रियाओं और योजनाओं के सम्बंध में मुद्रा कोष के

विशेषज्ञों ने समय–समय आवश्यक परामर्श दिया जिससे घरेलू आर्थिक समस्याओं के निवारण में सहायता मिली है।

अन्य सदस्य देशों की तरह भारत को भी मुद्रा कोष से संकटकालीन सहायता प्राप्त हुई। उदाहरण वर्ष 1957 में उत्पन्न विनियम संकट के निवारण हेतु मुद्रा कोष ने भारत को 200 मिलियन डालर लवण स्वीकृत किया। वही वर्ष 1991 में देश में उत्पन्न भुगतान असन्तुलन के समाधान हेतु वित्तीय ऋण के साथ विभिन्न शर्तावलियों के आरोपण के फलस्वरूप भारत उदारीकरण, निजीकरण और वैश्विकरण की तरफ अग्रसरित हुआ।

भारत का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सम्बंध सदैव मित्रवत रहा है। प्रारम्भ में भारत के भुगतान संतुलन में मुद्रा कोष द्वारा जहाँ सहायता प्रदान की जाती थी वही वर्तमान समय में भारत मुद्रा कोष के वित्तपोषक राष्ट्रों में शामिल है।

भारत द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कोटा सुधार तथा प्रशासनिक सुधार हेतु लगातार मांग की जा रही है, इस प्रकार भारत मुद्रा कोष में अपनी भूमिका में वृद्धि के लिए सतत् रूप से प्रयासरत है।

अतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (IBRD)

2.13 I.B.R.D की स्थापना :–

अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक (IBRD) जो कि 'विश्व बैंक' समूह की प्रमुख संस्था है कि स्थापना ब्रेटन वुड्स सम्मेलन जो कि वर्ष 1944 को संयुक्त राज्य अमेरिका के न्य हैं पशायर नामक शहर के ब्रेटन वुड्स नामक स्थान पर किया गया था, के पश्चात हुई। किन्तु 'अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक' ने अपना कार्य वर्ष 1946 से प्रारम्भ किया।

स्मरणीय रहे कि ब्रेटन वुड्स सम्मेलन को आधिकारिक तौर पर संयुक्त राष्ट्र मौद्रिक एवं वित्तीय सम्मेलन के रूप में जाना जाता है। इस सम्मेलन में 22 जुलाई 1944 तक, 44 देशों के प्रतिनिधि शामिल हुये थे।

अंतर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक में वर्तमान समय में सदस्य देशों की संख्या 189 है, जिससे 'नौरू गणराज्य' इसमें शामिल होने वाला नवीनतम सदस्य देश है जो कि 12 अप्रैल 2016 को सदस्यता ग्रहण की। विश्व बैंक समूह के अध्यक्ष 'विश्व बैंक' समूह का अध्यक्ष ही विश्व बैंक समूह का प्रमुख होता है। जो कि निदेशक मंउल की बैठकों की अध्यक्षत तथा विश्व बैंक समूह के प्रबन्धन के लिये जिम्मेदार माना जाता है।

इसके पहले अध्यक्ष का चुनाव संयुक्त राज्य अमेरिका से यूजीन मेयर के रूप में किया गया था। वर्तमान में डेविड मालपास इसके अध्यक्ष हैं। एक परिपाटी के अनुसार इसके अध्यक्ष के रूप में अमेरिकी नागरिक की ही नियुक्ति की जाती है जिसका प्रमुख कारण यह है कि इसके वित्तीय संसाधनों में सबसे अधिक भागेदारी स0रा0अ0 की है।

अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ (International Devlopment Association-IDA) अंतर्राष्ट्रीय विकास सहा (IDA) जो कि विश्व बैंक समूह की एक प्रमुख संस्था है की स्थापना 24 सितंबर 1960 को संयुक्त राजय अमेरिका की राजधानी वांशिगटन में की गई। IDA के स्थापना के समय इसके संस्थापक सदस्य देशों की संख्या 15 थी जो कि वर्तमान समय में 173 हो चुकी है।

2.14 अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA)

अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ द्वारा मुख्य रूप से निर्धन देशों को ऋण अथवा अनुदान प्रदान किया जाता है जिसकी अवधि प्रायः 25 वर्ष से 40 वर्ष तक होती है। इस ऋण के बदले सहायता प्राप्त देशों को मात्र 0.75 प्रतिशत की दर से सेवा शुल्क का भुगतान करना पड़ता है।

'अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ' को 'विश्व बैंक' की 'उदार ऋण खिड़की' (Soft Loan Window) कहा जाता है।

'अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ' द्वारा सदस्य देशों को प्रदान की जाने वाली आर्थिक सहायता एवं ऋण का वित्तीयन इसके सदस्य देशों द्वारा ही किया जाता है, जिसके लिये प्रत्येक तीन वर्ष पर सदस्य देशों की एक विशेष बैठक होती है जिसे 'पुनःपूर्ति (Replenishment) के नाम सं0 जाना जाता है।

2.15 अंतर्राष्ट्रीय वित निगम (International Finance Corporation-IFC)

'अंतर्राष्ट्रीय वित निगम' विश्व बैंक समूह की एक संस्था है। जिसका स्थापना वर्ष 1956 में हुई।

विश्व बैंक की अन्य संस्थाओं की ही भांति इसका मुख्यालय भी स0रा0 अमेरिका की राजधानी वाशिगंटन डी0सी0 में है। तथा वर्तमान समय में इसके सदस्य देशों की संख्या 185 है।

IFC की स्थापना प्रमुख उद्देश्य इसके सदस्य देशों की निजी निवेश को प्रोत्साहन देना था जिसके लिये IFC द्वारा विकासशील सदस्य देशों की निजी कंपनियों को आर्थिक सहायता प्रदान करना, तथा उनकी तकनीकि सहायता प्रदान करना है।

IFC के कार्य –

वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय वित निगम के निम्नलिखित कार्य हैं–

- विकासशील सदस्य देशों के निजी क्षेत्र को ऋण उपलब्ध कराना, जिसके लिये IFC द्वारा अंतर्राष्ट्रीय पूंजी बाजार में बॉण्ड (Bond) जारी किये जाते हैं।
- निजी क्षेत्र के पूंजी एवं प्रबन्धन में समन्वय स्थापित करना आजकल अंतर्राष्ट्रीय वित निगम द्वारा सदस्य देशों की निजी कंपनियों को ऋण प्रदान करने के उद्देश्य से वहां की स्थानीय मुद्रा में बॉण्ड जारी किये जा रहे हैं। जैसे भारतीय मुद्रा में जारी बॉण्ड 'मसाला बॉण्ड'।
- पूंजी प्रधान देशों को पूंजी की कमी वाले देशों में पूंजी लगाने के लिये प्रोत्साहित करना।

2.16 बहुपक्षी निवेश गारंटी एजेंसी :–

ultilateral Investment Guarantee Agency-MIGA

- बहुपक्षीय निवेश गारंटी एजेंसी (MIGA) विश्व बैंक समूह की एक संस्था है। जिसकी स्थापना संयुक्त राज्य अमेरिका को राजधानी वाशिगटन में वर्ष 1988 को हुई थी। (MIGA) एक विकासात्मक वित्तीय संस्थान है।

MIGA के कार्य :–

बहुपक्षी निवेश गारंटी एजेंसी (MIGA) का प्रमुख उद्देश्य विकासशील सदस्य देशों में अप्रत्यक्ष विदेशी निवेश को बढ़ाता देता, जिससे विकासशील देशों में गरीबी के स्तर में कमी लाकर वहाँ के लोगों का जीवन स्तर सुधारा जा सकें।

बहुपक्षीय निवेश गारंटी एजेंसी (MIGA) द्वारा विकासशील देशों में होने वाले प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI) के लिये बीमा प्रदान किया जाता है।

MIGA द्वारा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में वृद्धि के लिये विकासशील देशों की सरकारों को समय–समय पर गुणत्तापूर्ण व लाभकारी सलाह भी दी जाती है।

2.17 निवेश विवादों के समाधान के लिये अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र International Centre for Settlement or Investment Disputes-ICSID :–

राष्ट्र एवं अन्य राष्ट्र के नागरिकों के मध्य निवेश विवादों के समाधान पर एक कन्वेंशन, जिसे निवेश विवादों के समाधान के लिये अंतर्राष्ट्रीय (ICSID) कन्वेंशन कहा जाता है, के प्रावधानों के अन्तर्गत निवेश विवादों के समाधान के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र की स्थापना वर्ष 1966 में की गई। इसके सदस्य देशों की कुल संख्या 164 है, जिसमें हस्ताक्षरकर्ता देशा (8) और अनबंधित देशों की संख्या (156) है।

I C S I D के कार्य :–

निवेश विवादों के समाधान के लिये अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र (ICSID), अंतर्राष्ट्रीय निवेश विवादों के समाधान के लिये समर्पित विश्व की अग्रणी संस्था हैं। ICSID को निवेश विवादों के समाधान के सन्दर्भ में व्यापक अनुभव प्राप्त है। इसके सदस्य देशों ने विभिन्न सन्धियों/समझौतों जैसे द्विपक्षीय निवेश सन्धियों तथा अंतर्राष्ट्रीय कानूनों में ICSID को निवेश समाधान मंच के रूप में परिभाषित किया है।

यह (ICSID) कन्वेंशन विश्व बैंक के कार्यकारी निदेशकों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय निवेश को बढ़ावा देने के उद्देश्य से निर्मित बहुपक्षीय सन्धि है, जो विश्व बैंक के अंतर्राष्ट्रीय निवेश को बढ़ावा देने में सहायक है। यह एक स्वतंत्र, गैर–राजनीतिक प्रभावी निवेश विवाद समाधान संस्था के रूप में कार्यरत है, ICSID, सुलह (Condiliation) मध्यस्थता (Arbitration) तथा तथ्यान्वेषण (Fact Finding) के माध्यम से विवादों के समाधान का प्रयास करती है।

2.18 विश्व बैंक (IBRD) में शेयर धारिता, वोटिंग अधिकार–

विश्व बैंक में अधिकता शेयर धारिता और वोटिंग अधिकारी वाले–प्रमुख देश निम्न प्रकार है–

क्रम संख्या	देश	कोटा %	वोटिंग शेयर %
1.	अमेरिका	16.46	15.57
2.	जापान	7.93	7.52
3.	चीन	5.37	5.10
4.	जर्मनी	4.51	4.29
5.	यूनाटेड किंगडम	4.01	3.82
6.	फ्रांस	4.01	3.82
7.	भारत	3.12	2.76

स्रोत–आई0बी0आर0डी0 (फरवरी 2021)

2.19 विश्व बैंक (IBRD) समूह की रिपोर्टस–

विश्व बैंक समूह द्वारा समय–समय पर निम्नलिखित रिपोर्ट का प्रकाशन किया जाता है–

- व्यापार सुगमता रिपोर्ट (Daing Business Report)
- वैश्विक आर्थिक संभावना रिपोर्ट (Global Economic Prospect Report)
- विश्व विकास रिपोर्ट (World Devlopment Report)

- कमोडिटी मार्केट आउट लुक (Commodity Market Outlook)
- वैश्विक वित्तीय विकास रिपोर्ट (Global Financial Devlopment Report)
- विश्व विकास संकेत (World Development Indicators)

नोट–व्यापार सुगमता रिपोर्ट (Ease of Doing Business Report) के विवादस्पद व्यापार श्रृंखला को बंद कर विश्व बैंक द्वारा विभिन्न देशों के कारोबारी माहौल को मापने के लिए कए नई प्रणाली को शुरू करेगा जिसे ''बिजनेस इनेबलिंग इनवायरमेंट (BEE) रिपोर्ट कहा जाएगा। BEE रिपोर्ट का पहला प्रकाशन अप्रैल 2024 में किया जाएगा।

विश्व बैंक में मतदान शक्तियाँ–

सदस्य देशों को सदस्यता के दौरान और बाद में पूंजी के लिए अतिरिक्त अभिदान (Subscriptions) के लिए आवांटित किए जाते है। प्रत्येक संगठन में वोट अलग–अलग आवांटित किए जाते हैं।

संगठनों द्वारा वोटों के आवांटन की प्रणाली–

प्रत्येक सदस्य को प्रोयर वोट (सदस्य द्वारा रखे गये बैंक के पूंजी स्टाक के प्रत्येक शेयर के लिए एक वोट) प्लास बेसिक वोट (गणना की जाती है ताकि सभी मूल वोटों का योग 5.55 के बराबर हो) से मिलकर वोट प्राप्त करता है। यह प्रणाली IBRD, IDA, IFC, MIGA में सदस्यों के शेयर के आधार पर स्रोतों की प्रतिशत निर्धारित होता है।

विश्व बैंक समूह में भारत के वोटो का प्रतिशत दिसम्बर 2022

IBRD - 3.02%

IDA - 2.89%

IFC - 3.78%

MIGA - 2.53%

भारत एवं विश्व बैंक समूह–

भारत विश्व बैंक समूह के अधिकांश संस्थाओ का सदस्य देश है, जिसमें निवेश विवादों के समाधान के लिये अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र (ICSID) को छोड़कर सभी IBRD, IDA, IFC, MIGA शामिल हैं। विश्व बैंक समूह की इन संस्थाओं में भारत IBRD, IDA तथा IFC का संस्थापक सदस्य है जबकि भारत ने MIGA की सदस्यता वर्ष 1994 में ली।

भारत अंतर्राष्ट्रीय पुननिर्माण एवं विकास बैंक तथा 'अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ' से ऋण तथा अनुदान प्राप्त करता है। अंतर्राष्ट्रीय पुननिर्माण एवं विकास बैंक द्वारा भारत को ऋण की मंजूरी वर्ष 1948 में पहली बार दी गई।

भारत एवं पाकिस्तान द्वारा हुये सिंधु जल समझौते (1960) में विश्व बैंक ने एक मध्यस्थ के रूप में कार्य किया था। तथा विश्व बैंक द्वारा भारत को विशेषतः परिवहन एवं संचार, सिंचाई, शिक्षा, जलापूर्ति, विद्युत ऊर्जा उत्पादन, जनसंख्या नियंत्रण, गरीबी उन्मूलन, ग्रामीण विकास, आधारित संरचना विकास, सड़क निर्माण इत्यादि के लिये दीर्घकालिक ऋण प्रदान करता है।

भारत विश्व बैंक समूह से सर्वाधिक ऋण प्राप्त करने वाला देश है लोकसभा में वित मंत्रालय द्वारा प्रस्तुत एक रिपोर्ट से यह जानकारी प्राप्त होती है कि भारत ने विश्व बैंक समूह से 100 बिलियन डॉलर से अधिक का ऋण प्राप्त किया है।

विश्व बैंक ने भारत को मुख्य रूप चार क्षेत्रों में महत्वपूर्ण लेकिन कम अग्रणी योगदान दिया है। जिसमें पहला, 'बाह्य रूप में इसने भारत के लिए एक अधिवक्ता आर सहायता प्रवाह क समन्वयक के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई इसने वर्ष 1958 से 'एड इंडिया कंसोर्टियम का आयोजन किया तब से समन्वय किया है। इसमें 1960 की सिन्धु जल सन्धि समझौता जो भारत–पाकिस्तान के मध्य है के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

दूसरा विश्व बैंक ने केंद्र सरकार की एजेंसियों व राज्य सरकारों के बीच भी एक समन्वयकारी भूमिका निभाई। तीसरा, विश्व बैंक ने 'संयम की एजेंसी' के रूप में भी कात किया है। इसके कई ऋणों और शर्तों ने भारत को सार्वजनिक वस्तुओं की एक श्रृंखला भी प्रदान की, पर्याप्त अनुसंधान के साथ ही अंतर्राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान प्रणाली पर परामर्शदात्री समूह के रूप में योगदान दिया।

अन्ततः स्पष्ट है कि विश्व बैंक और भारत के बीच समग्र सम्बंध समरूपता और समानता (कुछ अपवादों को छोड़कर) की विशेषता रही है। जैसा कि विश्व ने एक रिपार्ट में हा था, ''भारत की तुलना में विश्व बैंक द्वारा किसी भी देश का अधिक अध्ययन नहीं किया गया है, और यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत ने बैंक को उतना ही प्रभावित किया है जितना कि बैंक ने भारत को प्रभावित किया है।'' वास्तविकता यह है कि विश्व बैंक ने अधिकांश अन्य कर्जदारों की तुलना में भारत के साथ अधिक अनुकूल व्यवहार किया है।

2.20 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अर्पैक, ओ., बर्ड, जी., और मैंडिलारस, ए. (2006)। आईएमएफ कार्यक्रमों का कार्यान्वयन क्या निर्धारित करता है? अर्थशास्त्र में सरे विश्वविद्यालय चर्चा पत्र डीपी 18/06
2. एटोइयन, आर., और कॉनवे, पी. (2006)। आईएमएफ कार्यक्रमों के प्रभाव का मूल्यांकनरू मिलान और वाद्य–चर अनुमानकों की तुलना। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की समीक्षा, 1, 99-124A
3. बैरो, आर.जे., और ली, जे.डब्ल्यू. (2005)। आईएमएफ कार्यक्रमरू किसे चुना जाता है और इसके प्रभाव क्या हैं? मौद्रिक अर्थशास्त्र जर्नल, 52, 1245-1269A
4. बेनेली, आर. (2006). क्या आईएमएफ समर्थित कार्यक्रम निजी पूंजी प्रवाह को बढ़ावा देते हैं? कार्यक्रम के आकार और नीति समायोजन की भूमिका।
5. ए. मोदी, और रेबुची ए. (सं.) में, आईएमएफ समर्थित कार्यक्रमरू हालिया स्टाफ रिसर्च (पीपी. 35-51)।
6. वाशिंगटन, डी.सी.: अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष। बर्ड, जी., हुसैन, एम., और जॉयस, जे.पी. (2004)। बहुत शुभकामनाएँ? पुनरावर्तनवाद और आईएमएफ। जर्नल ऑफ इंटरनेशनल मनी एंड फाइनेंस, 23, 231-251
7. बर्ड, जी., और रोलैंड्स, डी. (2002)। क्या आईएमएफ कार्यक्रमों का अन्य अंतरराष्ट्रीय पूंजी प्रवाह पर उत्प्रेरक प्रभाव पड़ता है? ऑक्सफोर्ड डेवलपमेंट स्टडीज, 30, 229-249
8. ब्रुने, एन., गैरेट, जी., और कोगुट, बी. (2004)। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और निजीकरण का वैश्विक प्रसार। आईएमएफ स्टाफ पेपर्स, 51, 195-219
9. बुलो, जे., और रोगॉफ, के. (1990)। सफाईकर्मियों के पास जाए बिना तीसरी दुनिया के कर्ज को साफ करना। जर्नल ऑफ इकोनॉमिक पर्सपेक्टिव्स, 4,31-42
10. बटकीविक्ज, जे.एल., और यानिक्कया, एच. (2005)। दीर्घकालिक आर्थिक विकास पर आईएमएफ और विश्व बैंक के ऋण का प्रभावरू एक अनुभवजन्य विश्लेषण। विश्व विकास, 33, 371-391
11. च्विएरोथ, जे. (2007). विचारों की भूमिका का परीक्षण और मापन: अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में नवउदारवाद का मामला। अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन त्रैमासिक, 51, 5-30
12. कोल, एच.एल., डॉव, जे., और इंग्लिश, डब्ल्यू.बी. (1995)। अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक समीक्षा, 36, 365-385

13. कोपेलोविच, एम.एस. (2005)। वैश्विक बाजारों को नियंत्रित करनारू निजी ऋण और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष उधार की राजनीति। पीएच.डी. थीसिस, हार्वर्ड विश्वविद्यालय।

14. डिक्स–मिरेक्स, एल., मेकाग्नि, एम., और शैडलर, एस. (2000)। कम आय वाले देशों को आईएमएफ द्वारा दिए गए ऋण के प्रभाव का मूल्यांकन करना। जर्नल ऑफ डेवलपमेंट इकोनॉमिक्स, 61, 495-526

15. ड्रेहर, ए. (2004). आईएमएफ और विश्व बैंक के ऋण और सशर्तता का एक सार्वजनिक चयन परिप्रेक्ष्य। सार्वजनिक विकल्प, 119, 445-464

16. ड्रेहर, ए. (2006). आईएमएफ और आर्थिक विकासरू कार्यक्रमों, ऋणों और सशर्त अनुपालन के प्रभाव। विश्व विकास, 34, 769-788

17. https://www.orfonline.org/hindi/research/a-reform-proposal-for-a-fit-for-purpose-imf/

18. https://testbook.com/ias-preparation/international-monetary-fund-imf?language=hindi

19. https://www.toppr.com/guides/general-awareness/international-financial-organisation/international-monetary-fund/

20. https://joshbadhao.com/ अन्तर्राष्ट्रीय–मुद्रा–कोष

इकाई 3
अंकटाड, डब्ल्यू. टी. ओ., जी–20, एशियन एवं सार्क

रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 गैट के उद्देश्य
3.3 गैट के प्रावधान
3.4 गैट का उरुग्वे दौर
3.5 गैट की आलोचनाएं
3.6 संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन (अनकटाड)
3.7 अनकटाड के कार्य
3.8 अनकटाड के उद्देश्य और उपलब्धियां
3.9 अनकटाड का मूल्यांकन
3.10 विश्व व्यापार संगठन
3.11 डब्ल्यू. टी. ओ. की संरचना या प्रमुख सिद्धान्त
3.12 डब्ल्यू. टी. ओ. का उद्देश्य
3.13 डब्ल्यू. टी. ओ. का कार्य
3.14 सारांश
3.15 बोध प्रश्न
3.16 शब्दावली
3.17 सन्दर्भ सूची

3.0 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अनेक आर्थिक लाभों को जन्म देती है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सही तरीके से नियमन आवश्यक है। इस इकाई का प्रमुख उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियमित करने वाली संस्थायें जैसे गैट, अनकटाड और विश्व व्यापार संगठन के बारे में समझना है।

3.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रशुल्क एवं व्यापार सम्बन्धी सामान्य करार (गैट) हवाना चार्टर की राख से विकसित हुआ। विश्व में 1930 के दशक और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान व्यापार की व्यापक पद्धति की कड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ा था। अतः सम्बद्ध शक्तियों ने द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात उदार विश्व व्यापार व्यवस्था अपनाने की सोची। इस उद्देश्य के लिए हवाना में 1947-48 के शीतकाल में व्यापार और रोजगार का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करने का निर्णय लिया। 53 देशों ने इस सम्मेलन में भाग लिया और एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन का गठन करने के लिए एक चार्टर पर हस्ताक्षर किये। परन्तु अमरीकी कांग्रेस ने हवाना चार्टर का कभी समर्थन नहीं किया जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन गठित नहीं किया जा सका। इसके साथ–साथ 23 देश जेनेवा में व्यापार–रियायतों के लिए व्यापक अैरिफ बातचीत जारी रखने के लिए सहमत हो गए जिन्हें गैट में शामिल किया गया। इस करार पर 30 अक्टूबर 1947 को हस्ताक्षर किए गए और जब अन्य देशों ने भी इस पर हस्ताक्षर कर दिए थे तो 1 जनवरी, 1948 को यह लागू हुआ।

3.2 गैट के उद्देश्य (Objectives of General Agreements On Tarif and Trade (Gatt)

गैट के उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आचार–संहिता में उल्लिखित कुछ मौलिक सिद्धांतों पर आधारित है–

1. परममित्र राष्ट्र (एम. एफ. एन.) सिद्धांत का बिना शर्त अनुसरण करना।
2. व्यापार को बिना किसी भेदभाव, आदान–प्रदान और निष्कपट होकर करना।
3. घरेलू उद्योगों को केवल टैरिफ के जरिए ही संरक्षण देना।
4. बहुपक्षीय वार्ताओं के जरिए टैरिफ और गैर–टैरिफ उपायों को उदार बनाना।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, करार में यह व्यवस्था की गई है :

(क) बहुपक्षीय व्यापार–वार्ताएं

(ख) विवादों पर परामर्श, सुलह–सफाई और निपटान तथा (ग) अपवादात्मक मामलों में छूट की अनुमति।

उदार विश्व व्यापार व्यवस्था स्थापित करने का अन्तिम उद्देश्य जीवन–स्तर में सुधार करना, निरन्तर बढ़ती हुई प्रभावशाली मांग और वास्तविक मांग के जरिए पूर्ण रोजगार सुनिश्चित करना, विश्व के संसाधनों का पूर्णतया विकास तथा विश्व स्तर पर उत्पादन और वस्तुओं और वस्तुओं के विनिमय को बढ़ाना है।

3.3 गैट के प्रावधान (Provisions of GATT)

गैट के उद्देश्यों और मूल सिद्धांतों को इनके विभिन्न अनुच्छेदों से देखा जा सकता है, जिनकी नीचे चर्चा की गई है :

1. परममित्र राष्ट्र धारा (Most Favoured Nation Clause)-भेद–भाव न होने देने को सुनिश्चित करने के लिए अनुच्छेद 1 सभी आयात और निर्यात शुल्कों के बिना शर्त परममित्र राष्ट्र धारा से सम्बन्धित है। इस प्रकार परममित्र राष्ट्र का नियम एक देश द्वारा दूसरे देश के लिए दी गई टैरिफ अधिमान व्यापार सम्बन्ध रखने वाले अन्य सभी देशों पर लागू होते हैं। यह अनुबन्ध करने वाले नए देशों को नए अधिमानों की अनुमति प्रदान नहीं करता है।

2. टैरिफ रियायतों की सारणियां (Schedules of Tariff Concessions)-गैट का अत्यन्त मूलघटक अनुबन्ध करने वाले देशों के बीच परस्पर टैरिफ रियायतों का एक वार्ताकृत संतुलन है। अनुबन्ध करने वाले देश करार के अनुच्छेद 11 में उल्लिखित रियायतों की सारणियों में निर्धारित वार्ताकृत दरों से अधिक आयात सीमाशुल्क न लेने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। वार्ताकृत निर्धारित टैरिफ दरों को परममित्र राष्ट्र के सिद्धान्त के जरिए सभी अनुबन्ध करने वाले देशों में सामान्यकृत किया जाता है। इस प्रकार अनुबन्ध करने वाले देशों में आदान–प्रदान और परस्पर लाभप्रद व्यवस्थाओं पर जोर देता है।

3. मात्रात्मक प्रतिबन्धों का सामान्य उन्मूलन (General Elimination of Quantitative Restrictions)- करार का 11वां अनुच्छेद व्यापार के मात्रात्मक व्यापार प्रतिबन्धों पर रोक लगाता है। गैट विभिन्न देशों को उनके आयात–शुल्कों पर न्यूनतम संभव स्तर पर अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिए प्रोत्साहित करता है। वार्ताओं के पहले 'दौरों' के परिणामस्वरूप विकसित देशों ने अधिकांश निर्मित वस्तुओं पर करारों को काफी सीमा तक कम कर दिया है। उन्हें अब आयात मूल्य के 4 से 10 प्रतिशत के न्यून स्तर पर निर्धारित किया जाता है।

4. आपात सुरक्षा संहिता (Emergency Safeguard Code)-गैट का 19वां अनुच्छेद आयात सुरक्षा संहिता प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत एक देश आयातों को रोकने हेतु टैरिफ या कोटा लगा सकता है जो आयात घरेलू उत्पादकताओं को गंभीर क्षति पहुंचाते या आशंका रखते हैं। यह संहिता पहले मान लेती है कि (i) टैरिफ कम करने के समय घटना अप्रत्याशित थी; (ii) देश मुख्य आपूर्ति करने वालों को जानकारी देता है तथा गैट को सूचित करता है; (iii) देश उतनी देर तक आयात रुकावटें कायम रखता है जितनी देर तक क्षति को रोकना अथवा सुधारना आवश्यक होता है; (iv) जो आपूर्ति

करने वाले क्षतिग्रस्त होते हैं, देश उनके साथ समझौता चाहता है तथा यदि वे संतुष्ट नहीं होते तो वे समान रियायतों को हटाकर बदला ले सकता है।

5. अपवाद (Exceptions)-अनुच्छेद 20 और 21 में अनुबन्ध करने वाले देशों द्वारा आयात कोटे पर रोक के लिए 'सामान्य' और 'सुरक्षा' अपवादों की व्यवस्था की गई है। वे देश स्थानीय उद्योगों को संरक्षण देने के लिए प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं है। 6 महत्वपूर्ण अपवाद ये हैं : पहला, भुगतान संतुलन की कठिनाई वाला देश अस्थायी तौर पर मात्रात्मक प्रतिबंध लगा सकता है परन्तु परममित्र राष्ट्र नियम के अन्तर्गत ये प्रतिबन्ध सभी स्रोतों से प्राप्त आयात पर समान रूप से लागू होने चाहिए। तथापि, ऐसे प्रतिबन्धों की गंभीर गिरावट को रोकने, कोषों में हाने वाली संकटपूर्ण कमी की रोकथाम करने अथवा असामान्य रूप से कम कोषों में उपयुक्त बढोत्तरी करने के लिए ही प्रयोग में लाना चाहिए। दूसरा, अल्पविकसित देशों को मात्रात्मक प्रतिबन्ध लागू करने की अनुमति प्रदान कर दी जाती है ताकि वे अपना आर्थिक विकास और अधिक कर सकें, परन्तु वे ऐसा गैट द्वारा अनुमोदित कार्यविधि के तहत ही कर सकते हैं। तीसरा, यदि अन्य देशों की वस्तुएं बनावटी तौर पर कम अथवा रियायती मूल्यों पर आयात की जाती है तो गैट सम्बन्धित देश को कार्यवाई करने की अनुमति भी प्रदान करता है। पांचवां, जब आयात में हुई अकस्मात वृद्धि से उद्योग बीमार हो जाते हैं तो गैट प्रभावित देश को संरक्षण में अस्थायी 'सुरक्षा उपाय' अपनाने की अनुमति भी देता है। छठा, अनुच्छेद 24 में देशों को परस्पर रूढ़ियां अथवा व्यापार मुक्त क्षेत्र बनाने की अनुमति इस शर्त पर दी गई है कि इससे सदस्य क्षेत्रों के बीच व्यापार बढ़े और अन्य अनुबन्ध करने वाले देशों से भी व्यापार सम्बन्धी बाधाएं न खड़ी हों।

6. सब्सिडियों और प्रतिकारी शुल्कों के नियम (Rules on Subsidies and Countervailing Duties)- सब्सिडियों ओर प्रतिकारी शुल्कों के वर्तमान नियमों को 1970 के टोकियो दौर में हुई वार्ता में एक पृथक नियमावली में रखा गया है। वर्तमान नियमों के अन्तर्गत विकासशील देशों को छोड़कर निर्मित वस्तुओं के निर्यात शुल्कों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। प्रथमिक वस्तुओं की निर्यात सब्सिडी केवल इस शर्त के अनुसार है कि इसके अन्तर्गत वे देश विश्व निर्यात व्यापार के समान अंश से अधिक न प्राप्त कर सकें। इस करार में ऐसी व्यवस्था भी है जिसके अन्तर्गत देशों को व्यापार करने वाले उन देशें के विरुद्ध क्षतिपूरक कार्यवाई करने का अधिकार दिया गया है जो आयातक देशों के बाजारों में राशिपातन वस्तुओं अथवा निर्यात सब्सिडी के जरिए बढ़े हुएमूल्यों की वस्तुएं प्रविष्ट कर देते हैं। राशिपातन की स्थिति में, आयातक देश राशिपातन के विरुद्ध और प्रतिकारी शुल्क इस सीमा तक लगा देते हैं कि आयातित वस्तुओं की बिक्री आयातक देश के बाजार में उक्त वस्तु के 'सामान्य मूल्य' से कम पर हो तथा इसके परिणामस्वरूप घरेलू उद्योग को आर्थिक हानि हो। इसी प्रकार करार में आयातक देश के लिए यह व्यवस्था की गई है कि उत्पादन से लाभ देने वाली वस्तुओं पर क्षतिपूर्ति करने वाले प्रतिकारी शुल्क अथवा निर्यातक देशों में निर्यात सब्सिडियां लगा सकता है, तो इसके परिणामस्वरूप घरेलू उद्योग को भौतिक हानि होती है। परन्तु ऐसे राशिपातन के विरुद्ध अथवा प्रतिकारी शुल्कों से आयातक देश में प्रभावित उद्योग को निवल अतिरिक्त संरक्षण नहीं होना चाहिए। दूसरे शब्दों में ये शुल्क राशिपातन अथवा आर्थिक सहायताकरण की गुंजाइशों की क्षतिपूर्ति हेतु आवश्यक दरों से अधिक नहीं होने चाहिए।

7. झगड़ों का निपटान (Settlement of Disputes)- मौजूदा गैट झगड़ा निपटान प्रक्रियाओं के अन्तर्गत उन कार्यवाईयों के विरुद्ध शिकायत की जा सकती है जिनमें नियमों का उल्लंघन किया गया हो अथवा सामान्य करार के उद्देश्यों में रुकावट उत्पन्न हुई हो। गैट 3 अथवा 5 स्वतन्त्र विशेषज्ञों के पेनल पर निर्भर है जो कि गैट परिषद् द्वारा अपनाने के लिए निष्कर्ष और सिफारिशें तैयार करते हैं। अन्य देश द्वारा न्याय और वार्ता को शमिल करने वाली इस प्रक्रिया से अनुबन्ध करने वाले देशों के झगड़ों का सफलतापूर्वक हल निकाला गया है।

3.4 उरूगुवे दौर (The Uruguay Round)

गैट वार्ताओं का आठवां दौर जो सितम्बर 1986 में उरूगुवे में पांटा डेल एस्टा में शुरू हुआ था उसे 1990 के अन्त तक पूरा हो जाना चाहिए था। परन्तु दिसम्बर 1990 में ब्रसल्ज में हुई मंत्री स्तरीय सभा में कृषि क्षेत्र पर गतिरोध हो जाने से वार्ताएं भंग हो गईं। फरवरी 1991 में वार्ताएं पुनः प्रारम्भ की गईं जो अगस्त 1991 तक चलीं। 20 सितम्बर 1991 को गैट के तत्कालीन डाइरेक्ट जनरल आर्थर डंकल ने उरुगुवे दौर का एक अंतिम प्रारूप रखा जो डंकल प्रारूप कहलाया। यह एक "इसे स्वीकारों–या–इसे–छोड़ो" दस्तावेज था जो विभिन्न मंचों पर 1992 से जुलाई 1993 तक सक्रिय रूप से विवादित रहा। तब तत्कालीन डाहरेक्टर जनरल सदरलैंड ने जेनेवा में उसे पुनर्विचार के लिए प्रतिपादित किया। 31 अगस्त, 1993 को व्यापार विनिमय समिति (Trade Negotiations Committee – TNC) में उरुगुवे दौर की 15 दिसम्बर, 1993 को अंतिम बैठक में सभापति सदरलैंड ने घोषणा की कि सात–वर्षीय उरुगुवे दौर की बातचीत समाप्त हो गई। अंततः 15 अप्रैल, 1994 को 123 सदस्य देशों के मंत्रियों ने उरुगुवे दौर के परिणामों को माराकेश (मोरक्को) में स्वीकृति दे दी। गैट समाप्त हो गया, इतिहास का एक भाग बन गया और 1 जनवरी, 1995 को विश्व व्यापार संगठन (WTO) में विलीन हो गया।

उरुगुवे दौरे के लाभ (Gains from Uruguay Round)

गैट सचिवाल ने उरुगुवे दौर के समझौतों और उनके लागू करने से निम्न लाभों का अनुमान लगाया।

1. आय तथा व्यापार (Income and Trade)

अनुमानित लाभ निम्न हैं :

i. सन् 2005 तक 510 बिलियन डालर की विश्व आय में वृद्धि।

ii. सन् 2005 तक वस्तुओं में विश्व व्यापार की 745 बिलियन डालर की वृद्धि।

iii. वस्तुओं में विश्व व्यापार की अधिकतम वृद्धि–वस्त्रों में 60%, कृषि , वन तथा मत्स्य पदार्थों में 20% तथा संसाधित खाद्य (processed food) और पेय पदार्थों में 19% की।

iv. विकासशील तथा संक्रमण अर्थव्यवस्थाओं (भूतपूर्व साम्यवादी पूर्व–यूरोपीय देशों तथा रूस) की एक ग्रुप के रूप में कुल विश्व व्यापार में औसत वृद्धि के अनुपात में उनके आयात और निर्यात में 50% से अधिक की वृद्धि।

2. टैरिफ में कमी (Tariff Reduction)

उरुगुवे दौर के अन्तर्गत विकसित तथा विकासशील देशों ने कई बाधक तथा विवेकाधीन व्यापार तथा उद्योग संबंधी नीतियों को छोड़ दिया। परिणामस्वरूप, उच्चस्तरीय टैरिफ बंधन हो गए हैं। बंधन का अर्थ है कि उन्होंने पुराने संरक्षणवादी नियमों के उपयोग की स्वतन्त्रता को त्याग दिया है।

टैरिफ में कमी और बंधन निम्न प्रकार के थे :

i. औद्योगिक वस्तुओं पर विकसित देशों में करों के बन्धन 78% से 99% तक बढ़े तथा विकासशील देशों में यह 22% से 72% तक बढ़े।

ii. कृषि में विकसित देशों मे यह बन्धन 81% से 100% तक बढ़े और विकासशील देशों में 22% से 100% तक।

iii. औद्योगिक वस्तुओं पर विकसित देशों में टैरिफ 6.3% में से 3.9% तक कम हुए।

iv. टैरिफ की वृद्धि में कमी हुई जिसका लाभ विकासशील देशों को होगा जो अधिक संसाधित प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करना चाहते हैं।

v. विकासशील देशों में निर्यात–योग्य बहुत–सी वस्तुओं में औसत से अधिक टैरिफ में कमी।

3. मार्केट पहुंच (Market Access)

उरुगुवे दौर में मार्केट पहुंच संबंधी कई क्षेत्र थे। उनमें मुख्य टैरिफ, कपड़ा और वस्त्र तथा कृषि थे।

i. टैरिफ (Tarrifs)-विकसित देशों में औद्योगिक टैरिफ औसतन 4% तक कम किए गये। अब यह व्यापार में महत्वपूर्ण रुकावटें नहीं हैं। विकासशील देशों ने भी टैरिफ में काफी कमी की। उरुगवे दौर के अन्तर्गत कुल टैरिफ की कटौती का औसत एक–तिहाई था। जो औद्योगिक वस्तुएं परम मित्र

राष्ट्र (Most Favoured Nation) के अंतर्गत कर–मुक्त रूप में विकसित देशों में प्रवेश करती हैं, उनका मूल्य 20% से 44% तक बढ़ा। सब स्रोतों से विकसित देशों में आयातित वसतुओं का अनुपात, जिन पर टैरिफ 15% से अधिक था, 7% से 5% तक गिरा तथा विकासशील देशों से आयातों पर 9% से 5% तक गिरा। औद्योगिक वस्तुओं पर विकसित देशों में मार्केट पहुँच टैरिफ बंधनों के ऊँचे स्तरों के फलस्वरूप 78% से 99% तक बढ़ी और विकासशील देशों में 22% से 72% तक।

ii. कपड़ा और वस्त्र (Clothing and Textiles)-"कपड़ा और वस्त्र समझौता" मार्केट पहुँच का ही एक अंग है। उरुगुवे दौर की एक मुख्य उपलब्धि इस क्षेत्र का बहुपक्षीय ढांचे में एकीकरण था। 1 जनवरी, 2005 तक इस क्षेत्र का "गैट नियम 1994" में एकीकरण चार अवस्थाओं में होगा, जब सब वस्तुएँ इसमें शामिल हो जाएंगी। 31 दिसम्बर, 1994 तक के सब MFA (Multi Fibre Agreement) बहुतंतु समझौते के प्रतिबन्ध WTO समझौते में शामिल कर लिए गए थे। 1 जनवरी, 2005 तक ये हटा लिए जाएंगे, जब सब वस्तुएं धीरे–धीरे गैट में शामिल हो जाएंगी। फलस्वरूप, विकासशील देशों का कपड़े ओर वस्त्रों का निर्यात कई गुना बढ़ जाएगा बशर्ते वे प्रतियोगी हों।

iii. कृषि (Agriculture)-"कृषि समझौते" में कृषि वस्तुओं पर न्यूनतम मार्केट पहुंच का प्रावधान है। इसमें (i) बगैर–टैरिफ प्रतिबन्धों के स्थान पर साधारण कस्टम ड्यूटी लगा कर राष्ट्रीय मार्केट को खोलना, (ii) धीरे–धीरे सरकारी सहायता कम करके अत्यधिक उत्पादन को रोकना, और (iii) सब्सिडी दिए गए निर्यातों की मात्रा और सब्सिडी को कम करना शामिल हैं।

4. नियम और अनुशासन (Rules and Disciplines)-उरुगुवे दौर से बहुपक्षीय नियमों और अनुशासनों को भी बन मिला। इनमें प्रमुख संबंधित थे सब्सिडी से, प्रतिकारी उपायों (Countervailing) से, प्रति–राशिपातन (anti-dumping) से, तथा सुरक्षाओं और झगड़ा निपटान से। झगड़ा निपटान के नियमों को समयबद्ध, सवचालित और WTO के अन्तर्गत न्यायिक बनाया गया है।

5. ट्रिम्स (TRIMs)- व्यापार संबंधी निवेश उपाय उन निवेश उपायों को रोकते हैं, जे राष्ट्रीय व्यवहार के अथवा मात्रात्मक प्रतिबन्धों को हटाने के अनुरूप नहीं हैं। असंगत ट्रिप्स को धीरे–धीरे हटाने के लिए विकासशील देशों को 5 वर्ष और विकसित देशों को 2 वर्ष का समय दिया गया है। ट्रिम्स समझौता विदेशी निवेशके किसी विशेष सैक्टर में प्रवेश पर कोई जिम्मेदारी नहीं थोपता।

6. गैट्स (GATS)- सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता उरुगुवे दौर की उपलब्धि थी। यह अंतर्राष्ट्रीय सेवाओं में व्यापार से संबंधित बहुपक्षीय सम्मत और न्याय द्वारा लागू नियमों का पहला समूह है। सेवाओं में वित्तीय, दूरसंचार तथा साधारण जनता की सेवाएं सम्मिलित हैं। गैट्स इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक राष्ट्र MFN के आधार पर विभिन्न राष्ट्रों में सेवाओं में व्यापार संबंधित भेद–भाव न करे तथा सभी प्रासंगिक कानूनों (विधियों) तथा अधिनिमयों के प्रकाशन में पारदर्शिता बरतें।

7. ट्रिप्स–व्यापार–संबंधित बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार (Trade Related Intellectual property Rights – TRIPS)

उरुगुवे दौर के अन्तर्गत व्यापार संबंधित बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार भी आते हैं। इसमें प्रकाशनाधिकार के मानक तथा मानदण्ड तथा तत्संबंधी अधिकार, ट्रेडमार्क, भौगोलिक लक्षण, औद्योगिक डिजाइन, पेटेंट, डिजाइनों में व्यापार रहस्य और गुप्त सूचनाओं के संरक्षण आदि शामिल हैं। ट्रिप्स के कार्यान्वयन के लिए विकसित देशों के लिए एक वर्ष, विकासशील देशों के लिए 5 वर्ष और न्यूनतम अविकसित देशों के लिए 11 वर्ष का समय अपने कानूनों में तदनुकूल परिवर्तन करने के लिए दिया गया है।

पेटेंट पर ट्रिप्स समझौता अमेरिका में जातिगत मार्केट पर प्रभाव डालेगा और शताब्दी की समाप्ति तक अरबों डालर के नए व्यापार को जन्म देगा। ऐसा ही भारत जैसे विकासशील देशों के लिए यूरोपीय संघ (EC) में अवसर प्रदान करेगा। वे उन्नत प्रौद्योगिकी के अंर्तवाह तथा कृषि तथा औषधियों के क्षेत्र में शोध–प्रभावी वातावरण के विस्तार से लाभान्वित होंगे। फलस्वरूप मार्केट में उपलब्ध सामान की गुणवत्ता का विकास होगा। उदाहरणार्थ, यदि किसान को बहु–राष्ट्रीय स्रोतों से, अधिक मूल्य पर ही सही, उन्नत बीज मिलते हैं, तो उनकी उपज कहीं अधिक होगी और फलस्वरूप लाभ भी बढ़ेगा। इसी प्रकार,

विकासशील देशों के जातीय औषधि निर्माताओं में भी अन्य राष्ट्रों में औषधियों में हो रही नई खोजों के विकास के लिए महत्वपूर्ण अनुबंध करेंगे।

3.5 गैट की आलोचनाएं
(Criticisms of Gatt)

पिछले अनेक वर्षों से अनुबन्ध करने वाले देशों द्वारा गैट नियमों का उल्लंघन बड़े पैमाने पर किया गया जिससे गैट एक उपहास बनकर रह गया।

1. गैट के प्रारम्भ से ही कृषि को एक विशेष मामले के रूप में माना गया जिस पर गैट के नियम लागू ही नहीं होते थे। लगभग प्रत्येक विकसित देश ने ऐसी कृषि व्यापार नीति का अनुसरण किया जो गैट के नियमों के अनुरूप नहीं थे। केवल कैनेडी दौर और टोकियो दौर में कृषि और डेयरी–उत्पादों से सम्बन्धित कुछ करार किए गए। परन्तु कृषि उत्पादों के लिए व्यापार उदारीकरण निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा बहुत कम है।

2. इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश विकसित देशों ने टैरिफ बाधाएं हटा ली हैं तो भी वे अन्य बाधाओं को नहीं हटाना चाहते। इसकी अपेक्षा उन्होंने "स्वैच्छिक निर्यात रुकावटें" "कम लागत आपूर्तिकारक", "बाजार विघटन" इत्यादि के रूप में नए व्यापार प्रतिबन्ध बनाए हैं। इन प्रतिबन्धों को विकासशील और राज्य व्यापार देशों तथा जापान के लिए लागू किया जाता है।

3. गैट के नियमों से हटकर द्विपक्षीय, विभेदात्मक और प्रतिबन्धात्मक व्यवस्थाओं के निर्णयों से गैट की भूमिका को कम किया गया। यूरोपीय आर्थिक समुदाय और अमरीका ने द्विपक्षीय वार्ताओं के बाद ब्राजील, हांगकांग, कोरिया तथा जापान के अलावा अन्य विकासशील देशों के असंख्य उत्पादों पर अनेक आयात प्रतिबन्ध लगाए। इस समय 100 से अधिक एम. एफ. ए. श्रेणी के द्विपक्षीय करार विश्व में लागू हैं जो विकासशील देशों से विकसित देशों को होने वाले निर्यात पर प्रतिबंध लगाते हैं।

4. गैट को टालने में दूसरा महत्वपूर्ण कारक सब्सिडियों का बढ़ता हुआ इस्तेमाल था। ऐसा इसलिए कि सब्सिडी के सम्बन्ध में गैट के नियम स्पष्ट नहीं थे। गैट के नियम घरेलू सब्सिडी की अनुमति प्रदान करते हैं परन्तु यदि इससे अन्य देशों के व्यापार हितों को हानि होती है, तो प्रतिशोध की भावना भी उभरकर आती हैं। परिणामस्वरूप, खुले व्यापार की स्थिति और खराब हो रही है।

5. गैट के अनुच्छेद 19 के "सुरक्षा" के नियमों के अन्तर्गत अनुबन्ध करने वाले देशों को हानिकारक, आयातित वस्तुओं के ढेर या रियायती दरों पर आयातित वस्तुओं अथवा जटिल भुगतान–सन्तुलन की कठिनाइयों जैसी आवश्यकताओं में संरक्षण की अनुमति प्रदान करता था। परन्तु "बचाव धारा" के अन्तर्गत अनुमति प्राप्त सभी अस्थायी प्रतिबन्ध विश्व व्यापार व्यवस्था की स्थायी विशेषताएं बन चुके हैं।

6. अनुच्छेद 24 गैट के नियमों में कस्टम संघों और मुक्त व्यापार क्षेत्रों के गठन की अनुमति दी गई है लेकिन इन नियमों को तोड़ा–मरोड़ा और इनका दुरुपयोग किया जा रहा है। इन नियमों में अनेक संदिग्धताएं हैं जिससे गैट गम्भीर रूप से कमजोर हो गया था। इन नियमों से अन्य विशेष आदान–प्रदानों, व्यापारिक पद्धति के विखण्डन के लिए एक खतरनाक उदाहरण स्थापित हुआ है तथा इससे गैर–भागीदारों के व्यापारिक हितों को हानि पहुंचती है। इसके परिणामस्वरूप परममित्र राष्ट्र के लाभ अनुबन्ध करने वाले देशों में समान रूप से नहीं पहुंच सके हैं।

3.6 संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन
(UN Conference on Trade and Development) (UNCTAD)

संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन (UNCTAD) की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा गैट (GATT) जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के असंतोषजनक कार्य के कारण 1964 में की गई थी। इसका कारण यह था कि इन संस्थाओं ने विकसित देशों का पक्ष लिया तथा अल्पविकसित देशों की विशेष व्यापार और विकास समस्याओं का निदान करने में असफल रहे। विशेषकर गैट ने स्वतन्त्र व्यापार, टैरिफ में कटौती तथा प्राथमिकताओं और आयात प्रतिबन्धों के उन्मूलन हेतु कटिबद्ध होने के कारण वस्तु–मूल्य की स्थिरता और अल्पविकसित देशों के विकसित देशों के साथ होने वाले व्यापार में प्राथमिकता देने के प्रस्तावों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

अंकटाड की स्थापना का पहला कदम तब उठाया गया था जब संयुक्त राष्ट्र महासभा ने दिसम्बर 1961 में 1960 के दशक को संयुक्त राष्ट्र विकास दशक घोषित कर दिया। ऐसा करने से संयुक्त राष्ट्र संघ ने विकसित देशों द्वारा गरीब और अमीर देशों के बीच के अन्तर को समाप्त करने के लिए व्यापार और सहायता के जरिए उपाय करने की आवश्यकता को मान्यता प्रदान कर दी। संयुक्त राष्ट्र आर्थिक और सामाजिक परिषद ने जुलाई 1963 में व्यापार और विकास सम्मेलन बुलाने की सिफारिश की तथा परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1964 में जेनेवा में प्रथम अनकटाड की बैठक बुलाई।

तदनुसार, अनकटाड की पहली बैठक 1964 में जेनेवा में आयोजित की गई। तब से ऐसे सम्मेलन 4 वर्ष के लगभग नियमित अंतराल में आयोजित किए गए हैं।

संगठन
(Organisation)

अनकटाड यू.एन. महासभा का एक स्थायी अंग है जिसका मुख्यालय जेनेवा में है। इसका एक सचिवालय है। अनकटाड VIII ने अनकटाड के लिए नया संगठनात्मक ढांचा प्रस्तावित किया जो अप्रैल 1992 से कार्यरत है। इसमें निम्नलिखित सम्मिलित है :

सम्मेलन (Conference)–अनकटाड सम्मेलन के अप्रैल 1992 में 170 मेम्बर थे जब इसका आठवां सम्मेलन कार्टाजीना, कोलम्बिया में हुआ।

व्यापार और विकास बोर्ड (Trade and Development Board)-व्यापार और विकास बोर्ड नाम की एक कार्यकारिणी संस्था है जो नियमित अधिवेशन में साल में दो बार बैठक करती है, और विशेष अधिवेशन में जब आवश्यकता होती है। जब सम्मेलन अधिवेशन में नहीं होता तो बोर्ड नीति विषयक निर्णय लेता है। इसके 55 मैम्बर हैं जो समान भौगोलिक वितरण के आधार पर सम्मेलन के मैम्बरों में से चुने जाते हैं।

कार्यकारिणी कमेटी (Executive Committee)-बोर्ड की एक कार्यकारिणी कमेटी है जो जेनेवा में अनकटाड में नियुक्त मैम्बर राज्यों के स्थायी प्रतिनिधियों से संघटित की जाती है। यह समय–समय पर, सामन्यतः प्रत्येक मास बैठती है।

स्थायी कमेटियां (Permanent Committees)-बोर्ड को उसके कार्यों में चार नयी कमेटियां सहायता करती हैं जो वस्तुओं, गरीबी हटाने, विकासशील देशों में आर्थिक सहयोग सेवाओं से सम्बद्ध होती है। ये कमेटियां विशेषकर आने वाले सम्मेलन के लिए अध्ययन करते है तथा समय–समय पर रिपोर्टें तैयार करती है।

विशेष कमेटी (Special Committee)-अधिमानों पर एक विशेष कमेटी है।

3.7 अनकटाड के कार्य
(Functions of UNCTAD)

अनकटाड से संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा निर्धारित निम्नलिखित कार्यों की अपेक्षा की जाती है–

1. भिन्न सामाजिक–आर्थिक व्यवस्थाओं वाले विशेषकर अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास को तीव्र करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाना।

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं के लिए सिद्धान्त और नीति बनाना।

3. उक्त सिद्धान्तों और नीतियों को प्रभावी बनाने के लिए प्रस्ताव तैयार करना तथा ऐसे उपाय करना जो इस उद्देश्य के लिए संगत हों।

4. सामान्यतः, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था के भीतर अन्य संस्थाओं के क्रिया–कलापों मं समन्वय करना तथा उसकी समीक्षा करना।

5. समान व्यापार, सरकारों की तत्सम्बन्धी विकास नीति और क्षेत्रीय आर्थिक समूह के लिए एक केन्द्र के रूप में मौजूद होना।

3.8 अनकटाड के उद्देश्य और उपलब्धियां (Objectives And Achievements of UNCTAD)

अनकटाड से विभिन्न सम्मेलनों में, निरन्तर तैयार किए गए निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति की अपेक्षा की जाती है : (1) प्राथमिक वस्तुओं में व्यापार, (2) निर्मित वस्तुओं में व्यापर, (3) विकास वित्त, (4) प्रौद्योगिकी स्थानांतरण, और (5) विकासशील देशों में आर्थिक सहयोग। हम अब विवेचना करते हैं कि अनकटाड इन उद्देश्यों की प्राप्ति में कहां तक सफल हुआ है।

1. प्राथमिक वस्तुओं में व्यापार (Trade in Primary Commodities)

अनकटाड प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं की व्यवस्था में सक्रिय रहा है। अल्पविकसित देश प्राथमिक वस्तुओं के पारम्परिक निर्यात के लिए बाजार को विस्तृत करना चाहते हैं। विकसित देश इन देशों के निर्यातों पर लाइसेन्स, कोटा, टैरिफ, स्वास्थ्य और पैकेजिंग, विनियमों इत्यादि के रूप में प्रतिबन्ध लगा देते हैं और घरेलू उत्पादकों को सब्सिडी प्रदान करते हैं। ऐसे व्यापार–प्रतिबन्ध गैर–तैयार वस्तुओं (कच्चे माल) की अपेक्षा तैयार के लिए अधिक होते हैं। इसके अलावा, अल्पविकसित देशों के निर्यातों में काफी उतार–चढ़ाव होते हैं। इसके परिणामस्वरूप, विकसित देशों से निर्मित वस्तुओं के निर्यात की तुलना में अल्पविकसित देशों की प्राथमिक वस्तुओं की व्यापार शर्तों की स्थिति निरन्तर बिगड़ी है।

अनकटाड–2 से ही अल्पविकसित देश अपनी प्राथमिक वस्तुओं की कीमतों और बाजार की स्थिरता के लिए अन्तर्राट्रीय वस्तु करारों पर बल देते रहे हैं। नैरोबी में अनकटाड–4 में 1976 में एक एकीकृत वस्तु कार्यक्रम तथा बफर स्टॉक वित्तप्रबंधन के लिए एक सांझा कोष बनाने का प्रस्ताव किया गया। अनकटाड–7 की वस्तुओं पर एक सहायक कमेटी थी और अनकटाड–8 ने व्यापार और विकास बोर्ड को सिफारिश करने के लिए वस्तुओं पर एक स्थायी कमेटी स्थापित की।

2.निर्मित वस्तुओं में व्यापार (Trade in Manufactured Goods)

अल्पविकसित देशों ने अपनी निर्मित और अर्द्धविकसित वस्तुओं पर विकसित देशों से टैरिफ प्राथमिकता देने का अनुरोध किया है। प्रथम अनकटाड में "77 देशों के समूह" ने विकसित देशों को अपील की ि कवे ऐसी वस्तओं को निर्यात के लिए विकासशील देशों को सामान्यकृत अधिमान व्यवस्था की अनुमति प्रदान करे। अनकटाड–2 (नई दिल्ली) में 1968 में सभी सदस्य परस्पर स्वीकार्य गैर–पारस्परिक और गैर–विभेदात्मक जी. एस. पी. की शीघ्र स्थापना के लिए सर्वसम्मति से सहमत हो गए। जी. एस. पी. के निर्धारित उद्देश्य ये थे : (क) अल्पविकसित देशों के निर्यात–अर्जनों को बढ़ाना, (ख) उनके औद्योगिकरण को उन्नत करना, तथा (ग) उनकी विकास दर को तीव्र करना।

3.विकास वित्त (Development Finance)

अनकटाड–3 के प्रारम्भ से ही अल्पविकसित देश अपने भुगतान सन्तुलन घाटों और ऋणग्रस्तता की बढ़ती हुई समस्याओं पर चिन्ता प्रकट करते रहे हैं। मई 1 972 में आयोजित तीसरी अनकटाड में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें विशेष आहरण अधिकारों (एस. डी. आर) को विकास वित्त से जोड़ने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को एक योजना तैयार करने के लिए कहा गया । यह आवश्यक था क्योंकि विशेष आहरण अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में भिन्न–भिन्न सदस्यों के कोटे से जुड़े हैं। चूंकि अल्पविकसित देशों का कोटा कम था, इसलिए उन्हें विशेष आहरण अधिकार का बहुत थोड़ा

हिस्सा मिला। एक अन्य प्रस्ताव से अनकटाड–3 ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से मुद्रा सुधारों के लिए एक समिति बनाने के लिए कहा जिसमें अल्पविकसित देशों के सदस्य भी विकसित देशों के बराबर होने चाहिए। अनकटाड–3 से यह अपील भी की गई कि वह ऋणग्रस्तता और विकास के सम्बन्धों की गहन जांच करें और उपयुक्त उपचारी उपायों की सिफारिश करे। इसके अलावा, अल्पविकसित देशों ने अनकटाड–3 में यह सुझाव भी दिया कि विकसित देशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विकास कूटनीति में सहमत विकास सहायता के एक प्रतिशत लक्ष्य में सहायता से भिन्न घटकों जैसे निजी निवेश, तथा विक्रेताओं और क्रेताओं के ऋणों को शामिल नहीं करना चाहिए, ओर साथ ही यह ब्याज–भुगतानों के विपरीत प्रवाहों वाल नहीं होना चाहिए। परन्तु अनकटाड–3 इन सभी मुद्दों पर कोई उपलब्धि प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ।

4.प्रौद्योगिकी हस्तांतरण (Technology Transfer)

नैरोबी में 1976 में अनकटाड–4 में हुई बैठक में ऐसे उपायों पर बल दिया गया जिनसे अल्पविकसित देशों की प्रौद्योगिकीय क्षमता सुदृढ़ हो। यह उल्लेख किया गया कि बेहतर अनुसंधान सुविधाएं, प्रशिक्षण कार्यक्रम तथा स्थानीय एवं क्षेत्रीय प्रौद्योगिकी केन्द्रों की स्थापना से इस उद्देश्य को पूरा करने में मदद मिलेगी। सम्मेलन ने प्रौद्योगिकी हस्तांतरण पर एक आचार–संहिता का प्रारूप बनाने के लिए विशेषज्ञ दल को भी स्थापना की। इसके अलावा सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय पेटेंट व्यवस्था में संशोधन करने की अपील की।

अनकटाड–7 ने अल्पविकसित देशों को प्रौद्योगिकी हस्तांतरण करने संबंधी एक प्रस्ताव पास किया जो अनकटाड–6 में अनुमोदित नीति पत्र के अनुसार था। अनकटाड–8 ने एक तदर्थ कार्यकारी ग्रुप स्थापित किया जो 'निवेश और प्रौद्योगिकी हस्तांतरण' के बीच परस्पर संबंधों से संबंधित था जिसे दो वर्षों के भीतर अपनी रिपोर्ट व्यापार और विकास बोर्ड को पेश करनी थी।

मई 1996 में अनकटाड–9 ने विकसित देशों को अनुरोध किया कि वे विकासशील देशों को उच्च प्रौद्योगिकी प्राप्त कराएं जो उनके विकास के लिए महत्वपूर्ण हैं।

5. अल्पविकसित देशों में आर्थिक सहयोग (Economic Cooperation among LDCs)

नई दिल्ली में 1968 में आयोजित अनकटाउ–2 में पहली बार अल्पविकसित देशों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और आत्मनिर्भरता को उन्नत करेने पर बल दिया गया।

अल्पविकसित देशों में आर्थिक सहयोग के लिए पहला कदम अक्टूबर 1982 में न्यूयार्क में "77 देशों के समूह" की मन्त्रीस्तरीय बैठक में लिया गया था जब इन्होंने टैरिफ अधिमानों की विश्व व्यवस्था (जी. एस. टी. पी.) को शुरू करने का निर्णय लिया। वर्ष 1984 में अनकटाड ने दो बैठकें आयोजित की जिसमें जी. एस. टी. पी. (Global System of Tariff Preferences) की बातचीत के लिए मूल नियम और तरीकों का प्रारूप बनाने के लिए गहन तकनीकी स्तरीय चर्चा की गई। जुलाई 1985 में नई दिल्ली में आयोजित दूसरे मन्त्रीस्तरीय सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि जी. एस. टी. पी. की विश्व की बातचीत के प्रथम दौर को मई 1987 में अनकटाड–7 की पूर्व सन्ध्या पर पूरा कर लिया जाए। टैरिफ और गैर–टैरिफ रियायतों का दिया जाना तथा अनकटाड के अंतर्गत अन्य उपायों जैसे दीर्घकालीन अनुबंधों के जरिए परस्पर व्यापार बढ़ाने के लिए जी. एस. टी. पी. विकासशील देशों के लिए एक बड़ी शुरुआत है। अंकटाड का 15वॉ मूलरुप से अक्टूबर 2021 का ब्रिजटाउन में सम्पन्न हुआ। आर्थिक विविधीकरण के माध्यम से अर्थव्यवस्था को बदलने के लिए एक रोडमैप तैयार करती है। अर्थव्यवस्था को टिकाऊ और लचीला बनाना विकास को वित्त पोषित करने के तरीके में सुधार, विकासशील देशों में ऋण बोझ को संशोधित करना इससे अवधारणा रही।

6.नये विषय (New Issues)

1980 के दशक के अन्तिम वर्षों में बहुत से विकासशील देशों ने अपनी आर्थिक नीतियों को मार्केट अनुस्थापित में परिवर्तित किया और संरचनात्मक समायोजनों की प्रक्रिया प्रारंभ हुई जिसमें उनकी

विनिमयदरों को ठीक करना तथा अपनी अर्थव्यवस्थाओं का बाह्य–अभिमुख उदारीकरण करना शामिल था। 1990 के दशक के प्रारंभ में पूर्वीय यूरोप और सोवियत रूस के देश विघटित हो गए और उन्होंने मार्केट अनुस्थापित सुधार अपनाए।

3.9 अनकटाड का मूल्यांकन
(An Appraisal of UNCTAD)

अनकटाड एक अन्तर्राष्ट्रीय मंच के रूप में 1964 में स्थापित किया गया था। इसका मुख्य उद्देश्य व्यापार संबंधित विकास मुद्दों का विवेचन ओर विश्लेषण करना है जिससे विकासित और अल्पविकसित देशों के बीच समझौते की बातचीत हो सके। क्योंकि अनकटाड एक सम्मेलन है इसलिए इसने बातचीत के लिए ग्रुप मार्ग अपनाया। अनकटाड–7 तक चार ग्रुप थे : विकसित देशों का ग्रुप–ए, विकासशील देशों का ग्रुप–77; चीन का ग्रुप–सी; तथा पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों का ग्रुप–डी। प्रायः हर चार वर्षों बाद ये ग्रुप एक विशाल सम्मेलन में एक दूसरे के विरुद्ध डटे रहते थे।

1970 के दशक में ब्रैटन वुड्स सिस्टम के ीांग होने, तेल संकट, स्फीतिकारी दबाव और अनेक अल्पविकसित देशों द्वारा ऋण के संचय होने से अनकटाड उत्तर और दक्षिण के बीच एक विशाल बाद–विवाद करने वाला मंच बन गया।

1980 के दशक के दौरान कुछ नये औद्योगीकृत विकासशील देशों में प्रभावशाली वृद्धि दरें हुईं, जबकि अन्य में निराशापूर्ण कम वृद्धि दरें हुईं। विकासशील देशों ने अपनी वस्तु कीमतों और व्यापार की शर्तों में गिरावटें अनुभव की। उनके ऋणों में अत्यधिक वृद्धियां हुई और अन्तर्राष्ट्रीय सहायता प्रवाह अपर्याप्त थे। दूसरी ओर, बहुत से विकसित देशों को मंदी की प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप, अनकटाड सम्मेलनों में गर्मा–गर्मी के सिवाय कुछ भी नहीं था। विकासशील देशों में निराशा थी क्योंकि सम्मेलनों में उनके द्वारा उठाए गए प्रत्येक मुद्दे पर विकसित देशों का लगभग कड़ा रवैया था। जैसाकि "दि इकनामिस्ट" लन्दन ने संकेत किया "अनकटाड एक राजनीतिक सर्कस" था। अतः प्रत्येक अनकटाड एक अघटना थी जो किसी भी समझौते पर आने में असफल रहा।

प्रत्येक सम्मेलन में लंबे वाद–विवादों और असहमतियों के बावजूद, अनकटाड ने जी. एस. पी.; समुद्री परिवहन नियमावली; अल्पविकसित देशों को सहायता देने के विशेष अन्तर्राष्ट्रीय प्रोग्रामों तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहायता लक्ष्यों के उद्‌भव में मुख्य भूमिका निभाई।

3.10 विश्व व्यापार संगठन
(World Trade Organisation – WTO)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने, व्यापार में परिमाणात्मक प्रतिबन्धों को हतोत्साहित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं के सुलझाने हेतु जिस GATT की स्थापना 30 अक्टूबर 1947 को की गई थी, उसका अस्तित्व 12 दिसम्बर 1995 को समाप्त हो गया। उसके स्थान पर अन्तराष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में एक अधिक शक्तिशाली संगठन 'विश्व व्यापार संगठन–WTO' की स्थापना की गई है।

गैट के आठवें चक्र की वार्ता (जिसे उरुग्वे चक्र के रूप में जाना जाता है) के डंकल प्रस्तावों को स्वीकार करते हुए अन्ततः 15 अप्रैल, 1994 को मोरक्को के मराकस नगर में गैट के 124 सदस्य देशों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिया जिसके परिणामस्वरूप 1 जनवरी, 1995 को विश्व व्यापार संगठन की स्थापना कर दी गई। 30 दिसम्बर, 1994 को इस समझौते पर हस्ताक्षर कर भारत विश्व व्यापार संगठन का संस्थापक सदस्य बन गया। गैट के सभी सदस्यों द्वारा एक जनवरी 1995 तक WTO की सदस्यता ग्रहण न कर पाने के कारण यह निर्णय लिया गया कि गैट का अस्तित्व अभी एक वर्ष और अर्थात 1995 तक बना रहेगा। अन्ततः लगभग 5 दशक तक विश्व व्यापार पर निगरानी रखने वाले इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का अस्तित्व 12 दिसम्बर, 1995 को समाप्त हो गया। विश्व व्यापार संगठन का मुख्यालय गैट की ही भांति जेनेवा में स्थित है। वर्तमान समय में इसकी सदस्य संख्या 164 है। विश्व व्यापार संगठन की स्थापना सदस्य देशों की संसदों द्वारा अनुमोदित एक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि के आधार पर की गयी है। अतः गैट की अस्थायी प्रकृति के विपरीत WTO एक स्थायी संगठन है।

3.11 विश्व व्यापार संगठन के प्रमुख सिद्धान्त (Principles of W.T.O.)

विश्व व्यापार संगठन के निर्देशक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

1. गैर भेदभाव व्यवहार–इसके दो अर्थ होते हैं। पहला सिद्धान्त 'अति कृपापात्र राष्ट्र' का दर्जा देना है। इसका अर्थ यह है कि अगर विश्व व्यापार संगठन का कोई देश किसी दूसरे देश को काई व्यापारिक रियायत देता है तो वह सभी सदस्य देशों को देनी होगी। दूसरा है 'राष्ट्रीय व्यवहार' जिसका अर्थ है कि आयातित वस्तुओं और घरेलू वस्तुओं के बीच कोई भेद–भाव नहीं किया जाना चाहिए और उन्हें एक जैसा दर्जा दिया जाना चाहिए।

2. क्रमशः मुक्त व्यापार प्रणाली–इसका अर्थ है कि समझौतों के जरिए अन्तराष्ट्रीय व्यापार में आने वाले अवरोधों जैसे सीमा शुल्क इत्यादि को लगातार कम करना।

3. अनुमान्य व्यापार प्रणाली–सदस्य देशों द्वारा सीमा शुल्क को अधिकतम सीमा शुल्क की दरों को लागू करना।

4. अधिक प्रतिस्पर्द्धातमक व्यापार प्रणाली–निर्यात पर सब्सिडी कम करना।

3.12 विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य (Objectives of W.T.O.)

1. व्यापार और वित्तीय प्रयासों के क्षेत्र में इसके संबंध इस प्रकार चलाए जाएंगे जिससे पूर्ण रोजगार सुनिश्चित होना और विस्तृत वास्तविक आय और प्रभावी मांग में लगातार वृद्धि द्वारा रहन–सहन के स्तर में सुधार हो तथा वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन और व्यापार का प्रसार हो।

2. विश्व के साधनों का इष्टतम उपयोग सततीय (sustainable) की दृष्टि से करना। इसका उद्देश्य (क) पर्यावरण की रक्षा और संरक्षण करना, और (ख) पर्यावरण रक्षा के साधनों का विस्तार आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों की आवश्यकताओं और समस्यायों के अनुरूप हो।

3. पारस्परिक और परस्पर लाभकारी व्यवस्थाएं जिनके द्वारा टैरिफ और व्यापार की रुकावटें तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधों में पक्षपातकारी व्यवहार को हटाकर इन उद्देश्यों की प्राप्ति करना।

4. गैट में सम्मिलित, भूतकालीन व्यापार उदारीकरण के परिणाम और उरुगुवे दौर की सभी बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओं के फलस्वरूप अधिक स्थायी और व्यवहार्य बहुपक्षीय संगठित व्यापार प्रणाली को विकसित करना।

5. व्यापारिक नीतियों, पर्यावरण संबंधी नीतियों और सततीय विकास से संबंध स्थापित करना।

3.13 कार्य (Functions)

WTO के निम्न कार्य हैं–

1. यह समझौते और बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के कार्यान्वयन, प्रबंधन और संचालन को सरल बनाता है।

2. यह नागरिक विमानन, सरकारी खरीदारी, दुग्धोत्पाद व्यापार और गोमांस संबंधी बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के कार्यान्वयन, प्रशासन और परिचालन के लिए उचित ढांचे का प्रबंध करता है।

3. यह समझौते के झगड़ा–निपटान के नियमों तथा प्रक्रियाओं की व्याख्या का प्रबंध संचालन करता है।

4. यह सदस्यों के लिए मंत्रीस्तरीय कान्फ्रेंस द्वारा स्वीकृति समझौते संबंधी, बहुपक्षीय व्यापार संबंधी–विषयक वार्ताओं तथा इनके द्वारा किए गए निर्णयों के कार्यान्वयन के लिए एकमंच प्रस्तुत करता है।

5. यह IMF, विश्व बैंक तथा इसकी सहयोगी शाखाओं के मध्य विश्व व्यापार के लिए नीति निर्धारण में अधिकतर संगति उत्पन्न करता है।

3.14 सारांश

इस इकाई अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अंतर्राष्टीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए नियामक संस्था की अति आवश्यकता है। ताकि अर्द्ध–विकसित देशों की विदेशी व्यापार संबंधी समस्याओं को देखते हुए, तेजी से एक नयी अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्कता महसूस की जा रही है जिसमें समृद्ध राष्ट्र विकासशील देशों को ऋणों में छूट देगें, अधिक आयात करेंगे तथा निर्यातों की कीमतों में कमी करेंगे एवं कच्चे माल का उचित दाम देंगे तथा आवश्यक वस्तुओं के भण्डारण की ऐसी व्यवस्था करेंगे कि उनकी कीमतों में अनावश्यक उतार–चढ़ाव नहीं होगा। इसलिए गैट की अस्थायी प्रकृति के विपरीत विश्व व्यापार संगठन एक स्थाई संगठन है तथा इसकी स्थापना सदस्य राष्ट्रों की संसदों द्वारा अनुमोदित एक अंतर्राष्ट्रीय संधि के आधार पर हुई है। आर्थिक जगत में इसकी स्थिति अब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के तुल्य ही है किन्तु मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक की भांति यह संयुक्त राष्ट्र संघ की एजेंसी नहीं है। किन्तु अनकटाड अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करने वाली संयुक्त राष्ट्र संघ की एजेंसी है।

3.15 बोध प्रश्न

प्रश्न– 1 गैट अपने उद्देश्यों को कहां तक उपलब्ध करने में सफल हुआ है? आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

प्रश्न– 2 गैट के उरुग्वे दौर की उपलब्धियों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न– 3 अनकटाड के उद्देश्यों और कार्यों का वर्णन कीजए।

प्रश्न– 4 विश्व व्यापार संगठन क्या है? इसके उद्देश्यों और कार्यों का वर्णन करें।

3.16 शब्दावली

प्रशुल्क रियायतें	:	Tarrif Concessions
सुरक्षा संहिता	:	Safeguard Code
झगड़ा निपटारा	:	Settlement of Dispute
बाजार पहुंच	:	Market Access
विनिर्मित वस्तुएं	:	Manufactured Goods
विकास वित्त	:	Development Finance

3.17 संदर्भ सूची

G. N. Halm : Monetary Theory, Chap. 15

G. N. Halm : International Monetary Cooperation, Chap. 13

S. Harris : New Economics

Brian Twe : International Monetary Cooperation (1945 – 1952) Part II

W. S. Woytinsky and E. S. Woytinsky : World Commerce and Government, 1955

इकाई 4
व्यापार संबंधी बौद्धिक परिसंपदा अधिकार तथा व्यापार एवं सेवा संबंधी करार

रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 डब्ल्यू. टी. ओ. के समझौते
4.3 सारांश
4.4 बोध प्रश्न
4.5 शब्दावली
4.6 सन्दर्भ सूची

4.0 उद्देश्य

W.T.O. गैट का ही उत्तराधिकारी है जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को नियतमित करने वाली एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है जिसने विश्व व्यापार के लिए एक ऐसा मंच तैयार किया ताकि इसका लाभ दुनिया के सभी सदस्य देशों को मिल सके। ऐसे में इस इकाई के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य W.T.O. के अंतर्गत वस्तुओं के लिए व्यापार के बहुपक्षीय समझौतों और सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता और अन्य समझौतों के बारे में जानकारी प्राप्त करना है।

4.1 प्रस्तावना

W.T.O. की संरचना अथवा संगठन एक मंत्री सम्मेलन द्वारा संचालित होता है। जिसमें सब सदस्यों के प्रतिनिधि होते हैं जो कम से कम दो वर्ष में एक बार मिलते हैं। यह W.T.O. की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली को चलाता है और उसके लिए आवश्यक कदम उठाता है। यह किसी भी बहुपक्षीय समझौते के अंतर्गत सभी मामलों पर निर्णय लेता है। मंत्री सम्मेलन W.T.O. की शीर्षस्थ अधिकारिणी समिति है। सब सदस्यों के प्रतिनिधियों वाली सामान्य काउंसलिंग की कार्यप्रणाली पर और मंत्रीय निर्णयों पर नियमित रूप से दृष्टि रखती है। यह झगड़ा निपटान संस्था और व्यापार नीति पुनर्वालोकन संस्था के रूप में भी कार्य करती है। जिनके अलग–अलग अपने अध्यक्ष हैं। सामान्य काउन्सिल जेनेवा में औसतन प्रति माह मिलती है। सामान्य काउन्सिल के अधीन ये संस्थाएं भी है–वस्तुओं के व्यापार की काउन्सिल (Council for Trade in Goods), सेवाओं के व्यापार की काउन्सिल (Council for Trade in Services), बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों के व्यापार संबंधी विषयों की काउन्सिल (Council for Trade Related Aspects of Intellectual Property Rights – TRIPS)। इन काउन्सिलों की अपनी सहायक संस्थाएं हैं। ये काउन्सिल और उनकी सहायक संस्थाएं अपने–अपने कार्य के लिए आवश्यकतानुसार अपनी बैंठकें करती हैं। फिर व्यापार और विकास समिति, भुगतान–शेष रुकावटों की समिति, तथा बजट, वित्त और प्रशासन समिति भी हैं जो WTO समझौते द्वारा प्रदत्त कार्य, बहु–पक्षीय व्यापार समझौता, तथा सामान्य काउन्सिल के बताए हुए कार्य करती हैं।

4.2 विश्व व्यापार संगठन के समझौते (Agreements of W.T.O.)

विश्व व्यापार संगठन के अन्तर्गत हस्ताक्षरित तीन मुख्य समझौते निम्न प्रकार हैं–

1. तट करों और व्यापार पर आम समझौता जिसमें सभी औद्योगिक, उपभोक्ता वस्तुएं शामिल हैं।

2. सेवाओं के आधार पर समझौता–इसका प्रभाव बैंकिंग, बीमा, सलाह, आदि के व्यापार पर है।

3. बौद्धिक सम्पदा अधिकार के व्यापार से जुड़े पहलुओं पर समझौता–इसका प्रभाव पेटेंट कापीराइट, ट्रेड मार्क इत्यादि पर है।

इन समझौतों के अन्तर्गत कई अन्य सहायक समझौते हैं, उन्हें नीचे दिया जा रहा है।

(क) बाजार प्रवेश प्रतिबद्धताएं

बाजार–प्रवेश प्रतिबद्धताएं उरुग्वे दौर की वार्ताओं की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इन प्रतिबद्धताओं के दो घटक हैं– पहला है तटकरों की बद्धता और दूसरा बद्ध–तटकरों में सिलसिले वार कमी।

जहां तक तटकरों की बद्धता का प्रश्न है, भारत में 67 प्रतिशत तटकर सूचियों को बद्ध किया गया है। 'बद्ध तटकरों में कमी' से सम्बन्धित प्रतिबद्धताओं के चलते 1 जनवरी, 1955 से प्रारम्भ आयात कर दरों को वार्षिक समान किस्तों में पूरा किया जाना है। वस्त्र–सम्बन्धी आयात में कमी की समय सीमा 10 वर्ष है।

(ख) वस्त्र और परिधान समझौता

कपड़े और पोशाकों का विश्व व्यापार पिछले तीन दशकों से द्विपीक्षीय कोटा प्रबन्ध के एक जटिल मकड़ जाल में उलझा हुआ है जिसे 'मल्टी फाइबर एग्रीमेन्ट– कहते हैं। समझौते में इन प्रतिबन्धों को 1995 से अगले दस वर्षों में खत्म करने की व्यवस्था है। भारत के लिए इस समझौते का बहुत महत्व है जिसका इस क्षेत्र से निर्यात 5 अरब अमेरिकी डाल से अधिक का है। 'गेट' के सन्दर्भ में इस क्षेत्र के 'स्वीट' विश्लेषण से निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं–

ताकत–सूती, जूट, रेशमी और हस्तनिर्मित धागों के सबसे बड़े उत्पादकों में एक, उत्पादन की पूरी श्रृंखला की उपलब्धता। उदाहरण के लिए सूती कपड़ों के क्षेत्र में कपास उगाने से लेकर ओटने, धुनाई, बुनाई पोशाक बनाना, तैयार करने की क्षमता, साथ ही कपड़ा मशीनरी क्षेत्र और एन.आई.एफ जैसे सहायक संस्थान भी उपलब्ध, सस्ते कुशल श्रमिक की उपलब्धता।

कमजोरियां–कपास उगाने से लेकर ओटने और बुनाई तक सभी स्तरों पर कम उत्पादकता (अधिकतर उपक्षेत्रों में क्षमता का 50% ही उपयोग), दोनों प्रकार की ढांचागत सुविधाओं का अभाव, बाहरी (बुनियादी ढांचे मसलन पत्तन, सड़कें, ऊर्जा, आदि) और भीतरी (90 प्रतिशत इकाइयां बहुत छोटे या 'गौण' क्षेत्रों में है) सभी उपक्षेत्रों में उत्पादक अर्थतन्त्र का अभाव, मूल्य से सम्वर्द्धित कर की कमी, उपक्षेत्रों के मुक्त प्रवाह पर बहुत ज्यादा नियमन और नियन्त्रण, प्रतिबन्धात्मक आयात व्यवस्था और व्यापार नीति माहौल, तकनीक का पुराना पड़ जाना, दीर्घकालिक रणनीति का अभाव।

अवसर–प्रतिबन्धात्मक व्यापार नीतियों 'एमएफए' समझौते और अन्य प्रतिबन्ध को खत्म किए जाने के साथ ही बाजार की अत्यधिक विस्तार होने की सम्भावना हैं विकसित देशों के अलावा विकासशील देशों में भी नए बाजारों के द्वार खुलेंगे। 'गैट' के बाद कपड़े और पोशाकों के व्यापार में हर साल 24 लाख अमेरिकी डॉलर (लगभग एक लाख आठ हलार करोड़ रुपए) की वृद्धि होने की सम्भावना है।

चुनौतियां–गैट के तहत हस्ताक्षरित 'एटीसी' समझौते का असली लाभ विलम्ब से ही मिल पाएगा। कोटा जरूर खत्म किया जा रहा है, मगर तटकर अवरोध तेजी से 'कोटा' का स्थान ले रहे हैं (डंपिंग, उपभोक्ता सुरक्षा, पर्यावरण–लेवलिंग, आदि के नाम पर) कोटा प्रणाली खत्म होने का यह भी मतलब है कि देश सिर्फ उन्हीं क्षेत्रों में निर्यात कर सकेंगे जिनमें तुलनात्मक रूप से वे लाभ की स्थिति में हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्द्धा कई गुना बढ़ेगी।

निष्कर्ष–भारत को सिर्फ कहने भर से लाभ नहीं मिल जाएगा, बल्कि कपड़ा और पोशाक के निर्यात में अपनी जगह बनाए रखने के लिए भी दुगने प्रयास करने होंगे। सुधरी हुई व्यवस्था का लाभ तभी मिलेगा जब यह क्षेत्र चुनौतियों का सामना करने के लिए स्वयं को तैयार कर ले।

(ग) कृषि पर समझौता

कृषि पर हुए समझौते ने कुछ कटु सत्य उद्घाटित किए हैं। पहला, विकसित एवं विकासशील दोनों प्रकार के देशों में कृषि उद्योग को पारदर्शी बनाने की इच्छा शक्ति की कमी। दूसरा, विश्व व्यापार संगठन का प्रयोग उदारीकरण के लिए ही नहीं है, किन्तु किसी क्षेत्र में उदारीकरण की प्रक्रिया को रोकने के लिए भी किया जा सकता है–जैसा कि इस मामले में हुआ।

कृषि पर हुए समझौते के तीन घटक हैं– (1) कृषि उत्पादों के निर्यात हेतु दी जाने वाली सब्सिडी में कमी, (2) आयात व्यवस्था का उदारीकरण, और (3) घरेलू उत्पादकों को दी जाने वाली सब्सिडी में कमी। आयात तो खुला पर जैसे विभिन्न देशों में आयात दरें एक–दूसरे से अधिक करने की होड़ लग गई। यूरोपीय समुदाय ने सन् 1989-93 की तुलना में यह दर दो–तिहाई से भी अधिक बढ़ाई तो सं. रा. अमरीका ने तीन–चौथाई। विकासशील देश भी पीछे नहीं रहे। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में आयात–व्यवस्था के उदारीकरण का कृषि उत्पाद मूल्य पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा।

बाजार प्रवेश के नियमों ने औपचारिक रूप से पक्षपात के नए अवसर पैदा कर दिए। इनसे सरकारी खरीद एजेंसियों के अस्तित्व को मान्यता मिल गई। चूंकि एजेंसियों को प्रायः एकाधिकार प्राप्त होता है, इसलिए वे पक्षपात कर उत्पादों के क्रय–विक्रय मूल्यों को प्रभावित कर सकती हैं।

सकल मापन समर्थन गणनाओं में कई प्रकार की सरकारी सहायताओं और सब्सिडी को शामिल ही नहीं किया गया। ध्यान रहे कि ये सहायताएं जिन्हें 'ब्लू–बॉक्स' सूची में रखा गया है, अधिकतर विकसित देशों में ही प्रचलित हैं।

कम आमद वाले विकासशील देशों में जिनमें भारत भी शामिल हे, कृषि के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैया रहता है और उत्पादकों की तुलना में उन पर न केवल वास्तविक कर–देयता अधिक होती है बल्कि सारी व्यवस्था कम उत्पादन को प्रोत्साहित करती है। भारत को ही ले लें तो उसके माल की आवाजाही पर ही भण्डारण–सीमा, एकाधिकार वाली सरकारी खरीद एजेंसियां, ढांचागत मुश्किलें और उस पर निरोधक नीति तत्व, आदि अनेकानेक प्रतिबन्ध हैं।

किसानों के प्रति पक्षपात से भरी इस व्यवस्था में बहुत अधिक सुधार की आवश्यकता है। ये सुधार राष्ट्रीय स्तरों पर भी किए जा सकते हैं, लेकिन बहुउद्देश्यीय वार्ताओं और इनमें लगने वाले समय ने विभिन्न देशों को इन सुधारों को टालने का एक बहाना दे दिया है। विश्व व्यापार संगठन का प्रयोग कम से कम कृषि के मुद्दे पर उदारीकरण को टालने के लिए किया गया।

(घ) सब्सिडी और समतुल्य उपायों पर समझौता

एससीएम समझौते के तहत 'गैट' सरकारों को ऐसी सब्सिडी देने से रोकता है, जो व्यापार पर महत्वपूर्ण असर डाल सकते हैं। इसके नियम जटिल हैं। सब्सिडी आखिर क्या हैं? समझौते में सब्सिडी की व्याख्या की गई है– जो सरकार द्वारा किसी उद्योग को धन के सीधे हस्तान्तरण (अनुदान, ऋण, आदि) के रूप में दी गई हो, या उस राजस्व से छूट जिसे वसूला जाना चाहिए था, या वस्तुओं की खरीद, सेवा या सामग्री प्रदान कर कोई लाभ दिया गया हो। कोई कदम सब्सिडी है या नहीं, यह तय करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उससे लाभ पहुँचा है या नहीं।

निषिद्ध सब्सिडी या 'रेड लाइट सब्सिडी'–निर्यात के लिए ऐसी सब्सिडी देना निषिद्ध है जिससे निर्यात में मदद मिलती हो। उदाहरण के लिए निर्यात से हुई आय पर आयकर छूट, विदेशी मुद्रा धारण योजनाएं, सरकार से कम दर पर निर्यात ऋण, उत्पाद पर लगने वाले अप्रत्यक्ष कर से अतिरिक्त अप्रत्यक्ष कर–राहत, आदि।

अनुमति योग्य या 'एम्बर सब्सिडी'–इस प्रकार की सब्सिडी तब तक दी जाने की अनुमति है तब तक इससे किसी अन्य सदस्य राष्ट्र के हितों को नुकसान न पहुँचे। उदाहरण के लिए किसी खास उद्यम समूह, औद्योगिक क्षेत्र या भौगोलिक अवस्थिति के लिए सब्सिडी देना अनुमति योग्य है।

अनुमति योग्य (कार्यवाही न किए जाने योग्य) या ग्रीन सब्सिडी–ऐसी सब्सिडी जो विशिष्ट न हो और आर्थिक कारणों से दी जाती हो तथा सभी पर लागू होती हो और किसी एक उद्यम की कीमत पर दूसरे को लाभ न पहुँचती हो। इसके खिलाफ कार्यवाही नहीं की जा सकती। कार्यवाही न किए जाने योग्य सब्सिडी पर आयातक देश समतुल्य कर, आदि नहीं लगा सकते। उदाहरण के लिए, सरकार द्वारा

लघु और मध्यम आकार के उद्योगों (एस एम ई) को, उन्हें उनके कर्मचारियों की संख्या या आकार से पहचान कर दी गई सब्सिडी के खिलाफ कार्यवाही नहीं की जा सकती।

स्पष्ट है कि गैर–कार्यवाही किए जाने योग्य सब्सिडी समेत किसी भी प्रकार की सब्सिडी विवाद से परे नहीं है। अगर या साबित हो जाए कि किसी भी सब्सिडी से आयातक देश के उद्योगों को भौतिक अथवा अपूरणीय क्षति हुई है तो इसके खिलाफ विश्व व्यापार संगठन के विवाद सामान्य निकाय या एस सी एम समिति में जाया जा सकता है (जैसा भी हो) अगर फैसला वादी के पक्ष में गया तो वादी देश समतुल्य उपाय कर सकता है। भारत के मुख्य व्यापारिक साझीदार देशों के विरोध चलतें ही भारत द्वारा निर्यातकों को आय कर पर दी जाने वाली छूट क्रमशः 2005 तक समाप्त की जा रही है।

(ङ) सेफगार्ड एवं डंपिंगरोधी उपायों पर समझौते

सेफगार्ड पर हुआ समझौता आयातक देशों को थोड़े समय के लिए आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अधिकृत करता है बशर्ते कि सक्षम प्रतिकार द्वारा की गई जांच से यह सत्य स्थापित हो जाता हो कि आयात की मात्रा में वृद्धि (या तो स्वतः या घरेलू उद्योगों के अनुपात में) से उसी तरह के या सीधे प्रतिस्पर्द्धात्मक उत्पाद बनाने वाले घरेलू उद्योगों को गम्भीर क्षति पहुँच रही है। वह उन उपायों का प्रविधान भी करता है जिन्हें आयातक देश लगा सकते हैं, मसलनबद्ध दर से अधिक तटकर या मात्रात्मक प्रतिबन्ध लगाना, आदि। ये आमतौर पर अति कृपापात्र राष्ट्र (एमएफएन) आधार पर लगाए जाने चाहिए, यानी सभी स्रोतों (देशों) पर समान रूप से लगाए जाने चाहिए। अगर विकासशील देश के उद्योग चाहते हैं कि नए उद्योगों के विकास और मौजूदा उद्योगों के अधिक विकास के लिए उन्हें संरक्षण की आवश्यकता है तो उन्हें अपनी सरकारों से 'विकास के उद्देश्य सेफगार्ड कार्यवाही' के प्रावधान लागू करने के लिए कहना होगा। डंपिंग–रोधी उपायों पर समझौता (ए डी पी) नियमों में ऐसे दो प्रकार के अनुचित व्यापार व्यवहार का वर्णन है जो स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा के मार्ग में अड़चन पैदा करते हैं। पहला– अगर माल को सब्सिडी से लाभ पहुँचता है। दूसरा– अगर निर्यातित वस्तुएं बाजार में 'डम्प' की जा रही हों। डंपिंग –रोधी व्यवहार पर समझौता (ए डी पी) देशों के अनुचित व्यापार व्यवहार से लाभान्वित हो रहे आयात उत्पादों पर क्षतिपूरक शुल्क लगाने को अधिकृत करता है। दोनों ही समझौतों में क्षति तय करने की शर्तें और प्रक्रियाएं एक जैसी हैं।

डंपिंग क्या है?–अगर कोई कम्पनी अपने उत्पाद को, घरेलू बाजार में उस उत्पाद के बिक्री मूल्य से कम कीमत पर निर्यात करती है या उत्पादन लागत से कम कीमत पर बेचती है तो कहा जाता है कि वह आयातक देश में अमुक्त उत्पाद की डंपिंग कर रही है। भारत में डंपिंग के बहुत से मामले सामने आए हैं जिनसे घरेलू उद्योगों को भारी नुकसान हुआ है। अब तक भारत में ऐसे 50 से अधिक मामलों की जांच की जा चुकी है और चीन, सं. रा. अमरीका, रूस, थाईलैंड, कोरिया, जापान ब्राजील, मैक्सिको, इण्डोनेशिया, इटली, आदि देशों से आने वाले रसायनों से लेकर ग्रेफाइट इलेक्ट्रोड तक पर अन्तिम डंपिंग–रोधी शुल्क लगाया जा चुका है। इसके अतिरिक्त करीब एक दर्जन मामलों की जांच चल रही है। अब तक भारत में ऐसे ही मामलों की जांच की गई है या की जा रही है जिनमें बड़े उद्योग शामिल हैं, विश्व व्यापार संगठन द्वारा मिले अधिकारों के प्रति अज्ञानता ने छोटे उद्योगों को ऐसे मामले शुरू करवा पाने से वंचित कर रखा है।

कुछ महत्वपूर्ण बातें–

1. विश्व व्यापार संगठन समझौते सरकारों को ऐसे मामलों में डंपिंग के खिलाफ कार्यवाही करने की अनुमति देते हैं, जिनमें प्रतिस्पर्द्धी घरेलू उद्योगों को वास्तविक (भौतिक) क्षति हुई है।
2. वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय में डंपिंग रोधी अन्वेषण के लिए विशेष विभाग बनाया गया है। यह विभाग मामलों की जांच करने के बाद डंपिंग–रोधी संस्तुति कर इसे वित्त विभाग मन्त्रालय के पास भेज देता है।
3. इस बात के दिशा–निर्देश है कि डंपिंग–रोधी जांच के लिए आवेदन कैसे और किसकों दिया जाए। सरकार द्वारा यह मामला हाथ में लेने से पहले बहुत सी शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं, जैसे कि प्रायः सम्बद्ध आयात घरेलू उत्पाद का कम से कम 25 प्रतिशत होना चाहिए, इत्यादि।

4. आवेदन पत्र में घरेलू उत्पादन की मात्रा, कथित डम्प किए गए उत्पाद के उद्गम, निर्यातक, घरेलू बाजार में निर्यात उत्पाद का बिक्री मूल्य, अन्य देशों में निर्यात मूल्य, क्षति, आदि के बारे में विस्तृत सूचनाएं होनी चाहिए। इस काम में विशेषज्ञता और अनुभव आवश्यक होता जा रहा है।

5. उल्लेखनीय है कि आरोपी निर्यातक को भी दावे के प्रतिवाद में साक्ष्य उपलब्ध कराकर अपने हितों की रक्षा करने का अधिकार है। आरोप प्रमाणित करने की जिम्मेदारी कमोवेश उस प्रमाणित उद्योग की है जो डंपिंग–रोधी प्रक्रिया शुरू करने का आग्रह कर रहा है। साक्ष्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने से पहले इसकी गहराई में जांच–पड़ताल की जानी चाहिए।

सिर्फ डम्प किए गए या सब्सिडी प्राप्त निर्यात के आधार पर डंपिंग शुल्क तब तक नहीं लगाया जा सकता जब तक कि घरेलू उद्योगों की क्षति प्रमाणित न हो जाए और आयातित वस्तु को अनुचित व्यापार व्यवहार से लाभ न पहुँच रहा हो।

(च) सेवाओं के व्यापार पर आम समझौता

सेवा क्या है?– ऐसी कोई भी चीज जिसे आपके पैरों पर गिराया न जा सके, फिर भी बाजार में बेची जा सके, सेवा है।" 'द इकोनोमिस्ट' द्वारा दी गई यह सामान्य परिभाषा सेवा और वस्तुओं के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। सेवाएँ अमूर्त और अदृश्य हैं, वस्तुएं मूर्त और दृश्य हैं। सेवाओं का वस्तुओं का तरह भण्डारण नहीं किया जा सकता। जहां वस्तुओं का सरंक्षण तटकर के द्वारा दिया जाता है, वहीं यह संरक्षण सेवाओं को घरेलू नियम/कानूनों द्वारा प्रदत्त कराया जाता है।

सेवा एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें दुनियां में भारत की महाशक्ति बनने की प्रबल संभावना है। मानव संसाधनों और सहायक शोध संस्थानों और विश्वविद्यालयों की उपलब्धता के कारण अपनी तुलनात्मक श्रेष्ठता की वजह से भारत में इस क्षेत्र में अपार सम्भावनाएं हैं। 'कस्टमाईज्ड' साफ्टवेयर निर्यात में विश्व बाजार के तकरीबन 20 फीसदी पर कब्जा करके उसने अपनी सफलता की अमिट कहानी लिख भी दी है।

हाल ही में संशोधित आयात–निर्यात नीति ने पहली बार सेवा क्षेत्र को समूचित मान्यता देकर इसमें एक नया अध्याय जोड़ दिया है। भारत में अधिक विकास दर वाले कुछ क्षेत्र निम्न प्रकार हैं–

लेखा–जोखा और सेवाएं, वस्तुपरक सेवाएं, कम्प्यूटर सेवाएं, डाटा प्रोसेसिंग और साफ्टवेयर, इन्जीनियरिंग, सर्वेक्षण और तकनीकी परामर्श, उपकरणों का रख–रखाव और मरम्मत, लाभप्रदता/सम्भावना अध्ययन, स्वास्थ्य सेवाएं, विधिक सेवाएं, तेल और गैस सेवाएं, प्रकाशन और मुद्रण, शैक्षिक सेवाएं, विज्ञापन और 'प्रमोशन', दलाली सेवाएं, डिजाइन सेवाएं, पर्यावरण सेवाएं, फिल्म उत्पादन, सुविधा प्रावधान, बीमा सेवाएं, बाजार अनुसन्धान सलाह, शान्ति स्थापना सेवाएं, शोध और विकास परियोजनाएं।

उपर्युक्त क्षेत्रों में से अधिकांश में भारत से सेवाओं का निर्यात प्रारम्भ हो चुका है। बाजार प्रवेश के लिए भारत की वचनबद्धता इन क्षेत्रों में है–इन्जीनियरिंग, कम्प्यूटर आधारित शोध और विकास, तकनीकी उपचार और विश्लेषण, मूल्यवर्द्धित दूरसंचार, सड़कों और पुलों का निर्माण, अस्पताल से जुड़े उपकरण, होटल और अन्य आवास, सिनेमा और वीडियो वितरण, ट्रेवल एजेन्सी और दूर आपरेटर और घरेलू हवाई माल परिवहन।

(ब) बौद्धिक सम्पदा पर आधारित नए कानून

बौद्धिक सम्पदा की वस्तुओं का सृजन मानव मन और मानव बुद्धि से होता है। इसलिए इन्हें बौद्धिक सम्पदा कहा जाता है। व्यापार से जुड़े बौद्धिक सम्पदा अधिकार पर समझौता (ट्रिप्स) बौद्धिक सम्पदा अधिकार पर मौजूदा अन्तर्राष्ट्रीय कन्वेंशनों पर आधारित है। इसके प्रावधान सात प्रकार की बौद्धिक सम्पदा पर लागू होते हैं–पेटेंट, कापीराइट और संबद्ध अधिकार, ट्रेडमार्क, औद्योगिक डिजाइन, समेकित सर्किट के ले आउट डिजाइन, भौतिक सूचक और अज्ञात सूचनाएं।

समझौता पांच पहलुओं को छूता है–

1. व्यापार प्रणाली और अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सम्पदा अधिकार के बुनियादी सिद्धान्तों को कैसे लागू किया जाए?
2. बौद्धिक सम्पदा अधिकारों का पर्याप्त संरक्षण कैसे हो?
3. विभिन्न देश इन अधिकारों का प्रवर्तन लागू कैसे करें?

4. विवादों का निपटारा किस प्रकार हो?
5. नई व्यवस्था लागू होने के दौरान विशेष संक्रमणकालीन व्यवस्थाएं क्या हों?
6. भारतीयों द्वारा बौद्धिक सम्पदा सृजन की अपार सम्भावनाएं हैं। भारत में बौद्धिक सम्पदा अधिकार पर कठोर, सभी की पहुंच वाली और कम लागत वाली व्यवस्था, बौद्धिक पहल द्वारा सम्पदा के सृजन का मार्ग प्रशस्त करेगीं नए पेटेंट कानून का औषधि उद्योग पर महत्वपूर्ण प्रभाव होगा।

भारतीय पेटेंट कानून तीन क्षेत्रों–औषधि, कृषि रसायन, भोज्य पदार्थ में उत्पाद के पेटेंट की अनुमति नहीं देता था, केवल प्रक्रिया पेटेंट की अनुमति थी (ताकि पेटेंट किए हुए उत्पाद को आम आदमी की पहुंच में रखा जा सके)। इसका अर्थ है कि किसी भी पेटेंट किए हुए उत्पादन की प्रक्रिया में मामूली हेरफेर के साथ उत्पादन किया जा सकता था। साथ ही औषधि मूल्य नियन्त्रण आदेश (डीपी सी ओ) के कारण अतिरिक्त क्षमताओं का उपयोग वल्क ड्रग के निर्यात के लिए किया गया, क्योंकि धरेलू बाजार मूल्य आकर्षक नहीं थे (औषधियों का निर्यात मुख्यतः रूस, अफ्रीका के उन देशों में किया गया, जहां पेटेंट कानून कठोर नहीं थे)। अब उत्पाद पेटेंट को शामिल कर लिया गया है। इससे क्या होगा? भारतीय औषधि उद्योग में शीघ्र ही आमूल–चूल परिवर्तन (छोटे उद्योगों की अपेक्षा बड़ी इकाइयों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के पक्ष में) 1.1.95 के पहले पेटेंट किए गए उत्पादों का उत्पादन अलग प्रक्रिया से सम्भव होगा मगर इस समझौते के बाद जिन उत्पादों का पेटेंट किया गया है, उनका बिना लाइसेंस के उत्पादन नहीं किया जा सकेगा।

4.3 सारांश

उरुगुवे दौर अनुबंधित देशों द्वारा 8 लम्बे वर्षों की वार्ताओं का परिणाम था। इन वार्ताओं के फलस्वरूप अंतिम एक्ट के वैधानिक प्रलेखों में 28 समझौतों का समावेश है। पहले दौरों की अपेक्षा उरुगुवे दौर का क्षेत्र और विस्तार अधिक बड़ा था। इसमें सेवाएं, कृषि और बौद्धिक अधिकार और निवेशों को प्रथम बार शामिल किया गया। इसमें WTO द्वारा व्यापार नीतियों, पर्यावरण नीतियों और सततीय विकास में संबंध पर भी बल दिया गया। उरुगुवे दौर की एक चमत्कारिक उपलब्धि थी–गैट के विचार–विमर्श–मंच के स्थान पर WTO का एक स्थायी विश्व–व्यापार संगठन के रूप में स्थापना। उरुगुवे दौर में केवल इस दौर द्वारा संशोधित मूल गैट ही नहीं था, वरन् उपरि–वर्णित कई नए समझौते भी थे। यह समझौते संभवतः विकासशील देशों तथा अल्प–विकसित देशों को दीर्घकालीन लाभ देंगे, बशर्ते कि उन्हें समझौतों में कई कमियां हैं जो इन विकासशील देशों को हानिकारक हो सकती हैं।

4.4 बोध प्रश्न

प्रश्न– 1 विश्व व्यापार संगठन पर एक लेख लिखिए।
प्रश्न– 2 विश्व व्यापार संगठन के प्रमुख समझौते क्या हैं?
प्रश्न– 3 उरुगुवे दौर के अन्तर्गत व्यापार संबंधी बौद्धिक संपत्ति अधिकारों के समझौते (TRIPs) की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें।

4.5 शब्दावली

सामान्य परिषद्	:	General Council
संपोषित	:	Sustainable
अतिरेक	:	Surplus
घरेलू अनुदान	:	Domestic Subsidy
सुरक्षा तंत्र	:	Safeguard Mechanism
राशिपातन	:	Dumping
ट्रेडमार्क	:	Trademark

4.6 संदर्भ सूची

G. N. Halm	:	Monetary Theory, Chap. 15
G. N. Halm	:	International Monetary Cooperation, Chap. 13
S. Harris	:	New Economics
Brian Twe	:	International Monetary Cooperation (1945 – 1952) Part II
W. S. Woytinsky and E. S. Woytinsky	:	World Commerce and Government, 1955